प्रकाशक :
श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

प्रकाशन सौजन्य :
श्री उत्तमचन्दजी कटारिया, बैंगलोर

संस्करण :
सप्तम : सन् २००६

मूल्य : पचास रुपये मात्र

. . . :
. . . प्रिन्टर्स
सागर रोड़, बीकानेर
: २५२६८६०

प्रकाशकीय

साधुमार्गी जैन परम्परा में महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुक्मीचंदजी म.सा. की पाट–परम्परा में षष्ठ युगप्रधान आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. विश्व–विभूतियों में एक उच्चकोटि की विभूति थे, अपने युग के क्रांतदर्शी, सत्यनिष्ठ, तपोपूत संत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओत–प्रोत साधुत्व, प्रतिभा–सम्पन्न वक्तृत्वशक्ति एवं भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्व–पर–कल्याणकर था।

आचार्यश्री का चिन्तन सार्वजनिक, सार्वभौम और मानव मात्र के लिए उपादेय था। उन्होंने जो कुछ कहा वह तत्काल के लिए नहीं, अपितु सर्वकाल के लिए प्रेरणापुंज बन गया। उन्होंने व्यक्ति, समाज, ग्राम, नगर एवं राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के लिए अनेक ऐसे तत्त्वों को उजागर किया जो प्रत्येक मानव के लिए आकाशदीप की भाँति दिशाबोधक बन गये।

आचार्यश्री के अन्तरंग में मानवता का सागर लहरा रहा था। उन्होंने मानवोचित जीवनयापन का सम्यक् धरातल प्रस्तुत कर कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करने का सम्यक् प्रयास अपने प्रेरणादायी उद्‌बोधनों के माध्यम से किया।

आगम के अनमोल रहस्यों को सरल भाषा में आबद्ध कर जन–जन तक जिनेश्वर देवों की वाणी को पहुंचाने का भगीरथ प्रयत्न किया। साथ ही, प्रेरणादायी दिव्य महापुरुषों एवं महासतियों के जीवन–वृत्तान्तों को सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया। इस प्रकार व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से सजाने–संवारने का काम पूज्यश्रीजी ने किया है। अस्तु! आज भी समग्र मानवजाति उनके उद्‌बोधन से लाभान्वित हो रही है। इसी क्रम में जवाहर स्मारक एवं धर्म और धर्मनायक किरणावली का यह अंक पाठकों के लिए प्रस्तुत है। सुज्ञ पाठक इससे सम्यक् लाभ प्राप्त करेंगे।

युगद्रष्टा, युगप्रवर्तक, ज्योतिर्धर, आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. का महाप्रयाण भीनासर में हुआ। आपकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने और आपके कालजयी प्रवचन–साहित्य को युग–युग में जन–जन को सुलभ कराने हेतु समाजभूषण, कर्मनिष्ठ, आदर्श समाजसेवी स्व. सेठ चम्पालालजी बांठिया का चिरस्मरणीय, श्लाघनीय योगदान रहा। आपके अथक प्रयासों और समाज के उदार सहयोग से

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की स्थापना हुई। संस्था जवाहर–साहित्य को लागत मूल्य पर जन–जन को सुलभ करा रही है और पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व में सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियों का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। बाद में संस्था की स्वर्णजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासों से किरणावलियों की संख्या बढ़ाकर 53 कर दी गई। आज यह सैट प्रायः बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ में यह निर्णय किया गया कि किरणावलियों को नया रूप दिया जावे। इसके लिए संस्था के सहमंत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय–अनुसार कई किरणावलियों को एक साथ समाहित किया और पुनः सभी किरणावलियों को 32 किरणों में प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म.सा. के साहित्य के प्रचार–प्रसार में जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की पहल को सार्थक और भारत तथा विश्वव्यापी बनाने में श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। संघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी संगठन और कार्यकर्ताओं के बल पर जवाहर किरणावलियों के प्रचार–प्रसार और विक्रय–प्रबन्धन में अप्रतिम योगदान प्रदान किया है। आज संघ के प्रयासों से यह जीवन निर्माणकारी साहित्य जैन–जैनेतर ही नहीं, अपितु विश्व–धरोहर बन चुका है। संघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हैं।

धर्मनिष्ठ, सुश्राविका श्रीमती राजकुंवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व. डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ में समस्त जवाहर–साहित्य–प्रकाशन के लिए 60,000 रु. एक साथ प्रदान किये गये थे जिससे पूर्व में लगभग सभी किरणावलियाँ उनके सौजन्य से प्रकाशित की गई थीं। सत्साहित्य–प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला संस्करण श्रीमान् मानमलजी गन्ना, भीम एवं श्रीमान् अमरचन्दजी लूणिया, भीनासर के सौजन्य से प्रकाशित किया गया और प्रस्तुत किरण 6 (जवाहर स्मारक एवं धर्म और धर्मनायक) के अर्थ सहयोगी श्रीउत्तमचन्दजी कटारिया, बैंगलोर हैं। संस्था सभी अर्थ–सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

निवेदक

चम्पालाल डागा
अध्यक्ष

सुमतिलाल बांठिया
मंत्री

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान : थांदला, मध्यप्रदेश

जन्म तिथि : वि.सं. 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी

पिता : श्री जीवराजजी कवाड़

माता : श्रीमती नाथीबाई

दीक्षा स्थान : लिमड़ी (म.प्र.)

दीक्षा तिथि : वि.सं. 1948, माघ शुक्ला द्वितीया

युवाचार्य पद स्थान : रतलाम (म.प्र.)

युवाचार्य पद तिथि : वि.सं. 1976, चैत्र कृष्णा नवमी

आचार्य पद स्थान : जैतारण (राजस्थान)

आचार्य पद तिथि : वि.सं. 1976, आषाढ़ शुक्ला तृतीया

स्वर्गवास स्थान : भीनासर (राज.)

स्वर्गवास तिथि : वि.सं. 2000, आषाढ़ शुक्ला अष्टमी
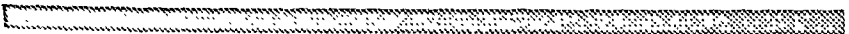
आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

1. देश मालवा गल गम्भीर उपने वीर जवाहर धीर
2. प्रभु चरणों की नौका में
3. तृतीयाचार्य का आशीर्वाद एवं ज्ञानाभ्यास प्रारम्भ
4. नई शैली
5. मैं उदयपुर के लिए जवाहरात की पेटी भेज दूंगा
6. जोधपुर का उत्साही चातुर्मास, दयादान के प्रचार का शंखनाद
7. जनकल्याण की गंगा बहाते चले
8. कामधेनु की तरह वरदायिनी बने कॉन्फ्रेंस
9. धर्म का आधार– समाज–सुधार
10. महत्त्व पदार्थ का नहीं, भावना का है
11. दक्षिण प्रवास में राष्ट्रीय जागरण की क्रांतिकारी धारा
12. वैतनिक पण्डितों द्वारा अध्ययन प्रारम्भ
13. युवाचार्य पद महोत्सव में सहज विनम्रता के दर्शन
14. आपश्री का आचार्यकाल अज्ञान–निवारण के अभियान से आरम्भ
15. लोहे से सोना बनाने के बाद पारसमणि बिछुड़ ही जाती है
16. रोग का आक्रमण
17. राष्ट्रीय विचारों का प्रबल पोषण एवं धर्म–सिद्धांतों का नव विश्लेषण
18. थली प्रदेश की ओर प्रस्थान तथा 'सद्धर्ममंडन' एवं 'अनुकम्पाविचार' की रचना
19. देश की राजधानी दिल्ली में अहिंसात्मक स्वातंत्र्य आंदोलन को सम्बल
20. अजमेर के जैन साधु सम्मेलन में आचार्यश्री के मौलिक सुझाव
21. उत्तराधिकारी का चयन–मिश्री के कूंजे की तरह बनने की सीख
22. रूढ़ विचारों पर सचोट प्रहार और आध्यात्मिक नव–जागृति
23. महात्मा गांधी एवं सरदार पटेल का आगमन
24. काठियावाड़–प्रवास में आचार्यश्री की प्राभाविकता शिखर पर
25. अस्वस्थता के वर्ष, दिव्य सहनशीलता और भीनासर में स्वर्गवास
26. सारा देश शोक–सागर में डूब गया और अर्पित हुए अपार श्रद्धा–सुमन परिशिष्ट सं. 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7

आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

+ विपत्तियों के तमिस्र गुफाओं के पार जिसने संयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
+ ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरंतर अभिवर्द्धित किया।
+ संयमीय साधना के साथ वैचारिक क्रांति का शंखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
+ उत्सूत्र सिद्धांतों का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धांतों की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थों में विजयश्री प्राप्त की।
+ परतंत्र भारत को स्वतंत्र बनाने के लिए जिसने गांव–गांव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनों द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
+ शुद्ध खादी के परिवेश में खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस में खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
+ अल्पारंभ–महारंभ जैसी अनेकों पेचीदी समस्याओं का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
+ स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर सम्मेलन में गहरे चिंतन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
+ महात्मा गांधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं ने जिनके सचोट प्रवचनों का समय–समय पर लाभ उठाया।
+ जैन व जैनेत्तर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।
+ सत्य सिद्धांतों की सुरक्षा के लिये जो निडरता एवं निर्भीकता के साथ भू–मंडल पर विचरण करते थे।

"हुक्म संघ के आचार्य"

1. **आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1870, स्वर्गवास वि.स. 1917**
   ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।
2. **आचार्य श्री शिवलालजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1891, स्वर्गवास वि.स. 1933**
   प्रतिभा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।
3. **आचार्य श्री उदय सागरजी म.सा. – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि.स. 1954**
   विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादी–मान–मर्दक, विरक्तों के आदर्श विलक्षण।
4. **आचार्य श्री चौथमलजी म.सा. – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि.स. 1957**
   महान क्रियावान, सागर सम गंभीर, संयम के सशक्त पालक, शांत–दांत, निरहंकारी, निर्ग्रन्थ शिरोमणि।
5. **आचार्य श्री श्रीलालजी म.सा. – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि.स. 1977**
   सुरा–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्‌भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।
6. **आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि.स. 2000**
   ज्योतिर्धर, महान क्रांतिकारी, क्रांतदृष्टा, युगपुरुष।
7. **आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि.स. 2019**
   शांत क्रांति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।
8. **आचार्य श्री नानालालजी म.सा. – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि.स. 2056**
   समता–विभूति, विद्वद्‌शिरोमणि, जिनशासन–प्रद्योतक, धर्मपाल–प्रतिबोधक, समीक्षण ध्यानयोगी।
9. **आचार्य श्री रामलालजी म.सा. – दीक्षा 2031, आचार्य वि.सं. 2056 से**
   आगमज्ञ, तरुण तपस्वी, तपोमूर्ति, उग्रविहारी, सिरीवाल–प्रतिबोधक, व्यसनमुक्ति के प्रबल प्रेरक, बालब्रह्मचारी, प्रशांतमना।

अनुक्रम

जवाहर स्मारक

१. वास्तविक शांति : १
२. सूत्रारम्भ में मंगल : १५
३. महा निर्ग्रन्थ व्याख्या : २६
४. धर्म का अधिकारी : ४२
५. सिद्ध साधक : ५६
६. स्वतन्त्रता : ७१
७. अरिष्टनेमि की दया : ८७
८. आत्म विभ्रम : १०४
९. श्रेणिक को धर्म प्राप्ति : ११५

धर्म और धर्म नायक : १२६

१. ग्राम धर्म : १३१
२. नगर धर्म : १३४
३. राष्ट्रधर्म : १३६
४. व्रतधर्म : १४८
५. कुल धर्म : १५८
६. गण धर्म : १६४
७. संघ धर्म : १७१
उपसंहार : १८६
८. सूत्र धर्म : १८७
९. चारित्रधर्म-आचारधम : २१०
१०. जीवन धर्म : २२१
पूर्ति : २२७
राष्ट्र धर्म के मुख्य अंग : २३२

धर्म और धर्मनायक : २४३
ग्रामस्थविर-ग्रामनायक : २४४
नगरस्थविर-नगरनायक : २५३
राष्ट्रस्थविर-राष्ट्रपति : २६५
प्रशास्ता-स्थविर-संरक्षक-स्थविर : २८१
कुल-स्थविर : २६५
गणस्थविर-गणनायक : २६६
संघ-स्थविर : ३०३
जातिस्थविर-समाजस्थविर : ३०५
सूत्र-स्थविर : ३०८
पर्यायस्थविर-संयमस्थविर : ३०६

1 : वास्तविक शांति

"श्री शान्ति जिनेश्वर सायब सोलवां........

यह भगवान् शान्तिनाथ की प्रार्थना है। भक्त भगवान् से क्या चाहता है? यह कि 'हे प्रभो! तू शांति का सागर है, तू स्वयं शांति का स्वरूप है, तुझ में शांति का भण्डार भरा है, मैं अशांत हूं (आशा और तृष्णा के कारण) मुझे शांति की आवश्यकता है, अतः मेरे शांतिरहित हृदय को शांति प्रदान करें'।

जिसको शांति की जरूरत होती है, जिसके हृदय में अशांति भरी पड़ी हो, वही व्यक्ति शांति की चाहना करता है। पानी की चाह प्यासा ही करता है। रोटी की मांग भूखा ही रखता है। जिसमें जिस बात की कमी होती है, वह उसे दूर करना चाहता है। तदनुसार भक्त भी भगवान् से कहते हैं (प्रार्थना करते हैं) कि 'हे प्रभो! तू शांति का सागर है, किन्तु मुझ में अशांति है, अतः मैं तुझ से शांति चाहता हूं।' यों तो संसार में शांति देने वाले अनेक पदार्थ माने हुए हैं। मैंने उन सब पदार्थों को खोजा किन्तु किसी भी पदार्थ में मुझे शांति नहीं मिली। वास्तव में संसार के किसी भी जड़ पदार्थ में शांति है ही नहीं।

यह कहा जा सकता है कि जब प्यास लगती हो तब ठण्डा पानी और भूख लगने पर रोटी मिल जाने से शांति मिलती है और यह प्रत्यक्ष अनुभूत बात भी है। वैसी हालत में यह कैसे कहा जा सकता है कि संसार के किसी भी पदार्थ में शांति नहीं है? इसका उत्तर यह है कि सयाने लोग शांति उसी को कहते हैं, जिसमें अशांति का लवलेश भी न हो। जो शांति एकान्तिक और आत्यन्तिक है, वही सच्ची शांति है। जिस पदार्थ में एकान्तिक और आत्यन्तिक शांति नहीं है, वह शान्तिदायक नहीं कहा जा सकता। पदार्थों में शान्ति का आभास होता है, किन्तु शान्ति का वास्तविक स्रोत अन्य ही है। उदाहरण के लिए समझ लीजिये कि किसी को प्यास लगी है और उसने पानी पा लिया

है। यदि उसी व्यक्ति को उसी समय पुनः पानी पीने के लिए कहा जाय तो क्या वह पानी पीयेगा? नहीं पीयेगा। यदि पानी में शांति है तो वह व्यक्ति पुनः पुनः पानी पीने से क्यों इंकार करता है? दूसरी बात– एक बार पानी पीने से उस समय उसकी प्यास बुझ गई थी, उस समय उसने पानी में शांति का अनुभव किया था किन्तु दो एक घण्टा बीत जाने पर वह फिर पानी पीता है या नहीं? फिर पानी पीने का क्या कारण है? यही कि उस समय पानी पीने से उस समय की प्यास बुझ गई थी लेकिन हमेशा के लिए उस पानी से प्यास न बुझी थी। कल रोटी खाई थी। क्या आज पुनः खानी पड़ेगी? यदि रोटी से भूख मिट जाती है तो पुनः क्यों खानी पड़ती है! इससे ज्ञात होता है कि रोटी पानी आदि भौतिक पदार्थों में सुख नहीं है किन्तु सुख का आभास मात्र है। शांति नहीं है किन्तु शांति का आभास है। संसार के किसी भी पदार्थ में एकान्तिक या आत्यन्तिक सुख नहीं है। जब भूख लगी हो तब लड्डू कितने प्यारे लगते हैं। यदि भूख न हो तो क्या लड्डू खाये जा सकते हैं? भूख में प्यारे लगने वाले वे ही लड्डू भूख के अभाव में कितने बुरे लगते हैं! इस बुरे लगने का कारण क्या है? यह कि अब भूखजन्य दुःख नहीं है। जब मनुष्य दुःखी होता है, तब उसे सांसारिक पदार्थों में शांति मालूम देती है। लेकिन जब वह दुःख मिट जाता है, तब सांसारिक पदार्थों में एकान्तिक या आत्यन्तिक शांति नहीं है। किसी दुःख के समय उनमें शांति जान पड़ती है मगर वास्तव में संसार के किसी भी पदार्थ में न पहले सुख था और न अब है। भौतिक पदार्थ शान्ति या सुख के निमित्त कारण अवश्य हैं। शान्ति का उपादान कारण कुछ अन्य ही है!

भक्त कहता है कि हे प्रभो! मैंने संसार के समस्त पदार्थों को छानबीन कर खोज डाला किन्तु किसी भी पदार्थ में शांति नहीं मिली। अतः अब मैं तेरी शरण में आया हूं। और तुझ से शांति के लिए प्रार्थना करता हूं।

वेदादि ग्रन्थों में "ऊँ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः" इस प्रकार तीन बार शांति का उच्चारण किया गया है। तीन बार शान्ति का उच्चारण इसलिए किया गया है कि आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक इस तरह तीन प्रकार की शांति की कामना (चाहना) की गई है। आधिभौतिक शांति चाहने का अर्थ यह है कि अभी हमारा आत्मा शरीर में निवास करता है। अभी आत्मा का काम शरीर की सहायता से चलता है। अभी आत्मा को अतींद्रिय शक्ति प्राप्त नहीं हुई है। इन्द्रियों की सहायता से ही आत्मा जानना, सुनना, देखना आदि क्रियाएं करता है। आत्मा को अतीन्द्रिय शक्ति प्राप्त हो जाय तब की

करते थे। वे सम्पूर्ण संसार के मित्र थे। वे रात दिन सोचा करते थे कि मैं अच्छे-अच्छे पदार्थ भोगने के लिए राजा नहीं बना हूं किन्तु मुझ में जो शक्ति मौजूद है, वह खर्च करके प्रजा को शांति पहुंचा सकूं तब सच्चा राजा कहलाऊं। वे हर क्षण संसार को शांति पहुंचाने का विचार किया करते थे। यही कारण है कि उनके यहां साक्षात् शांति के अवतार भगवान् शांतिनाथ का जन्म हुआ था।

महाराज विश्वसेन के विचारों पर आप लोग भी गौर कीजिये। आप शांति-दायक पुत्र चाहते हैं या अशांतिदायक? चाहते तो होंगे आप भी शांतिदायक पुत्र ही। शांतिदायक पुत्र प्राप्त करने की इच्छा वालों को स्वयं कैसा बनना चाहिए? दूसरों को शांति प्रदान करने वाले या दूसरों की शांति में अशांति उत्पन्न करने वाले? यदि अशांतिदायक बनोगे तो पुत्र भी अशांतिदायक ही उत्पन्न होगा। जैसी बेल होती है, उसका फल भी वैसा ही होता है। "बोये पेड़ बबूल के आम कहां से होय"?

एक आदमी दूसरे देश में गया। उसके देश में इन्द्रायण का फल नहीं होता था। अतः उसने कभी वह फल देखा न था। नये देश में इन्द्रायण का फल देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। प्रशंसा करने लगा कि यह कैसा सुन्दर देश है। यहां जमीन पर पड़ी हुई बेल में ही ऐसे सुन्दर फल लगते हैं। मेरे देश में तो ऊंचे वृक्ष पर ही फल लगते हैं। उस वक्त उसे भूख लग रही थी। अतः एक फल तोड़ कर खाया। किन्तु फल उसे कड़ुआ लगा। वह थू-थू करता हुआ सोचने लगा कि इतने सुन्दर फल में यह कड़ुआपन कहां से आ गया ? यह सोचकर कि देखूं फल कड़ुआ है पर पत्ते कैसे हैं? उसने पत्ते चखे। पत्ते भी कड़ुए निकले। फिर उसने फूल चखा। तो वह भी कड़ुवा मालूम हुआ। अन्त में उसने बेल का मूल (जड़) चखा। बड़े दुःख के साथ उसने अनुभव किया कि उस बेल का मूल भी कड़ुआ ही था। उस व्यक्ति ने निर्णय किया कि जिसका मूल ही कड़ुआ होगा, उसके सब अंश कड़ुए ही होंगे।

सारांश यह है कि आप लोग अपने पुत्र को तो शांतिदायक पसन्द करते हैं किन्तु खुद को भी तपासिये कि आप स्वयं कैसे हैं? कोई अच्छे कपड़े पहन कर अच्छा बनना चाहे तो इससे उसकी अच्छा बनने की मुराद पूरी नहीं हो जाती। कपड़ों के परिवर्तन करने से या सुन्दर साज सजाने से आत्मा अच्छा नहीं बन जाता। इससे तो शरीर अच्छा लग सकता है। यदि खुद के आत्मा में दूसरों को शांति पहुंचाने का गुण होगा, तभी मनुष्य अच्छा लगेगा और तभी संतान भी शांतिदायिनी हो सकती है।

महाराजा विश्वसेन सबको शांति पहुंचाने के इच्छुक रहते थे। इसी से उनकी रानी अचिरा के गर्भ में भगवान् शांतिनाथ ने जन्म धारण किया। जिस समय भगवान् शांतिनाथ गर्भ में थे उस समय महाराजा विश्वसेन के राज्य में महामारी का भयंकर प्रकोप हुआ। प्रजा महामारी का शिकार होने लगी। यह देख सुनकर महाराजा बहुत चिंतित हुए और विचार करने लगे कि जिस प्रजा की रक्षा और वृद्धि के लिए मैंने इतने कष्ट उठाये हैं, वह किस प्रकार काल–कवलित हो रही है! मेरी कितनी कमजोरी है कि जो मेरे सामने मरती हुई प्रजा का मैं रक्षण नहीं कर पाता हूं ! इस प्रकार महामारी का प्रकोप होना और प्रजा का विनाश होना केवल प्रजा के पापों का ही परिणाम नहीं है किन्तु मेरे पापों का भी परिणाम है। जो कुछ हो, मुझे पाप करके ही न बैठे रहना चाहिए किन्तु ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे प्रजा की रक्षा हो और उसे शान्ति प्राप्त हो। यदि मेरे शरीर से यह कार्य न हो सके तो फिर इस शरीर का धारण करना ही व्यर्थ है। मैं कहता हूं कि अब प्रजा में कोई नया रोगी न होगा और जो रोगी हैं, वे जब तक अच्छे न हो जायेंगे तब तक मैं अन्न–जल ग्रहण न करूंगा।

महाराजा विश्वसेन ने इस प्रकार सत्याग्रह या अभिग्रह किया, वह अपने निजी स्वार्थ या हित के लिए नहीं किन्तु जनता के हित के लिए किया था। जनहित के लिए इस प्रकार का दृढ़ निश्चय करके महाराजा परमात्मा के ध्यान में बैठ गये। ध्यान में यह विचारने लगे कि मेरे किस पाप के कारण यह महामारी उपस्थित हुई है और प्रजा मरने लगी है? मेरी किस कमी या असावधानी के कारण प्रजा को यह दुःख सहन करना पड़ रहा है?

जो अपने दुःख को तो दुःख समझता है किन्तु दूसरों के दुःख को महसूस नहीं करता, वह धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। वस्तुतः धर्म का अधिकारी वह है, जो अपने दुःखों की चिन्ता न करे किन्तु दूसरों के दुःखों को दूर करने की कोशिश करे। दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न हो और दुःखी देख कर दुःखी हो, वही सच्चा धर्माधिकारी है। यदि आप धर्मात्मा बनने की ख्वाहिश रखते हैं तो यह निश्चय करिये कि हे दीनानाथ! हम हमारा दुःख सहन कर लेंगे किन्तु अज्ञानी लोग जो कि दुःख से घबड़ाते हैं, उसको सहन न करेंगे। उसे दूर करने का भरसक प्रयत्न करेंगे। "अत्तसमं मनिज्जे छप्पि काएं" अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और चलते–फिरते त्रस जीव इन छः काया के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानना चाहिये। ज्ञानीजन ही यह विचार कर सकता है कि कोई प्राणी दुःख से पीड़ित न हो। अज्ञानी लोग ऐसा विचार नहीं कर सकते।

महाराजा विश्वसेन अन्न–जल त्याग का अभिग्रह ग्रहण करके परमात्मा के ध्यान में तल्लीन होकर बैठे हुए थे। उधर महारानी अचिरा भोजन करने के लिए पतिदेव की प्रतीक्षा कर रही थी। भारतीय सभ्यता के अनुसार पतिव्रता स्त्री पति के भोजन करने के पूर्व भोजन नहीं करती है। गुजराती भाषा में कहावत है कि 'माटी पहली बैयर खाय, तेनो जमारो एले जाय।' आज भी भले घरों की स्त्रियां पति के भोजन करने के पहले भोजन नहीं करतीं किन्तु पति के भोजन कर चुकने पर भोजन करती हैं।

भोजन करने का समय हो चुका था और भोजन भी तैयार था फिर भी महाराजा के न पधारने से महारानी अचिरा ने दासी को बुलाकर उससे कहा कि तू जाकर महाराजा से अर्ज कर कि भोजन तैयार है। राजा को भोजन निश्चित समय पर ही करना चाहिए ताकि शरीर–रक्षा हो और शरीर–रक्षा होने से प्रजा की भी रक्षा हो सके। दासी महाराजा के पास गई किन्तु उन्हें ध्यान में तल्लीन देखकर बोलने की हिम्मत न कर सकी। साधारण लोगों को तेजस्वी महापुरुषों की ओर देखने की हिम्मत नहीं होती है। तेजस्वियों के मुख से एक प्रभामण्डल निकलता है जिसके कारण साधारण आदमी उनकी ओर नहीं देख सकता।

दासी महाराजा विश्वसेन का ध्यान भंग न कर सकी। वह दूर से ही धीरे–धीरे कहने लगी कि भोजन तैयार है, आप आरोगने के लिए पधारिये। उसका शब्द इतना धीमा था कि वह महाराजा के कान में पड़ा हो या न पड़ा हो। महाराजा का ध्यान भंग न हुआ। वे तो ध्यान में यही सोच रहे थे कि हे प्रभो! मेरे किस पाप के उदय के कारण मेरी प्यारी प्रजा महामारी का शिकार बन रही है? मैं राजा हूं ! प्रजा मुझे पिता कहती है, मेरे पैरों पड़ती है और अपनी शक्ति मुझे सौंपती है। फिर उसका कल्याण न कर सकूं तो मुझ पर बड़ा भार बढ़ता है।

राजकोट श्री संघ के सेक्रेटरी मुझसे कहने लगे कि महाराज! आप यहां क्या पधारे हैं, हमारे लिए तो साक्षात् गंगा अवतीर्ण हुई है। मैं कहता हूं कि गंगा तो यहां का श्री संघ है। यहां का संघ या समाज मुझको जो मान–बड़ाई प्रदान करता है उससे मुझ पर भार बढ़ता है, मेरी जिम्मेवारी बढ़ती है। यदि मैं यहां की समाज का वास्तविक कल्याण न कर सकूं तो आपका दिया हुआ मान मुझ पर भार ही है। आप लोग बैंक में रुपये रखते हैं। बैंक का काम रुपयों की रक्षा करना है। यदि वह रक्षा न करे तो उस पर भार है। तो कभी दिवाला भी निकाल दे किन्तु क्या हम साधु लोग भी दिवाला

निकाल सकते हैं? आप लोग हम साधुओं के लिए कल्याण मंगल आदि शब्द कहते हैं। हमारा ऊपरी साधु भेष देखकर ही आप लोग ऐसा कहते हैं। कल्याण मंगल आदि शब्द कहला कर भी यदि हम आपका कल्याण न करें तो सचमुच हम पर भार बढ़ता है। आपके दिये हुए मान के बदले में हमारा कुछ कर्त्तव्य हो जाता है और वह आपके लिये कल्याण कार्य करना ही है।

यह तो हम साधुओं की बात हुई। अब आपकी बात में आप लोगों से कहता हूं। आप भी तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थ उसे कहते हैं जो दूसरों को तारे, पार उतारे। दूसरों को वही तार सकता है जो खुद तरता है। जो स्वयं न तरता हो वह दूसरों को क्या तारेगा। रेल यदि आप लोगों को अपने में बैठा कर दूसरी जगह न पहुंचाये तो क्या आप उसे रेल कहेंगे? इसी तरह तीर्थ होकर भी यदि दूसरों को न तारो तो तीर्थ कैसे कहला सकते हो। दूसरों को तभी तार सकते हो जब स्वयं तिरो।

एक भाई का मुंह बासता था। मैंने पूछा, क्या बीड़ी पीते हो? उसने उत्तर दिया, जी हां, पीता हूं। मेरे पीछे यह दुर्व्यसन लग गया है। मैंने कहा कि भगवान् महावीर के श्रावक होकर आपमें यह कमजोरी कैसी? बिना कष्ट सहन किये कोई कार्य नहीं होता। कष्ट सहन करके भी यदि इस दुर्व्यसन को तिलांजलि दे सको तो इसमें तुम्हारा और हमारा दोनों का कल्याण है। आपके तीर्थकर के माता पिता जगत् के कल्याण के लिए अन्नजल त्याग देते हैं और आप बीड़ी जैसी तुच्छ वस्तु को भी न छोड़ सके, यह मुझ पर कितना भार है? मैं इस विषय में क्या कहूं? यदि लोग बीड़ी पीना छोड़ दें तो मैं कह सकता हूं कि राजकोट का संघ बीड़ी नहीं पीता है।

बीड़ी पीने वाले कहते हैं कि बीड़ी पीने से दस्त साफ आता है। पेट मे किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं रहती। पहले से लोग पीते आये हैं अतः हम भी पीते हैं। यदि यह कथन ठीक है तो मैं पूछता हूं कि बहिनें बीड़ी क्यों नहीं पीतीं। उन से यदि बीड़ी पीने के लिए कहा जाय तो वे यही उत्तर देंगी कि हम क्यों पीयें, हमारी बलाय पिये। स्त्रियां तो यों कहती हैं और आप लोग पगड़ी बांधने वाले पुरुष होकर उनकी बलाय बनते हैं। क्या यह ठीक है? पेट साफ रहता है आदि कथन बीड़ी पीने का बहाना मात्र है। बीड़ी पीने से लाभ नहीं होता। बीड़ी न पीने से किसी भी प्रकार की हानि होगी तो इस बात की मैं जिम्मेवारी लेता हूं। मैं कहता हूं कि बीड़ी न पीने से किसी भी प्रकार की हानी न होगी। अतः भाइयों, बीड़ी पीना छोड़ दीजिये। डॉक्टरों का कहना है कि तमाखू में निकोटाइन नामक जहर रहता है जो पेट में जाकर भयंकर

हानि पहुंचाता है। डॉक्टरों का यह भी कहना है कि एक बीड़ी में जितनी तमाखू होती है यदि उसका अर्क निकाला जाय तो उससे सात मेंढ़क मर सकते हैं। इस प्रकार हानि पहुंचाने वाली तमाखू से क्या लाभ हो सकता है? हां, हानि अवश्य होती है। आपकी देखा देखी आपके बच्चे भी बीड़ी पीने लगते हैं। आपके फेंके हुए टुकड़े को उठाकर बच्चे पीते हैं और इस बात की जांच करते हैं कि हमारे पिताजी जिस बीड़ी को दिन में कई बार पिया करते हैं उसमें क्या मजा रहा हुआ है? बीड़ी त्याग देना ही उचित है। जो लोग बीड़ी नहीं पीते हैं वे धन्यवाद के पात्र हैं। जो पीते हैं उनसे हमारा अनुरोध है कि वे इसे छोड़ दें। बीड़ी दुःख का कारण है। ऐसे दुःख के कारणों को आप परमात्मा को समर्पण करते जाओ। इससे आपकी आत्मा में आनन्द की वृद्धि होगी। मैं दिल्ली से जमना पार गया था। वहां तमाखू पीने का बहुत रिवाज है। यहां तक कि बहुत–सी स्त्रियां भी बीड़ी पीती हैं। मैंने तमाखू त्यागने का उपदेश दिया। उस उपदेश से हमारे कई श्रावकों ने तमाखू पीना छोड़ दिया। किन्तु मुझे यह जानकर ताज्जुब हुआ कि एक मुसलमान जो कि साठ सालों से हुक्का पीता था यह कहकर कि जब मेरा मालिक तमाखू नहीं पीता है, मैं कैसे पी सकता हूं, तमाखू छोड़ देता है। जब वह मुसलमान दुबारा मुझ से मिला तब कहने लगा कि महाराज, आपके उपदेश से मैंने हुक्का पीना क्या छोड़ दिया है, गोया एक बीमारी छोड़ दी है।

बीड़ी न पीने से रोग रहता है, यदि यह बात ठीक मानी जाय तो बोहरे लोग जोकि बीड़ी नहीं पीते हैं, क्या रोगी रहते हैं? मारवाड़ में विश्नोई जाति के लोग रहते हैं, जो न मांस खाते, न दारू पीते, न बीड़ी ही पीते हैं। वे बड़े तन्दुरुस्त रहते हैं! वे फुरसत के समय पुस्तकें पढ़ते हैं। किसी भी दुर्व्यसन में नहीं फंसते। इससे वे बड़े सुखी हैं।

कहने का मतलब है कि आप लोग दुर्व्यसन त्यागो ! यह न सोचो कि हमारा नाम तीर्थ में लिखा हुआ ही है, अब हम चाहे जैसा काम किया करें। यह विचार करो कि यदि हम ऐसे दुर्व्यसन को भी न त्यागेंगे तो श्रावक नाम कैसे धरायेंगे? आज मैं इस विषय पर थोड़ा ही कहता हूं। बीड़ी तमाखू पर एक स्वतन्त्र और पूरा व्याख्यान हो सकता है।

महाराजा विश्वसेन का ध्यान दासी की आवाज से नहीं टूटा। दासी की हिम्मत इससे अधिक कुछ करने की नहीं हुई। वह महारानी के पास चली ई। महारानी ने पूछा कि आज महाराजा कहां व्यस्त हैं? दासी ने उत्तर दिया . आज महाराजा बड़े गम्भीर बने बैठे हैं। आज की तरह गम्भीर बने हुए

महाराजा को मैंने कभी नहीं देखा। मैं उनका ध्यान भंग न कर सकी। यदि उनका ध्यान भंग करना है तो आप स्वयं पधारिये। आप उनकी अर्धांगिनी है अतः आपको अधिकार है कि आप उनका ध्यान भी भंग कर सकती है। मुझ दासी से यह काम नहीं हो सकता।

यह बात सुनकर महारानी सोचने लगी कि अवश्य आज महाराजा किसी गहरे विचार-सागर में डूबे हुए हैं। किसी नये मसले पर विचार करते होंगे। उनकी ध्यान मुद्रा को देख कर दासी इतनी चकित हो गई है।

इस प्रकार विचार कर महारानी स्वयं महाराजा के पास चली गई। वे गर्भवती थीं। फिर भी इस नियम को नहीं तोड़ा कि पति को जिमाये बिना पत्नी नहीं जीम सकती। गर्भवती होने के कारण रानी भूखी भी नहीं रह सकती थी। यदि उनका खुद का प्रश्न होता तो वह भूखी भी रह सकती थी किन्तु गर्भ के भूखा रहने का प्रश्न था। गर्भ का भोजन माता के भोजन पर निर्भर होता है। और गर्भ को भूखा नहीं रखा जा सकता था।

यहां पर इस प्रसंग में मैं कुछ कहना आवश्यक समझता हूं। मैं तपस्या करने का पक्षपाती हूं। लेकिन गर्भवती स्त्री तप करती है, यह मैं ठीक नहीं समझता। गर्भ का भोजन माता के भोजन पर निर्भर होता है। जब माता भूखी होती है तब गर्भ को भी भूखा रहना पड़ता है। वैद्यक शास्त्र में कहा है कि गर्भ की माता प्रथम पहर में नहीं खाती लेकिन द्वितीय पहर का उल्लंघन नहीं कर सकती। इसके उपरांत गर्भवती के भूखी रहने से गर्भ पर उससे दया नहीं हो सकती। प्रथम अहिंसा व्रत में 'भक्तपाण वुच्छेए' अर्थात् भोजन और पानी का विच्छेद करना अन्तराय डालना अतिचार कहा गया है। यदि गर्भवती तपस्या करके भूखी रहेगी तो बलात् गर्भ पर को भी भूखे रहना पड़ेगा और इस तरह वह गर्भ पर दया नहीं कर सकती। आप लोग संवत्सरी का उपवास करते हैं। क्या उस दिन घर में रही हुई गाय को भी उपवास कराते हैं या घास डालते हैं? स्वयं चाहे उपवास करो किन्तु गाय को घास डालते ही हो। यदि गाय को घास न डालो तो 'भक्तपाण वुच्छेए' नामक अतिचार लगेगा। और इस प्रकार दया का लोप होगा। गर्भवती के भूखा रहने से गर्भ को भूखा रहना पड़ेगा और इस तरह गर्भ की दया न रहेगी। भगवती सूत्र में कहा है कि गर्भ का भोजन वही है जो माता का भोजन है। अतः गर्भवती को तपस्या करके गर्भ को भूखा नहीं रखना चाहिए।

महारानी अचिरा महाराज के पास गई। उसने देखा कि महाराजा ध्यान-मग्न हैं। उसने कहा, मेरी सखी ठीक ही कहती थी और ऐसी अवस्था

में उसकी क्या हिम्मत हो सकती थी कि वह महाराजा का ध्यान भंग करती? रानी ने अपने अधिकार का ख्याल करके कहा कि हे महाराज! आज आप इस प्रकार ध्यान–मग्न अवस्था में क्यों बैठे हुए हैं! किस बात की चिन्ता में लीन हैं? चिंता का क्या कारण है? यदि चिंता का कोई कारण है तो वह मुझे बताइये और यदि कारण नहीं है तो चलिये भोजन करिये। भोजन का समय हो चुका है।

महारानी की बात सुनकर महाराजा का ध्यान भंग हुआ। महारानी को देखकर उन्होंने सोचा कि महारानी नीचे खड़ी और मैं सिंहासन पर बैठा रहूं, यह ठीक नहीं है। उसी समय उन्होंने भद्रासन मंगवाया और उस पर महारानी को बिठाया।

जिस घर में पति पत्नी को और पत्नी पति को आदर सत्कार नहीं देते, समझ लेना चाहिए कि उन्होंने लग्न का महत्त्व नहीं समझा है। जहां पारस्परिक आदर सत्कार देने का साधारण नियम भी न पाला जाता हो, वहां अन्य नियमों की बात ही क्या करना? संसार का सबसे बड़ा पाया लग्न पद्धति है। लेकिन आज इस पद्धति की क्या दुर्दशा हो रही है?

महाराजा ने कहा कि आज मैं किसी विचार में डूब गया था। अतः भोजन करने का भी ख्याल न रहा। कहिये, आपने तो भोजन कर लिया है न? महारानी ने कहा, क्या मैं आपके पूर्व ही भोजन कर लेती? महाराजा ने कहा, हां, आप गर्भवती हैं। अतः आपको भूखा न रहना चाहिये। हम पुरुष हैं। हम पर राज्य के अनेक कठिन कामों का बोझा है। आप स्त्री हैं और आप पर गर्भ रक्षा का बड़ा भारी बोझा है। इसकी हर प्रकार रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है। निमित्तिये ने कहा था कि आपके गर्भ में महापुरुष है। अतः आपको भूखा न रहना चाहिये था।

महाराजा की बात के उत्तर में महारानी ने कहा कि मेरे गर्भ में महापुरुष है तो इसकी चिन्ता आपको भी तो होनी चाहिये। न मालूम आज आप किस चिन्ता में पड़े हुए हैं। अपनी चिन्ता का कारण मुझे भी तो बताइये। महाराजा ने कहा कि हे रानी! आज मुझे बहुत बड़ी चिंता हो रही है 'प्राण जाय पर प्रण नहीं जाई' के अनुसार आज मुझे बर्ताव करना है। मुझे प्रजा की रक्षा करने विषयक चिन्ता है। आप इस चिंता का कारण जानने के उलझन में न पड़ो। पहले जाकर भोजन कर लो। रानी ने उत्तर दिया कि हे महाराज! जिस क र प्रजा रक्षा के नियम पर आप अटल हैं, उसी प्रकार मैं भी आपके भोजन ए बिना भोजन न करने के नियम पर अटल हूं। आप को प्रजा रक्षा की

चिंता है मगर कृपा करके मुझे भी यह बतलाइये कि किस बात के कारण चिंता है? रानी का आग्रह देखकर महाराजा विश्वसेन असमंजस में पड़ गये। कुछ देर सोच कर बोले कि महारानी! मेरे राज्य में महामारी रोग फैला हुआ है और प्रजा मर रही है। प्रजा में बहुत भय छाया हुआ है। कौन कब मर जायगा, इस का कुछ भी विश्वास नहीं है। सारी प्रजा में त्राहि–त्राहि मची हुई है। अतः मैंने प्रतिज्ञा ली है कि जब तक प्रजा का यह कष्ट दूर न होगा, मैं अन्न–जल ग्रहण न करूंगा। महारानी ने उत्तर दिया कि जो प्रतिज्ञा आपकी है, वह मेरी भी है। मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूं। जो पुरुष स्त्री की शक्ति को विकसित नहीं होने देता, वह अपनी ही शक्ति का ह्रास करता है। स्त्री को पतिपरायणा और धर्मनिष्ठ बनाने के लिए पति को भी कुछ त्याग करना पड़ता है। पति को नियमोपनियम का पालन करना पड़ता है।

महारानी ने कहा– मैं केवल भोजन करने के लिए ही अर्धांगिनी नहीं हूं। किंतु आपके कर्त्तव्य में हिस्सा बटाने के लिए रानी हूं। जो जवाबदारी आपके सिर पर है वह मेरे सिर पर भी है। सीता को वनवास करने के लिए किसी ने नहीं कहा था। न सीता पर वनवास करने की जिम्मेवारी ही थी। फिर भी सीता वन गई थी क्योंकि उन्होंने यह अनुभव किया था कि जो जवाबदारी मेरे पति पर है वह मुझ पर भी है। अतः जिस प्रजा को आप पुत्रवत् मानते हैं वह मेरे लिए भी पुत्रवत् है। जो प्रतिज्ञा आपने ली है, वह मेरे लिए भी है।

रानी का कथन सुनकर महाराज ने कहा, महारानी आप गर्भवती हैं। आपके लिए अन्न जल त्यागना ठीक नहीं है। रानी ने कहा, आप चिन्ता मत करिये। अब प्रजा पर आई हुई आफत गई ही समझिये। रानी के मन में कुछ विचार आये। उन विचारों के सम्बन्ध में कहने का समय नहीं है। इतना अवश्य कहता हूं कि लोग बाहरी बातों का विचार करते हैं और बाहरी बातें ही देखते हैं। किन्तु ख्याल रखना चाहिये कि बाहरी बातों के सिवाय आन्तरिक बातें भी हैं और उनका प्रभाव बहुत अधिक है। उन पर विचार करना चाहिए।

'अब आप प्रजा में से रोग गया ही समझिये' कहकर रानी ने स्नान किया और हाथ में जलपात्र लेकर महल पर चढ़ गई। उस समय उनकी आंखों में अपूर्व ज्योति थी। वे हाथ में जल लेकर कहने लगी कि यदि मैंने यावज्जीवन पतिव्रता धर्म का पालन किया हो, मेरे गर्भ में महापुरुष हो, तथा

मैंने कभी झूठ कपट का सेवन न किया हो तो हे रोग! तू मेरे पति की रक्षा के लिए गर्भस्थ बालक के प्रभाव से चला जा। यह कह कर रानी ने पानी छिड़का। रानी के द्वारा पानी छिड़कते ही प्रजा में से रोग–महामारी चली गई।

महारानी ने जो पानी छिड़का था, उसमें महामारी को भगाने की शक्ति नहीं थी। यह शक्ति रानी के शील में थी। पानी कोई भी छिड़क सकता है। पानी छिड़कने मात्र से रोग नहीं चले जाते। पानी छिड़कने के पीछे सदाचार की शक्ति चाहिये। सुना है कि महाराणा प्रताप का भाला उदयपुर में रखा है। दो आदमियों के उठाने से वह उठता है। वह भाला प्रताप का है। उसके उठाने के लिये प्रताप की–सी शक्ति चाहिये। इसी प्रकार पानी के साथ भीतर के पानी की भी जरूरत है।

पानी के छींटे डालकर महारानी चारों ओर महाशक्ति की तरह देखने लगी। चारों ओर देखती हुई वे उस तरह ध्यान मग्न हो गईं जिस तरह राजा हुए थे। रानी इस प्रकार ध्यानमग्ना थीं कि इतने में लोगों ने महाराजा से आकर कहा कि महामारी के रोगी अच्छे हो गए हैं और अब प्रजा में शांति बरत रही है। राजा विचार कर रहे थे कि रानी गर्भवती है अतः भूखे रखने से गर्भ को न मालूम क्या होगा किन्तु यह समाचार सुनकर वे प्रसन्न हुए और गर्भस्थ आत्मा का ही यह चमत्कारी प्रभाव है, ऐसा माना। रानी के गर्भ में रहे हुए महापुरुष के प्रताप से ही प्रजा में शांति छाई है। महाराजा ऐसा सोच रहे थे कि इतने में दासी ने आकर कहा कि महारानी देवी या शक्ति की तरह महल के ऊपर खड़ी हैं। इस समय की उनकी मुद्रा के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। दासी से यह समाचार सुनकर महाराजा रानी के पास दौड़े गये और कहने लगे कि हे देवि! अब क्षमा करो। अब प्रजा में शांति है। आपके प्रताप से सब रोग दूर हो गये हैं।

बन्धुओं! राजा रानी को इस प्रकार बढ़ावा देते हैं, उनकी कद्र करते हैं। आप लोगों के घरों में इसके विपरीत तो नहीं होता है न? ज्ञातासूत्र में मेधकुमार के अधिकार में यह पाठ आया है कि "उरालेणं तुझे देवी सुणिणे दिट्ठे" आदि। मेघकुमार की माता स्वप्न देखकर जव पतिदेव को सुनाने गई थी, तब उनके द्वारा कहे हुए ये प्रशंसा वचन हैं। और स्त्री पुरुष को परस्पर किस प्रकार ऊंची सभ्यता से वर्ताव करना चाहिये, उसका यह नमूना है। शास्त्र में पारस्परिक वर्ताव में कैसी सभ्यता दिखनी चाहिये इसकी शिक्षा दी है। यदि शास्त्र ठीक ढंग से सुनाये और सुने जाएं तो बहुत कुछ सुधार सकता है। मेघकुमार के पिता ने कहा कि हे रानी, तुमने जो स्वप्न देखे

हैं वे बहुत उदार, सुखकारी तथा मंगलकारी है। इन स्वप्नों के प्रताप से तुम को राज्य और पुत्र का लाभ होगा। रानी का लाभ होने से राजा को लाभ है ही। फिर भी ऐसा न कहा कि मुझे लाभ होगा। किन्तु यह कहा कि रानी, तुझे लाभ होगा।

महाराजा विश्वसेन ने प्रजा में शांति होने का सारा यश रानी के हिस्से में ही बताया और स्वयं यश के भागी न बने। रानी चलो, अब भोजन करें। रानी ने कहा, महाराज इस प्रकार बड़ाई करके मुझ पर बोझा क्यों डाल रहे हैं? मैं तो आपके पीछे हूं। आपके कारण मैं रानी कहलाती हूं। मेरे कारण आप राजा नहीं कहलाते। जो कुछ हुआ है वह सब आपके ही प्रताप से हुआ है। मुझ में जो शील की शक्ति है वह आपकी प्रदान की हुई है। आप मुझ पर इस प्रकार बोझा न डालिये। इस प्रकार दोनों एक दूसरे को यश का भागी बनाने लगे। ऐसे घर में ही महापुरुष जन्म धारण करते हैं।

पुनः राजा कहने लगे, हे रानी, यदि मेरे प्रताप से प्रजा में शांति हुई होती तो जब मैं ध्यानमग्न होकर बैठा था तब क्यों नहीं हुई? अतः जो कुछ हुआ है वह मेरे प्रताप से नहीं किन्तु तुम्हारे प्रताप से हुआ है। आप साक्षात् शक्ति हैं। आपके कारण ही यह सब आनन्द हुआ है। राजा की दलील के उत्तर में रानी ने कहा कि शक्ति शिव की ही होती है। आप शिव हैं तभी मैं शक्ति बन सकी हूं। अतः कृपया मुझ पर यह बोझा न डालिये।

राजा ने कहा– अच्छा, अब मेरी तुम्हारी दोनों की बात रहने दो। इस प्रकार इस बात का अन्त न आएगा। एक दूसरे को यश प्रदान करने का यह गेन्द का–सा खेल ऐसे समाप्त होगा। जैसे गेन्द दूसरे को दी जाती है उसी प्रकार यह यश किसी तीसरी शक्ति को दे डालें। इस कीर्ति का भागी तुम–हम नही हैं किन्तु तुम्हारे उदर में विराजमान महापुरुष है। उस महापुरुष के प्रताप से ही प्रजा में शांति हुई है। यह सब यश हम हमारे पास न रखकर उस महापुरुष को समर्पण कर हल्के बन जायं।

महाराजा और महारानी की तरह आप लोग भी सब यश कीर्तिमान परमात्मा को सौंप दो। अपने लिए न रखो। यदि आप ऐसा कहें कि हे प्रभो! जो कुछ है, वह सब आप ही का है तो कितना अच्छा? विचार इस बात का करना चाहिए कि परमात्मा को अच्छे काम समर्पण करने या बुरे? अच्छे कामों का परिणाम सुनकर मनुष्य को गर्व आ जाता है कि मैंने ऐसा किया है। अतः अच्छे कामों का फल ईश्वर को समर्पण कर देना चाहिये। बुरे कामों की जिम्मेवारी खुद पर लेनी चाहिए ताकि भविष्य में बुराई से बचें।

महाराजा की बात सुनकर महारानी ने कहा कि अच्छी बात है, जो कुछ शुभ हुआ है गर्भ के प्रताप से ही हुआ है। जिसका ऐसा प्रताप है उसका जन्म होने पर क्या नाम रखना चाहिये। राजा ने कहा, उस प्रभु के प्रताप से राज्य में शांति हुई है अतः "शांतिनाथ" नाम रखना बहुत उपयुक्त है। वैसे संसार में जितने भी अच्छे-अच्छे नाम हैं वे सब परमात्मा के ही नाम हैं। आपने भगवान् शांतिनाथ को पहचाना है या नहीं? भगवान् शांतिनाथ को मारवाड़ की इस कहावत के अनुसार तो नहीं जाना है कि "शांतिनाथ सोलमा, लाडू देवे गोलमा, कृपा करे तो कसार का, दया करे तो दाल का, मीठा मोती चूर का, लेरे भूंडा लट, उतर जाय गट।" इस प्रकार सांसारिक कामना के लिए भगवान् के नाम का प्रयोग करना ठीक नहीं है। खुद की और संसार की वास्तविक शांति के लिए भगवान के नाम का प्रयोग करना चाहियें। अपनी की हुई सब अच्छाइयां परमात्मा को समर्पण करनी चाहिएं। आप दूसरों के लिए शांति चाहेंगे तो आपको खुद को शांति जरूर मिलेगी। महाराज विश्वसेन ने प्रजा को शांति पहुंचाने के लिए कष्ट सहन किये तो उनको खुद को भी शांति प्राप्त हुई। भक्त भगवान् से यही चाहता है—

नत्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

अर्थ— हे परमात्मन्! मुझे राज्य नहीं चाहिये, न स्वर्ग और न अपुनर्भव। मैं तो दुःख से तपे हुए प्राणियों के दुःख दूर करने की शक्ति चाहता हूं।

"अपने सब दुःखों को सह लूं, पर दुःख सहा न जाय" यह चाहता हूं। परमात्मा की प्रार्थना करने का यही रहस्य है। उसके दरबार में से यही भिक्षा मांगनी चाहिये। भगवान् शांतिनाथ की प्रार्थना यही बात सिखाती है।

राजकोट, 5—7—36 का व्याख्यान

2 : सूत्रारम्भ में मंगल

"कुन्थुजिनराज तू ऐसो, नहीं कोई देव तो जैसो.।"

यह भगवान् कुन्थुनाथ की प्रार्थना की गई है। भगवान् की प्रार्थना हम हमारी बुद्धि के अनुसार करें चाहे पूर्व के महात्माओं द्वारा मागधी भाषा मे जिस प्रकार प्रार्थना की गई है तदनुसार करें, एक ही बात है। आज मैं उन्हीं विचारों को सामने रख कर प्रार्थना करता हूं जो पूर्व के महात्माओं ने प्राकृत भाषा में कहे हैं। शास्त्रानुसार परमात्मा को प्रार्थना करना ही ठीक है। शास्त्र मे प्रत्येक स्थल पर परमात्मा की प्रार्थना ही है, ऐसा मैं मानता हूं। मेरी इस मान्यता से किसी का मतभेद भी हो सकता है। लेकिन पूरी तरह से विचार करने पर कोई मतभेद नहीं रह सकता। अर्हन्तों के द्वारा कहे हुए द्वादशांगी में से जो ग्यारह अंग इस समय मौजूद हैं, उन में परमात्मा की प्रार्थना ही भरी हुई है। आत्मा से परमात्मा बनने के उपाय ही तो शास्त्रों में वर्णित हैं। आत्म स्वरूप का वर्णन प्रार्थना रूप ही है। भगवान् महावीर ने जगत् कल्याण के लिए निर्वाण से पूर्व जो सब से अन्तिम वाणी कही है वह (उत्तराध्ययन) के नाम से प्रसिद्ध है। इस उत्तराध्ययन सूत्र को यदि समस्त जैन शास्त्रों का सार कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इसमें छत्तीस अध्ययन हैं।

सारे उत्तराध्ययन सूत्र को क्रमशः आद्योपांत पढ़ने में बहुत समय की आवश्यकता होती है। अकेले उत्तराध्ययन के लिये यह बात है तो समस्त द्वादशागी वाणी के लिए बहुत समय, शक्ति और ज्ञान की आवश्यकता है। भगवान् की समस्त वाणी को समझाना और समझना हमारी शक्ति के बाहर है। हमारी शक्ति गागर उठाने की है। सागर उठाने की हमारी शक्ति नहीं है। हमारा सद्भाग्य है कि पूर्वाचार्यो ने हम अल्प शक्ति वाले लोगों के लिए भगवान् की द्वादशांगी वाणी रूपी सागर को इस उत्तराध्ययन रूपी गागर में भर दिया है। इस गागर को हम उठा सकते हैं, समझ सकते हैं। पूर्व के

उपकारी महात्माओं ने यह प्रयत्न किया है, मगर शास्त्रों को समझने की असली कुंजी हमारी आत्मा में है। शास्त्र तो निमित्त कारण हैं। कागज और स्याही के लिखे होने से जड़ वस्तु हैं। शास्त्र समझने का वास्तविक कारण उपादान कारण हमारी आत्मा है। उदाहरण के लिए, सब लोग पुस्तकें पढ़ते हैं किन्तु जिनका हृदय विकसित हो, पूर्व–भाव के निर्मल संस्कार हों, उन्हीं को समझ में पुस्तकों में रही हुई गूढ़ बातें आती हैं। हर एक को समझ नहीं पड़ती। इसी बात को ध्यान में रख कर कक्षा–दर्जा के अनुसार पुस्तकें बनाई जाती हैं। सातवीं कक्षा में पढ़ाई जाने वाली पुस्तक यदि पहले दर्जे वाले विद्यार्थी को पढ़ाई जाय तो उसकी समझ में कुछ न आयेगा। कारण कि प्रथम कक्षा के विद्यार्थी का दिमाग अभी उतना विकसित नहीं हुआ है। यही बात शास्त्र के विषय में भी है। जिसकी बुद्धि का जितना विकास हुआ होगा उतना ही उसे शास्त्र ज्ञान हासिल हो सकता है। शास्त्र समझने का असली उपादान कारण आत्मा है और जिसका आत्मा जितना निर्मल, वासना–रहित होगा उतना ही वह समझ सकेगा, हृदय में धारण करके आचरण में भी उतार सकेगा।

समस्त उत्तराध्ययन का वर्णन करना, उसमें रहे हुए गूढ़ विषयों का भावार्थ समझाना बहुत कठिन है। समय भी अधिक चाहिये, सो नहीं है। अतः उत्तराध्ययन में बीसवें अध्ययन का वर्णन किया जाता है।

यह बीसवां अध्ययन इस जमाने के लोगों के लिए नौका समान है। मानव हृदय में जितनी शंकाएं उठती हैं, उन सब का समाधान इस अध्ययन में है, ऐसी मेरी धारणा है। इस अध्ययन का वर्णन मैंने पहले बीकानेर में किया था, अतः अब पुनः वर्णन करने की जरूरत नहीं है। किन्तु मेरे सन्तों का आग्रह है कि उसी अध्ययन का यहां भी पुनः विवेचन किया जाय। सन्तों के कहने से मैं इस पर व्याख्यान प्रारम्भ करता हूं। इस अध्ययन को आधार बनाकर मैं कुछ कहना चाहता हूं।

उन्नीसवें अध्ययन में मृगापुत्र का वर्णन है। उस में कहा गया है कि साधु महात्माओं को डाक्टरों की शरण में न जाकर अपनी आत्मा का ही सुधार करना चाहिए। आत्मा का ही सुधार करना या जागना– इसका अर्थ यह है कि स्थविरकल्पी साधु वैद्य डाक्टरों की सहायता ले। स्थविरकल्पी साधु वैद्य डाक्टरों की सहायता ले सकते हैं। मगर यह अपवाद मार्ग है। शारीरिक बीमारी मिटाने के लिए दवा–दारू देना उत्सर्ग मार्ग नहीं है। उत्सर्ग तो यही है कि सिवा भगवान् या अपनी आत्मा या अन्य किसी की

सहायता न लेकर आत्म जाग्रति में तल्लीन रहे। इस बीसवें अध्ययन में इसी बात का वर्णन है कि साधु वैद्यों की शरण न ले। वैद्य या अन्य कुटुम्बी कोई भी इस आत्मा का त्राण करने में समर्थ नहीं है। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि आत्मा में बहुत शक्ति रही हुई है। भूतकाल में आत्मा कैसी भी स्थिति में रहा हो, वर्तमान में कैसी भी स्थिति में हो और भविष्य में भी कैसी ही स्थिति में रहे, इस बात की चिन्ता नहीं। किन्तु इस स्थिति का यदि त्याग कर दिया जाय तो आत्मा में अनन्त शक्ति का विकास हो सकता है और वह सब कुछ करने में समर्थ भी हो सकता है।

इस बीसवें अध्ययन में जो कुछ कहा हुआ है, उस सब का सार यह है कि खुद के डाक्टर खुद बनो। ऐसा करने से किसी का आसरा (शरण) लेने की आवश्यकता न रहेगी। आत्मा की शक्ति से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के ताप--कष्ट दूर हो सकते हैं। त्रयताप के विनाश हो जाने पर आत्मा में किसी प्रकार का सन्ताप नहीं रहता। कोई संसार का भी प्राणी सन्ताप नहीं चाहता। कोई भी आत्मा अशांति नहीं चाहता। सब कोई शांति चाहते हैं। किन्तु शांति प्राप्त करने के लिए किस प्रकार के प्रयत्न अब तक किये हैं, यह शास्त्रीय दृष्टि से देखना चाहिये। हमारे प्रयत्नों में क्या कमी है कि जिससे चाहने पर भी सुख शांति हम से दूर भागती है।

इस बीसवें अध्ययन का वर्णन किस प्रकार किया गया है, यह बताते हुए मैं इसी अध्ययन की प्रथम गाथा द्वारा परमात्मा की प्रार्थना करता हूं।

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजायाणं च भावओ।
अत्थ धम्म गइं तच्चं, अणु सिट्ठिं सुणेह मे।

यह मूल सूत्र है।

गुरु शिष्य से कहते हैं कि मैं तुम्हें शिक्षा देता हूं, तुम्हें मुक्ति का मार्ग बताता हूं। किन्तु यह कार्य मैं अपनी शक्ति पर ही भरोसा रख कर नहीं करता। सिद्ध और संयतियों को नमस्कार करके, उनकी शरण लेकर, उनके आधार पर यह काम करता हूं।

वैसे तो जहां का मार्ग पूछा जाता है, वहीं का मार्ग बताया जाता है किन्तु यहां मुक्ति का मार्ग बताया जाता है। गुरु कहते हैं मैं अर्थ धर्म का मार्ग बताता हूं पहले अर्थ का अर्थ समझ लेना चाहिये।

अर्थ्यते प्रार्थ्यते धर्मात्मभिरिति अर्थः। स च प्रकृते मोक्षः,
संयमादिर्वा। स एव धर्मः। तस्य गातेः ज्ञानम्
यस्यां तां अनुशिष्टं मे शृणुत इत्यर्थः।।

अर्थः धर्मात्मा लोगों के द्वारा जिसकी चाहना की जाय, वह अर्थ है। यहां अर्थ से मतलब मोक्ष या संयम से है। मोक्ष या संयम ही धर्म है। उसकी गति या मार्ग ज्ञान है। उस ज्ञान का वर्णन मुझ से सुनो।

जिसकी इच्छा की जाय, उसे अर्थ कहते हैं। सामान्य मोटी बुद्धि वाले लोग अर्थ का मतलब धन करते हैं। और धन के लिए ही रात दिन दौड धूप किया करते हैं। किन्तु यहां अर्थ का मतलब धन नहीं है। आप लोग मेरे पास धन लेने नहीं आये हैं। धन का मैं कतई त्याग कर चुका हूं। धन के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु आप चाहते हैं और वही ग्रहण करने के लिए यहां आए हो। कदाचित् किसी गृहस्थ की यह मंशा हो सकती है कि महाराज के व्याख्यान श्रवण करने से या किसी अन्य बहाने से धन मिल सकता है किन्तु ये सन्त और सतियां जो यहां आये हुए हैं किसी भौतिक पौद्गलिक चाहना से नहीं आये हैं किन्तु परमार्थ की भावना से आये हैं। सन्त और सतियां आई हैं इसी से मालूम हो जाता है कि अर्थ का अर्थ धन नहीं, किन्तु कोई अन्य वस्तु है। वह अन्य वस्तु मुक्ति से जुदा नहीं हो सकती। मुक्ति संसार के बंधनों से छुटकारा पाने की इच्छा ही वास्तविक अर्थ है।

जिसकी इच्छा की जाय, वह अर्थ है। किन्तु इस में इतना और बढ़ा देना चाहिए कि धर्मात्मा लोग जिसकी इच्छा करें, वह अर्थ है। धर्मात्मा लोग धर्म की ही इच्छा करते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि यहां अर्थ का मतलब धर्म है। आगे और स्पष्ट कहा है कि धर्म रूपी अर्थ में जिससे गति होती है, वह शिक्षा देता हूं। धर्म रूपी अर्थ में ज्ञान से गति होती है। ज्ञान द्वारा ही धर्म रूपी अर्थ प्राप्त किया जा सकता है। अतः सारे कथन का यह भावार्थ निकलता है कि मैं ज्ञान की शिक्षा देता हूं। ज्ञान प्रकाश है और अज्ञान अंधकार। ज्ञान रूपी प्रकाश से आत्मदेव के दर्शन सुलभ हैं।

ज्ञान का अर्थ भी बड़ा लम्बा होता है। संसार व्यवहार का ज्ञान भी ज्ञान ही कहलाता है। आधुनिक भौतिक विज्ञान भी ज्ञान ही है। किन्तु यहां कहा गया है कि धर्म रूपी अर्थ में गति कराने वाले तत्व का ज्ञान देता हूं अर्थात् संसार प्रपंच का ज्ञान नहीं देता, किन्तु तत्व का ज्ञान देता हूं। यह ज्ञान शिष्य में भी मौजूद है मगर जाग्रत अवस्था में नहीं है, दबा हुआ है। उस छिपे हुए ज्ञान को मैं प्रकट करने की कोशिश करूंगा। शिक्षा देकर उस ज्ञान को जगाऊंगा।

दीपक में तैल भी हो और वत्ती भी हो किन्तु यदि अग्नि का संयोग हो तो दीपक जल नहीं सकता, वह प्रकाश नहीं कर सकता। इसी प्रकार

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थ निकारतः।।

अर्थात् धर्म रूपी तीर्थ के कर्त्ता ज्ञानी लोग अपने तीर्थ का पराभव देखकर परम पद को पहुंच कर भी पुनः संसार में लौट आते हैं।

यदि सिद्धि स्थल में पहुंचकर भी वापस संसार में आ जाते हों तो वह सिद्धि स्थल ही न कहा जायेगा। सिद्धि मुक्ति तो उसे ही कहते हैं कि जहां पहुंच कर वापस नहीं लौटना पड़ता। कहा है–

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

अर्थात्– जहां जाकर वापस न आना पड़े वह परमधाम है और वही सिद्धों का स्थान है। उसे ही सिद्धि कहते हैं। जहां जाकर वापस आना पड़े वह तो संसार ही है।

व्युत्पत्ति के अनुसार सिद्ध शब्द का तीसरा अर्थ भी होता हैं। षिधु संरोद्धौ' जो कृतकृत्य हो चुके हैं, जिनको अब कोई काम करना बाकी न रहा है, वे भी सिद्ध कहे जाते हैं।

जैसे पकी हुई खिचड़ी को पुनः कोई नहीं पकाता। यदि कोई पकी हुई खिचड़ी को पकाता है तो उसका यह काम व्यर्थ समझा जाता है। इसी प्रकार जिसने सब काम कर लिए हैं और करने के लिए शेष कुछ नहीं रहा है, वह सिद्ध है। इस प्रकार सिद्ध शब्द के ये तीन अर्थ हैं। शब्द एक ही है किन्तु जैसे एक शब्द में नाना घोष होते हैं उसी प्रकार एक शब्द के अनेक अर्थ भी हो सकते हैं।

सिद्ध शब्द का एक चौथा अर्थ भी किया जाता है। 'षिधून शास्त्रो मांगल्ये वा।' इसका अर्थ है जो दूसरों को कल्याण मार्ग का उपदेश देता है और उपदेश देकर मोक्ष को पहुंचा है, वह साक्षात् सिद्ध है। शास्ता अर्थात् दूसरों को उपदेश देने वाला।

यदि दूसरों को उपदेश कर मुक्ति जाने वाले को सिद्ध कहा जायेगा तो अरिहन्त होकर जिन्होंने मुक्ति पाई है, वे ही सिद्ध कहे जायेंगे अन्य नहीं। किन्तु सिद्ध तो पन्द्रह प्रकार के कहे गये हैं। इसके उपरान्त मूक केवली जो कि किसी को उपदेश नहीं देते तथा अन्तकृत् केवली जो कि अन्तिम समय में केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति पहुंच जाते हैं, जिनके लिए दूसरों को उपदेश देने का अवसर ही नहीं रहता, क्या वे सिद्ध नहीं कहे जायेंगे? क्या ध्यान मौन आत्म कल्याण करने वाले महात्मा के लिए (सिद्ध शब्द के लिए) प्रयुक्त शास्ता शब्द लागू नहीं होगा?

इसका उत्तर यह है कि जो महात्मा मौन रह कर जीवन व्यतीत करते हैं तथा जिन्हें उपदेश देने का अवसर ही न मिला हो वे भी जगत् का कल्याण करते ही हैं। उनके लिए भी यह शास्ता शब्द लागू होता है। ध्यान मौन द्वारा मोक्ष प्राप्त करने वाले भी महात्मा है। संसार को मौन शिक्षा की भी बहुत आवश्यकता है। हिमालय की गुफा में बैठ कर या किसी एकांत शांत स्थान पर ध्यानस्थ होकर एक योगी संसार को जो सहायता पहुंचाता है और उसके द्वारा जगत् का जो कल्याण साधता है, उसकी बराबरी बहुत उपदेश झाड़ने वाले किन्तु आचरण शून्य व्यक्ति कभी नहीं कर सकते। यह संसार अधिकतर न बोलने वालों की सहायता से ही चलता है। मूक सृष्टि के आधार पर ही यह बोलने वाली सृष्टि निर्भर रही है। पृथ्वी पानी आदि के जीव मूक ही हैं। ये मूक जीव ही इस बोलती हुई सृष्टि का पालन करते हैं। इस से यह बात समझ में आ जायेगी कि उपदेश न देने वाले महात्मा भी जगत् का कल्याण करते ही हैं। वासनाओं से रहित उनकी शान्त, दान्त और संयत आत्मा से वह प्रकाश–आध्यात्मिक तेज निकला है कि जिससे आधि, व्याधि और उपाधि से संतप्त आत्माओं को अपूर्व शांति मिल सकती है।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्न संशयाः।

अर्थात्– गुरु के मौन होने पर भी उनकी आकृति आदि के दर्शन मात्र से संशय छिन्न भिन्न हो जाते हैं नास्तिक से नास्तिक शिष्य भी गुरु की ध्यानावस्थित आकृति में आस्तिक बनने के दृष्टान्त मौजूद हैं। अतः यह बात सिद्ध हो जाती है कि मौखिक उपदेश न देने वाले महात्मा भी जगत् का कल्याण करते ही हैं। उनके आचरण से जगत् बहुत शिक्षा ग्रहण करता है।

दूसरी बात सिद्ध भगवान् मोक्ष गये हैं, इसी से लोग मोक्ष की इच्छा करते हैं। यदि वे मोक्ष न पहुंचते तो कोई मोक्ष की इच्छा करता? वे महात्मा मन, वचन और काया को साध कर मोक्ष गये और इस तरह संसार के लोगों को अपना आदर्श रख कर मोक्ष का मार्ग बताया। संसार के प्राणियों में मुक्ति की ख्वाहिश पैदा की। अतः उनको शास्ता कहा जा सकता है।

'षिधून् शास्त्रे मांगल्ये वा' में शास्ता के साथ ही साथ जो मांगलिक है वे भी सिद्ध कहे गये हैं। मांगलिक का अर्थ पाप नाश करने वाला होता है। 'मां अर्थात् पापं गालयतीति मांगलिकः।' जो पाप का नाश करने वाले हैं, वे सिद्ध हैं।

यहां यह शंका होती है कि जो पाप का नाश करने वाला है, वह सिद्ध है तो बड़े बड़े महात्मा, जो कि पाप के नाश करने वाले थे, उनको पाप

का उदय कैसे हुवा? उन महात्माओं को रोग तथा दुःख कैसे हुए? गजसुकुमार मुनि के सिर पर अंगारे रखे गये और भगवान् महावीर को लोहीठाण की बीमारी हुई। क्या उनमें सिद्धों की मांगलिकता न थी?

बात यह है कि कष्ट पाने वाला व्यक्ति कष्ट देने वाले व्यक्ति के प्रति राग द्वेष पूर्ण भावना लाता है, तब तो उसकी मांगलिकता नष्ट होती है। राग द्वेष करने के कारण वह मंगल रूप न रह कर अमंगलरूप बन जाता है। किन्तु जो महापुरुष कष्ट देने वाले के प्रति प्रेम की वर्षा करते हैं, उसके लिए सद्भाव रखते हैं, उसके सुधार की कामना करते हैं, वे सदा मांगलिक ही हैं। गजसुकुमार मुनि ने सिर पर अग्नि के अंगारे रखने वाले का मन में बड़ा उपकार माना कि इस सोमिल ब्राह्मण ने मेरी शीघ्र मुक्ति में बड़ी सहायता की है। तथा भगवान् महावीर ने अपने पर तेजोलेश्या फेंकने वाले गोशालक पर क्रोध नहीं किया था। वे मंगलरूप ही बने रहे। इस प्रकार उनमें मांगलिकता घटित होती है। पूर्वजन्म के बैर बदले के कारण वेदना या दुःख आदि हो सकते हैं मगर उन वेदनाओं और दुःखों में जो अविचल रहता है, वह सदा मांगलिक है।

सिद्ध भगवान् में भाव मांगलिकता है, द्रव्य मांगलिकता नहीं है। आप लोग द्रव्य मंगल देखते हैं। जिसमें भाव मंगल हो वह द्रव्य मंगलजन्य चमत्कार दिखा सकता है किन्तु सिद्धि पद को पाने वाले महात्मा ऐसा नहीं करते। न ऊंचे पहुंचे हुए महात्मा ही चमत्कार दिखाने के झंझट में पड़ते हैं। वे अपनी आत्मशांति में मशगूल रहते हैं। यदि उन्हें चमत्कार दिखाने की इच्छा होती तो वे चक्रवर्ती का राज्य और सोलह-सोलह हजार देवों की सेवा का त्याग क्यों करते और संयम क्यों लेते? चमत्कार करने वाले देव ही स्वयं सेवक हों तब क्या कमी रह जाती है?

जिस प्रकार सूर्य की कोई पूजा करता है और कोई उसे गाली देता हैं। किन्तु सूर्यपूजा करने वाले और गाली देने वाले को समान रूप से प्रकाश प्रदान करता है। वह पूजा करने वाले पर प्रसन्न नहीं होता और गाली देने वाले पर अप्रसन्न भी नहीं होता। दोनों पर समभाव रखता हुआ अपना प्रकाश प्रदान रूप कर्त्तव्य करता रहता है। इसी प्रकार सिद्ध भगवान् भी किसी बुराई पर

! न देते हुए सब का कल्याण रूप मंगल करते हैं।

सिद्ध शब्द का पांचवां अर्थ यह भी होता है कि जिनको आदि तो

लेकि अन्त नहीं है।

गुरु महाराज शिष्य से कहते हैं कि मैं ऐसे सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके धर्मरूपी अर्थ का सच्चा मार्ग बताता हूं।

सिद्ध को नमस्कार करके सूत्रकार भाव से संयति को नमस्कार करते हैं। संयति शब्द का अर्थ साधु होता है। साधु दो प्रकार के हो सकते हैं, द्रव्य साधु और भाव साधु। यहां शास्त्रकार द्रव्य साधु को नमस्कार नहीं करते मगर जो भाव साधु हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं। शास्त्र के रचने वाले गणधर चार ज्ञान के स्वामी थे फिर भी वे उनको नमस्कार करते हैं जो भाव से संयति हो। आजकल के साधुओं को ख्याल करना चाहिए कि यदि उनमें भाव साधुता है तो गणधर भी उनको नमन करते हैं। भाव साधुता से ही द्रव्य साधुता शोभती है। कोरा वेष शोभा नहीं देता। गुणों के साथ वेष देदीप्यमान होता है। भाव साधुता न हो तो कुछ भी नहीं है।

इस बीसवें अध्ययन में जो कुछ कहा गया है वह सब शास्त्रकार ने संक्षेप में इस पहली गाथा में ही कह डाला है। पहली गाथा में सारे अध्ययन का सार किस प्रकार दिया गया है यह बात कोई विशेषज्ञ ही समझ सकता है। केवल जैन सूत्रों के विषय में ही यह बात नहीं है किन्तु जैनेतर ग्रन्थों में भी यह परिपाटी देखी जाती है कि सूत्र के आदि में ही सारे ग्रन्थ का सार कह दिया जाता है।

मैंने कुरान शरीफ का अनुवाद देखा है। उसमें बताया गया है कि 124 इलाही पुस्तकों का सार तीरत, एंजिल, जब और कुरान इन पुस्तकों में लाया गया और इन चारों का सार कुरान में लाया गया है। सारे कुरान का सार उसकी पहली आयत में है:–

बिस्मिल्लाह रहिमाने रहीम

सारे कुरान का सार एक ही आयत में कैसे समाया हुआ है। यह बात समझाने लायक है, जबकि इस आयत में रहमान और रहीम दोनों आ गये तब कुरान में और क्या रह जाता है? हिन्दू धर्म ग्रंथों में भी कहा गया है कि 'दया धर्म का मूल' है। यद्यपि इस शब्द में केवल दो ही अक्षर हैं किन्तु इसमें धर्म का सम्पूर्ण सार आ गया है। दया में सम्पूर्ण धर्म का सार आ गया है, यह बात कुरान, पुरान, वेद या आगम से तो सिद्ध होता ही है मगर हमारी आत्मा इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।

मान लीजिये कि आप एक निर्जन जंगल में जा रहे हैं। वहां कोई व्यक्ति नंगी तलवार लेकर आपके सामने उपस्थित होता है और आपकी जान लेना चाहता है। उस समय आप उस व्यक्ति में किस बात की खामी अनुभव

करेंगे? यही कि उस व्यक्ति में दया नहीं है। ठीक उसी वक्त एक दूसरा व्यक्ति उपस्थित होता है और आप दोनों के बीच में होकर उस आततायी हत्यारे से कहता है कि ऐ पापी! इस व्यक्ति को मत मार। यदि तू खून का ही प्यासा है तो मुझे मार कर अपनी प्यास बुझा ले मगर इस व्यक्ति को मत मार। कहिये, यह दूसरा व्यक्ति आपको कैसा मालूम देगा? इसमें आपको क्या विशेषता नजर आयेगी? आप कहेंगे यह दूसरा व्यक्ति बड़ा दयालु है। इस में दया बसी है। इस व्यक्ति में दया है और उस व्यक्ति में हिंसा है। यह बात आपने कैसे जानी? किस प्रमाण से जानी? मानना होगा कि उसमें हमारी आत्मा ही प्रमाण है। आत्मा अपनी रक्षा चाहता है अतः रक्षण और भक्षण करने वाले को वह तुरन्त पहचान जाता है। दया–अहिंसा आत्मा का धर्म है। यदि आपको धर्मात्मा बनना हो तो दया को अपनाइये। शास्त्र में कहा है:–

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसई किंचणन्।

यदि तू अधिक न जाने तो इतना तो अवश्य जान कि जैसा तेरा आत्मा है वैसा ही दूसरे का भी है। जो बात तुझे बुरी लगती है, वह दूसरे को भी वैसी ही लगती है। एक फारसी कवि ने कहा है कि–

ख्वाहि कि तुरा हेच बदी न आयद पेश।
तात्वानी बदी मकुन अज कमोवेश।।

यदि तू चाहता है कि मुझ पर कोई जुल्म न करे तो जिन्हें तू जुल्म मानता है, वे जुल्म तू स्वयं दूसरों पर मत कर।

यदि कोई आपको मार पीट कर आपके पास की वस्तु छीनना चाहे या झूठ बोलकर आपको ठगना चाहे अथवा आपकी बहू बेटी पर बुरी नजर करे तो आप उसे जुल्मी मानोगे न? ऐसी बातें समझाने के लिए किसी पुस्तक या गुरु की जरूरत नहीं होती। आत्मा स्वयं गवाही दे देता है कि अमुक बात भली है या बुरी। ज्ञानी कहते हैं कि जिन कामों को तू जुल्म मानता है वे दूसरों के लिए मत कर। किसी का दिल न दुखाना, झूठ न बोलना, चोरी न करना, पराई स्त्री पर बुरी निगाह न करना और आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग वस्तुएं संग्रह करके न रखना यह पांच महानियम है जिनके पालन करने से कोई जुल्मी नहीं बचता। जो बात हमें अच्छी लगती है वही दूसरे के लिए करनी चाहिए। यदि आप जुल्मी न बनोगे तो दूसरा भी जुल्म करना छोड़ ॰ । इस बात को जरा गहराई से सोचिये। केवल दूसरे के जुल्मों की तरफ ख्याल न करो, अपने आपको भी देखो। करीमा में कहा है:–

चहल साल उम्रे अजीज गुजश्त।
मिजाजे तो आज हाल तिफलो न गश्त।।

यानी तेरी उम्र के चालीस साल बीत गये तब भी तेरा बचपन नहीं गया। अब तो बचपन छोड़ कर बात समझो। जिनको तुम जुल्म या अत्याचार मानते हो, वे कार्य यदि दूसरे त्यागें या न त्यागें किन्तु यदि तुम्हें धर्मी बनना है तो तुम स्वयं ऐसे काम छोड़ दो।

कोई राजा यह कभी नहीं सोचता कि मैं अकेला ही राजा क्यों हूं, सब लोग राजा क्यों नहीं है? दूसरे ने जुल्म त्यागे हैं या नहीं, इसका विचार न करके जो बात बुरी है, उसे हमें त्याग देना चाहिए।

सिद्ध या बिस्मिल्लाह कह कर किसी बात के शुरू करने का अर्थ क्या है? क्या सिद्ध से कोई बात छिपी हुई रह सकती है? सिद्ध का नाम लेकर कोई कार्य शुरू किया जाय, किन्तु हृदय में पाप रखा जाय, कपटपूर्वक कार्य किया जाय तो क्या सिद्ध का नाम लेना सार्थक है? कभी भी नहीं। रहम और रहमान की जान लेने पर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता।

विद्वान लोग कहते हैं कि कयामत के वक्त या और किसी वक्त जो मोमिन और काफिर पर रहम करता है, वह रहमान है। वह रहमान इसीलिए है कि बिना भेदभाव के सब पर दया करता है। कोई कह सकता है कि रहमान मोमिनों पर दया करे वह तो ठीक है मगर काफिरों पर दया कैसी? काफिरों पर क्यों दया की जाय? इसका उत्तर यह है कि मोमिन और काफिर अपने-अपने कामों से होते हैं। कोई हिन्दू है अतः काफिर है और कोई मुसलमान है अतः मोमिन है, यह बात नहीं है। यदि दो मुसलमान आपस में लड़ रहे हों और तीसरा हिन्दू आकर उनकी लड़ाई मिटा दे तो उस हिन्दू को काफिर कहा जायेगा? कदापि नहीं। और क्या लड़ने वाले उन दोनों मुसलमानों को मोमिन कहा जायेगा? नहीं। काफिर और मोमिन किसी जाति विशेष में जन्म लेने से नहीं होता किन्तु जिसमें रहम दया हो, शैतानियत का अभाव हो, वह मोमिन है और जिसमें रहम-दया न हो, शैतानियत हो वह काफिर है।

शास्त्र में यह कहा गया है कि मैं कल्याण की शिक्षा देता हूं। क्या यह शिक्षा केवल साधुओं के लिए ही है अथवा केवल श्रावकों के लिए ही, या सब के लिए है? जब सूर्य बिना भेदभाव के सब के लिए प्रकाश प्रदान करता है तब जिन भगवान् के लिए-

सूर्यातिशायि महिमासि जिनेन्द्र लोके

हे जिनेन्द्र! जगत्! में आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़कर है, इत्यादि कहा गया हो वे भगवान् जगत् में शिक्षा देने में क्या भेदभाव कर सकते हैं?

अत्यन्त महिमा वाले भगवान् की वाणी किसी व्यक्ति विशेष के लिए न होगी, सब के लिए होगी।

सूर्य सब के लिए प्रकाश करता है, फिर भी यदि कोई यह कहे कि हमें सूर्य प्रकाश नहीं देता, अन्धेरा देता है, तो क्या यह कथन ठीक हो सकता है? कदापि नहीं। चमगादड़ और उल्लू यह कहें कि हमारे लिए सूर्य किस काम का? सूर्य के उदय होने पर हमारे लिए अधिक अंधेरा छा जाता है। इसके लिए कहना होगा कि इस में सूर्य का कोई दोष नहीं है, वह तो सब के लिए समान रूप से प्रकाश प्रदान करता है। किन्तु यह उनकी प्रकृति का दोष है कि जिससे प्रकाश देने वाली किरणें भी उनके लिए अंधकार का काम देती है।

सूर्य के समान ही भगवान् की वाणी सब के लाभ के लिए है। किसी की प्रकृति ही उल्टी हो और वह लाभ न ले सके तो दूसरी बात है। जिनके हृदय में अभिमान भरा हो वे लोग भगवान् की वाणी से लाभ नहीं उठा सकते। भगवान् की वाणी रूपी किरणें ऐसे लोगों के हृदय प्रदेश में प्रकाश नहीं पहुंचा सकतीं।

भगवान् की वाणी का सहारा और लाभ किस प्रकार लिया जा सकता है, यह बात चरित्र कथन के द्वारा समझाता हूं, जिससे कि सब की समझ में आ जाय। चरित्र के जरिये प्रत्येक बात की समझ बहुत जल्दी पड़ती है। जो लोग तत्वज्ञान की बातें इस तरह नहीं समझ सकते, उनके लिए चरितानुवाद बहुत सहायक है। यदि कोई मनुष्य अपने हाथ में रंग लेकर कहे कि मेरे हाथ में हाथी है या घोड़ा, तो सामान्य मनुष्य को इसमें गतागम न पड़ेगी। किन्तु यदि वही मनुष्य रंग में पानी डालकर उससे हाथी या घोड़े या चित्र बना कर पूछे कि यह क्या है, तो बड़ी सरलता से कोई भी बता सकता है कि क्या है। जो चित्र बनाया गया है वह रंग का ही है। किन्तु साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति उस रंग के पीछे रही हुई कर्त्ता की शक्ति विशेष को नहीं पहचान सकता। उसे रंग में हाथी घोड़ा नहीं दिखाई दे सकता। इसी प्रकार भगवान् की वाणी जब सीधी तरह समझ में नहीं आती तब उसे समझाने के लिए चरितानुवाद का सहारा लेना पड़ता है। चरित्र प्रथमानुयोग कहा जाता है अर्थात् प्रथम सीढ़ी वालों के लिए यह बहुत लाभप्रद है। मैं चरितानुयोग का कथन बहुत कठिन मानता हूं, चरित्र के द्वारा सुधार भी किया जा सकता है और बिगाड़ा भी। अतः चरित्र वर्णन में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता

धर्म की गूढ़ बातें समझाने के लिए चरित्र-वर्णन करता हूं। इस चरित्र के नायक साधु नहीं किन्तु एक गृहस्थ हैं, जो अपनी पिछली अवस्था में साधु बने हैं। गृहस्थ के चरित्र का वर्णन करके महापुरुषों ने यह बता दिया है कि गृहस्थ भी कितने ऊंचे दर्जे तक धर्म का पालन करते हैं। साधुओं को, ग्रहण किये हुए पंच महाव्रत किस प्रकार पालन करने चाहिए, यह इससे शिक्षा लेनी होगी। चरित्र नायक का नाम सेठ सुदर्शन है। मेरी इच्छा इन्हीं के गुणानुवाद करने की है, अतः आज से प्रारम्भ करता हूं।

सिद्ध साधु को शीश नमा के, एक करूं अरदास।
सुदर्शन की कथा कहूं मैं, पूरो हमारी आस।।
धन सेठ सुदर्शन, शीयल शुद्ध पाली, तारी आतमा।।

धर्म के चार अंग हैं– दान, शील, तप और भावना। चारों का वर्णन एक साथ नहीं किया जा सकता। अतः कथा द्वारा शील का कथन किया जाता है। शील के साथ साथ गौण रूप से दान, तप और भाव का भी कथन रहेगा। किन्तु मुख्य कथा शील की है। जैसे नाटक दिखाने वाले यह कहते है कि आज राम का राज्याभिषेक दिखाया जायेगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि राज्याभिषेक के सिवाय अन्य दृश्य न दिखाये जायेंगे। राज्याभिषेक मुख्य रूप से बताया जाता है किन्तु गौण रूप से अन्य दृश्य भी दिखाये जाते हैं। इस कथा के नायक ने मुख्यतः शील का पालन किया है अतः प्रत्येक कड़ी में उसे धन्यवाद दिया गया है। कितनी कठिनाई के समय भी चरितनायक शील धर्म से विचलित न हुए और अपना यह आदर्श चरित्र पीछे वालों के लिए छोड़ गये हैं।

शील का पालन करके अनन्त जीव अपना कल्याण साध चुके हैं। उन सबके चरित्र का वर्णन शक्य नहीं है। किसी एक के चरित्र का ही वर्णन किया जा सकता है। रंग से अनेक हाथी घोड़े चित्रित किये जा सकते हैं मगर जिस समय जितने की आवश्यकता होती है, उतने ही चित्रित किये जाते हैं। एक समय में एक का ही चरित्र कहा जा सकता है। अतः सुदर्शन का चरित्र कहा जाता है।

साधारणतया शील का अर्थ स्त्री प्रसंग या अन्य तरीकों से वीर्यनाश न करना लिया जाता है। किन्तु यह अर्थ एकांगी है, शील का पूर्ण अर्थ नहीं है। शील की व्याख्या बहुत विस्तृत है। बुरे काम से निवृत्त होकर अच्छे काम में प्रवृत्त होने को शील कहते हैं। कार्य के प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप दो अंग हैं। बिना प्रवृत्ति के निवृत्ति नहीं हो सकती और बिना निवृत्ति के प्रवृत्ति भी

शक्य नहीं है। साधु के लिए समिति हो और गुप्ति न हो अथवा गुप्ति हो और समिति न हो तो काम नहीं चल सकता। समिति और गुप्ति दोनों की आवश्यकता है। समिति प्रवृत्ति है और गुप्ति निवृत्ति।

यदि सूर्य आपको प्रकाश न दे, पानी प्यास न बुझाये और आग भोजन न पकाये तो आप इनकी प्रशंसा न करेंगे। इसी प्रकार यदि महापुरुष अपना ही कल्याण साध लें किन्तु लोककल्याण के लिए प्रवृत्त न हों तो आप उनको वंदना क्यों करने लगेंगे? महापुरुष यदि जगत् कल्याण के कार्यों में भाग न लें तो बड़ा गजब हो जाय। तब संसार न मालूम किस रसातल तक पहुंच जाय?

शील का अर्थ बुरे काम छोड़ कर अच्छे काम करना है। पहले यह देखें कि बुरे काम क्या हैं? हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग, शराब आदि का नशा तथा अन्य दुर्व्यसन–ये बुरे काम है। बीड़ी, तम्बाखू, भंग आदि नशैली वस्तुओं का सेवन भी बुरे काम में गिना जाता है। इन सब कामों का त्याग करना संक्षेप में बुराई से निवृत्त होना कहा जाता है।

दूसरे के साथ बुरा काम करना, अपनी आत्मा के साथ बुराई करना है। दूसरे को ठगना अपनी आत्मा को ठगना है। अतः किसी की हिंसा न करना, किसी से झूठ बात न कहना, किसी की बहन बेटी पर बुरी निगाह न करना किन्तु मां बहिन समान समझना, नशे से तथा जुआ आदि व्यसनों से बचना, बुरे कामों से बचना है। इन बुरे कामों से बचकर दया, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि गुण धारण करना तथा खान–पान में वृद्धि न रखना अच्छे कामों में प्रवृत्त होना है। परस्त्री त्यागी भी यदि स्वस्त्री से ब्रह्मचर्य का खण्डन करता है तो वह अपूर्णशील है। जो स्वपर दोनों का त्याग करता है तो वह पूर्णशील पालने वाला है। शील की यह व्याख्या भी अधूरी है। शील की व्याख्या में पांचों महाव्रत भी आ जाते हैं।

सुदर्शन सेठ करोड़ों की सम्पत्ति वाला था। फिर भी वह किस प्रकार अपने शील व्रत पर दृढ़ रहा, यह यथा शक्ति और यथावसर बताने का प्रयत्न किया जायेगा। इस कथा को सुनकर जो अशुभ से निवृत्त होंगे, और शुभ में प्रवृत्त होंगे वे अपनी आत्मा का कल्याण करेंगे तथा सब सुख उनके दास बन कर उपस्थित रहेंगे।

राजकोट, 6–7–36 का व्याख्यान

3 : महा निर्ग्रन्थ व्याख्या

चेतन भज तू अरहनाथ ने प्रभु त्रिभुवन राया।

यह अठारहवें तीर्थकर भगवान् अमरनाथ की प्रार्थना है। समय कम है अतः इस प्रार्थना पर विशेष विचार न करके शास्त्रीय प्रार्थना पर विचार करता हूं। कल से उत्तराध्ययन का बीसवां अध्ययन शुरू किया है। इसका नाम महा निर्ग्रन्थ अध्ययन है। महान् और निर्ग्रन्थ शब्दों के अर्थ समझने हैं। पूर्वाचार्यो ने महान् शब्द के अर्थ बताते हुए अनेक बातें समझाई हैं। उन सब का विवेचन करने जितना समय नहीं है। सूत्र समुद्र के समान अथाह हैं। उनका पार हम जैसे कैसे पा सकते हैं? फिर भी कुछ कहना तो चाहिये, अतः कहता हूं।

शास्त्रों में महान् आठ प्रकार के बताये गये हैं। 1. नाम महान् 2. स्थापना महान् 3. द्रव्य महान् 4. क्षेत्र महान् 5. काल महान् 6. प्रधान महान् 7. अपेक्षा महान् 8. भाव महान्। बीसवें अध्ययन में इन आठ प्रकार के महान् में से किस प्रकार का महान् कहा गया है, यह जानने के पूर्व इनका अर्थ समझ लेना ठीक होगा।

1. नाम महान्– जिसमें महानता का कोई गुण नहीं है किन्तु केवल नाम से महान् हो वह नाम महान् है। जैसे शास्त्रों ने आरम्भ और अन्त समझाने का बहुत प्रयत्न किया है। वस्तु पहले नाम से ही जानी जाती है। मगर नाम जानकर ही न बैठना चाहिये किन्तु उसका स्वरूप भी जानना समझना चाहिये।

2. स्थापना महान्– किसी भी वस्तु में महानता का आरोपण कर लेना स्थापना महान् है।

3. द्रव्य महान्– द्रव्य महान् का अर्थ समझाने के लिये यह दृष्टान्त बताया गया है कि केवल ज्ञानी अन्त समय में जब केवली समुद्धात करते हैं

तब उनके कर्म प्रदेश चौदह राजू प्रमाण समस्त लोकाकाश में छा जाते हैं। उस समय उनके शरीर से निकला हुआ कार्मण शरीर रूप महास्कन्ध चौदह राजू लोक में पूर जाता है। यह द्रव्य महान् है।

4. क्षेत्र महान्– समस्त क्षेत्र में आकाश ही महान् है। आकाश लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है।

5. काल महान्– काल में भविष्य काल महान् है। जिसका भविष्य सुधरा उसका सब कुछ सुधर गया। भूतकाल चाहे जैसा रहा हो वह बीती हुई बात हो गया। अतः भविष्य ही महान् है। वर्तमान तो समय मात्र का है।

6. प्रधान महान्– जो प्रधान मुख्य माना जाता है, वह प्रधान महान् है। इसके सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीन भेद हैं। सचित्त भी द्विपद, चतुष्पद और अपद के भेद से तीन प्रकार का है। द्विपद में तीर्थंकर महान् हैं। चतुष्पद में सरभ अर्थात् अष्टापद पक्षी महान् है। अपद में पुण्डरीक कमल महान् है। वृक्षादि अपद जीवों में कमल महान् है। अचित्त महान् में चिन्तामणि रत्न महान् है। मिश्र महान् में राज्य सम्पदा युक्त तीर्थंकर का शरीर महान् है। तीर्थंकर का शरीर तो दिव्य होता ही है किन्तु वे जो वस्त्राभूषणादि धारण करते हैं वे भी महान् हैं। स्थापना के कारण वस्तु का महत्व बढ़ जाता है। अतः मिश्र महान् में वस्त्राभूषण, तीर्थंकर, शरीर है।

7. पडुच्च अपेक्षा महान्– सरसों की अपेक्षा चना महान् है और चने की अपेक्षा बेर महान् है।

8. भाव महान्– टीकाकार कहते हैं कि प्रधानता से क्षायिकभाव महान् है और आश्रय की अपेक्षा पारिणामिक भाव महान् है। पारिणामिक भाव के आश्रित जीव और अजीव दोनों हैं। किसी आचार्य का यह भी मत है कि आश्रय की दृष्टि से उदय भाव महान् है क्योंकि संसार के अनन्त जीव उदय भाव के ही आश्रित हैं। इस प्रकार जुदा–जुदा मत हैं। किन्तु विचार करने से मालूम होता है कि आश्रय की अपेक्षा पारिणामिक भाव महान् है। इसमें सिद्ध और संसारी दोनों प्रकार के जीव आ जाते हैं। अतः प्रधानता से क्षायिक भाव आश्रय से पारिणामिक भाव महान् हैं।

यहां महा निर्ग्रन्थ कहा गया है सो द्रव्य क्षेत्र आदि की दृष्टि से नहीं किन्तु भाव की दृष्टि से कहा गया है। जो महापुरुष पारिणामिक भाव से क्षायिक में वर्तते हैं उनको महान् कहा है।

अब निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिये। ग्रन्थ शब्द का अर्थ है गांठ। गाठें दो प्रकार की होती हैं। द्रव्य गांठ और भाव गांठ। जो द्रव्य

शास्त्र के आरम्भ में चार बातें होना जरूरी हैं। इन चारों बातों को अनुबन्ध चतुष्टय कहा गया है। वे चार बातें ये हैं। 1. प्रवृत्ति 2. प्रयोजन 3. संबंध 4. अधिकारी। किसी भी कार्य की प्रवृत्ति के विषय में पहले विचार किया जाता है। किसी नगर में प्रवेश करने के पूर्व उसके द्वार का पता लगाया जाता है। यदि द्वार न हो तो नगर में नहीं जाया जा सकता। अनुबंध चतुष्टय में कही गई चार बातों का विचार रखने से शास्त्र में सुख से प्रवृत्ति हो सकती है। अनुबन्ध चतुष्टय से शास्त्र की परीक्षा भी हो जाती है। जैसे लाखों मन अनाज और हजारों गज कपड़े की परीक्षा उनके नमूने से हो जाती है। शास्त्र में जो कुछ कहा जाने वाला हो उनकी बानगी प्रथम गाथा में ही बता दी जाती है जिससे वाचकों को मालूम हो जाता है कि अमुक ग्रन्थ में क्या विषय होगा।

पहले प्रवृत्ति होना चाहिये। अर्थात् यह शास्त्रवाचक को कहां ले जायेगा, उसका कोई उद्देश्य होना चाहिए। किस मकसद को लेकर ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है, यह पहले बताना चाहिए। आप जब घर से बाहर निकलते हैं तब कोई न कोई उद्देश्य जरूरी नक्की कर लेते हैं कि अमुक स्थान पर जाना है। यह बात अलग है कि उद्देश्य भिन्न भिन्न हो सकते हैं। किन्तु यह निश्चित है कि हर प्रवृत्ति का कोई न कोई उद्देश्य जरूरी होता है। दूध दही लेने के इरादे से निकला हुआ व्यक्ति दूध दही मिलने के स्थान की तरफ जायेगा और शाक भाजी के इरादे से निकला हुआ व्यक्ति साग बाजार की ओर जायेगा। जो जिस उद्देश्य से निकला है वह उसकी पूर्ति जिधर होती है उधर ही जाता है। जिसने मुक्ति पाने के लिये घर छोड़ा है वह मुक्ति की ओर जायेगा। अतः प्रथम शास्त्र का उद्देश्य बताया जाता है।

शास्त्र का उद्देश्य अर्थात् विषय जान लेने के बाद प्रयोजन जानना जरूरी है। इस शास्त्र के पढ़ने से किस प्रयोजन की सिद्धि होगी, यह बात दूसरे नम्बर पर है। प्रयोजन के बाद अधिकारी का विचार किया जाता है। शास्त्रों का मनन करने के लिये कौन व्यक्ति पात्र है, और कौन अपात्र है। इसके बाद शास्त्र का संबंध बताना चाहिए। किस प्रसंग से यह शास्त्र बना है, कौन वस्तु कहां से ली गई है, इस शास्त्र का कहने वाला कौन है और सुनने वाला कौन है आदि बताया जाना चाहिए।

इन चारों बातों से शास्त्र की परीक्षा भी हो जाती है यह पहले कह दिया गया है। इस महा–निर्ग्रन्थ अध्ययन में ये चारों बातें हैं, यह बात इसके नाम से ही प्रकट है। अभी समय कम है अतः फिर कभी अवसर होने पर अपनी

बुद्धि के अनुसार यह चेष्टा करूंगा कि किस प्रकार अनुबंध चतुष्टय का इस अध्ययन में समावेश है।

अब इसी बात को व्यावहारिक ढंग से कहा जाता है जिससे कि सामान्य समझ वाले व्यक्ति भी सरलता से समझ सकें। यह सबकी इच्छा रहती है कि महान् पुरुष की सेवा की जाय लेकिन महान् का अर्थ समझ लेना चाहिए। भागवत में कहा है कि–

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितासंगिसंगम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।।

अर्थात् मुक्ति का द्वार महान् पुरुषों की सेवा करना है और नरक द्वार कामिनी की संगति करने वाले की सोहबत करना है। महान् वे हैं जो समचित हैं, प्रशान्त हैं, क्रोध रहित हैं, सब के मित्र और साधु चरित्र हैं।

महान् पुरुष की सेवा को मोक्ष का द्वार बताया गया है और कनक कामिनी में फंसे हुओं की सेवा को नरक का द्वार। इस पर से हमारी उत्सुकता बढ़ जाती है कि महान् पुरुष कौन है जिसकी उपासना करने से हमारे बंधन टूट जाते हैं। जो बड़ी बड़ी जागीरें भोगते हैं, अच्छे गहने और कपड़े पहनते हैं, आलीशान बंगलों में निवास करते हैं, उन्हें महान् समझें अथवा किन्हीं दूसरों को?

जैन शास्त्रानुसार इसका खुलासा किया ही जायेगा किंतु पहले भागवत पुराण के अनुसार महापुरुष की व्याख्या समझ लें। भागवत पुराण कहता है कि इस प्रकार की उपाधि वालों को महान् नहीं समझना चाहिए। महान् उसे समझना चाहिए जो समचित्त हों। महान् पुरुष का चित्त का सम होना चाहिये। शत्रु और मित्र पर समभाव होना चाहिये। जिसका मन आत्मा में हो, पुद्गल में न हो, वह समचित्त है और वही महान् भी है।

समचित्त का अर्थ जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही मानना भी है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है और जड़ पदार्थ पुद्गल रूप है। इन दोनों को जुदा मानना तथा इनके धर्म भी जुदा–जुदा मानना समचित्त का लक्षण है। कोई यह शंका कर सकता है कि कार्माण शरीर की अपेक्षा से संसारी जीव के पीछे अनादि काल से उपाधि लगी हुई है, जिससे यह मेरा कान है, यह मेरी नाक है, यह मेरा मुख है आदि रूप से जड़ वस्तुओं को भी अपनी मानता है तब वह समचित्त कैसे रहा? यह ठीक है कि उपाधि के कारण जीवात्मा परवस्तु को भी अपनी कहता है लेकिन उपाधि को उपाधि मानना, यह भी समचित्त का लक्षण है।

यदि कोई व्यक्ति रत्न को कंकर कहे और कंकर को रत्न कहे तो वह मूर्ख गिना जाता है। जब कि रत्न और कंकर दोनों ही जड़ वस्तु हैं। कोई व्यक्ति जंगल में जा रहा था। भ्रमवश उसने सीप को चांदी मान लिया और चाँदी को सीप। उसके मान लेने से सीप चांदी नहीं हो गई और न चांदी ही सीप हो गई। किसी के उल्टा मान लेने से वस्तु अन्यथा नहीं हो जाती। किन्तु ऐसा मानने या कहने वाला जगत् में मूर्ख गिना जाता है। इसी प्रकार जड़ को चैतन्य और चैतन्य को जड़ कहने मानने वाले भी अज्ञानी समझे जाते हैं। इसी अज्ञान के कारण जीव मेरा तेरा कहा करता है। जो इस प्रकार की उपाधि में फंसे हैं, वे महान् नहीं हैं। वे जड़ पदार्थ के गुलाम हैं। वे आत्मानन्दी नहीं कहे जा सकते। महान् वे हैं जो खुद के शरीर को भी अपना नहीं मानते। अन्य वस्तुओं के लिए तो कहना ही क्या? व्यावहारिक भाषा से ज्ञानी जन भी मेरा शरीर, मेरा कान, नाक आदि कहेंगे मगर निश्चय में वे जानते हैं कि ये सब हमारे नहीं हैं। कहने का सारांश यह है कि समचित्त वाले उपाधि को उपाधि मानते हैं।

अब इस बात पर भी विचार करें कि महान् की सेवा किसलिए करें? कोई यह ख्याल करके महापुरुष की सेवा करे कि वे उसके कान में मंत्र फूंक देंगे या सिर पर हाथ धर देंगे तो वह ऋद्धिशाली हो जायेगा, महान् पुरुष का अपमान करना है। यह महान्पुरुष की सेवा नहीं गिनी जानी जायेगी किन्तु माया की सेवा गिनी जाएगी। जो इस भावना से महान् पुरुष की सेवा करता है कि मैं अनन्त काल से संसार के माया जाल में फंसा हुआ हूं, अज्ञान के कारण दुःख सहन कर रहा हूं, जड़ को अपना मान बैठा हूं, इन सब से महापुरुष की सेवा करके छुटकारा पाऊं, उसकी सेवा सफल है। ऐसी सेवा ही मुक्ति का द्वार है।

समचित्त वालों को कोई लाखों गालियां दे तो भी उनके मन में किंचित् विकार नहीं आता। कहते हैं कि एक बार पूज्य श्री उदयसागर जी महाराज रतलाम शहर में सेठजी के बाजार में और शायद उन्हीं के मकान में विराजते थे। उस समय रतलाम बहुत उन्नत शहर माना जाता था। और सेठ भोजाजी भगवान् की खूब चलती थी। पूज्य श्री की प्रशंसा सुन कर एक मुसलमान भाई के मन में उनकी परीक्षा लेने की भावना पैदा हुई। अवसर देखकर वह एक दिन उनके ठहरने के मकान पर उपस्थित हुआ। उस समय पूज्य श्री स्वाध्याय तथा अन्य धर्म क्रियाएं कर रहे थे। उस मुसलमान ने जैसी ं के मन में आई वैसी अनेक गालियां दीं। उसकी गालियां ऐसी थीं कि

सुनने वाले को गुस्सा आये बिना न रहे। किन्तु पूज्यश्री [illegible]
गालियां सुनकर भी विकृत न हुए। हंसाते ही रहे। उनके चेहरे पर किसी प्रकार
की तब्दीली के चिन्ह नजर न आये। आखिर वह मुसलमान हाथ जोड़कर
पूज्य श्री से कहता है कि आप सचमुच वैसे ही हैं जैसी मैंने आपकी प्रशंसा
सुनी है। वास्तव में आप सच्चे फकीर हैं। माफी मांग कर वह चला जाता है।

लेक्चर झाड़ते वक्त श्रोताओं को प्रशांत रहने का उपदेश देना बहुत
सरल है किन्तु प्रशांत रहने का मौका आये तब प्रशांत रहना बड़ा कठिन है।
महान् वह है जो सहन करने के अवसर पर सहनशीलता दिखाता है। कोई
पूछ सकता है कि क्या दूसरों की गालियां सुनते रहना और उनकी [illegible]
में सहायता करना सहनशीलता है? हां, महान् पुरुष वह है जो गालियां सुनते
वक्त भी शांतचित्त रहता है। महान् उन गालियों को अपने लिए नहीं मानते।
वे उन में से भी अपने अनुकूल सार बात ग्रहण कर लेते हैं। जब उनसे कोई
यह कहे कि 'ओ दुष्ट, यह क्या करते हो?'' तब वे अपने संबोधन में कसे हुए
दुष्ट विशेषण से भी कुछ न कुछ नसीहत ग्रहण करते हैं। महान् पुरुष अपने
लिए दुष्ट शब्द का प्रयोग सुनकर यह विचार करते हैं कि जिन कार्यों के करने
से मनुष्य दुष्ट बनता है, वे कार्य मुझ में तो नहीं पाये जाते? यदि दुष्टता की
कोई बात उनमें पाई जाती हो तो वे आत्मनिरीक्षण करके उसे बाहर निकाल
फेंकते है और दुष्ट कहने वाले का उपकार मानते हैं, किन्तु यदि उन्हें
आत्मनिरीक्षण के बाद यह ज्ञात हो कि उनमें दुष्ट बताने की कोई सामग्री नहीं
है तो वे ख्याल करके दुष्ट कहने वाले को माफ कर देते हैं कि यह किसी अन्य
के लिए कहता होगा अथवा भूल या अज्ञान से कह रहा होगा। अज्ञान और
भूल करने वाले सदा क्षमा करने योग्य होते हैं। मेरे समान वेशभूषा वाले किसी
अन्य व्यक्ति को दुष्टता करते देख कर इसने मेरे लिए भी दुष्ट शब्द का
व्यवहार किया– किन्तु इसमें इसकी भूल है। यह सोचकर महान् अपनी महत्ता
का परिचय देते हैं।

मान लीजिये कि सफेद साफा बांध रखा है। किसी ने आपको बुलाने
के लिए पुकारा कि ओ काले साफेवाले, इधर आओ। क्या आप यह बात
सुनकर नाराज होंगे? नहीं। आप यही विचार करेंगे कि मेरे सिर पर सफेद
साफा है और ये काले साफे वाले को बुला रहा है, सो किसी अन्य को बुलाता
होगा अथवा यह भी ख्याल कर सकते हैं कि भूल से सफेद शब्द के बजाय
काला शब्द इसके मुख से निकल गया है। ऐसा विचार करने पर न क्रोध
आयेगा और न नाराज होने का प्रसंग ही। इसके विपरीत यदि आपने यह

ख्याल कर लिया कि यह मनुष्य मुझे काले साफे वाला कैसे कहता है, इसकी भूल का मजा इसे चखाना चाहिये तो सामान होगा कि आपको अपने सिर पर बांधे हुए सफेद साफे पर विश्वास ही नहीं है।

यदि लोग इस सिद्धांत को अपना लें तो संसार में झगड़े टंटे ही न रहें। सर्वत्र शांति छा जाय। पिता–पुत्र या सास बहू में झगड़े इसी कारण होते हैं कि एक समझता है 'मैं ऐसा नहीं हूं फिर भी मुझे ऐसा कैसे कह दिया?' इसके बजाय यदि यह समझने लगे कि जब मैं ऐसा हूं ही नहीं, तब इसका ऐसा कहना व्यर्थ है। तब अशांति या झगड़े का कोई कारण खड़ा ही नहीं हो सकता। आप लोग निर्ग्रन्थ मुनियों की सेवा करने वाले हो, अतः सहनशीलता का यह गुण अपनाओ और समचित्त बन कर आत्मा का कल्याण करो। संसार में कोई किसी का अपमान नहीं कर सकता। हमारी आत्मा ही हमारा अपमान करता है।

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेणयदत्तं यदि लभ्यते ध्रुवं स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा।।

अर्थ– हमारी आत्मा ने पहले शुभ या अशुभ जो भी कृत्य किया है उसी का फल अब मिल रहा है। यह माना जाय कि दूसरा व्यक्ति हमारा शुभ या अशुभ कर रहा है तो खुद का किया हुआ कृत्य व्यर्थ हो जायेगा।

कहने का सारांश यह है कि जो प्रसंग पर क्रोधादि विकारों को काबू में कर सके, और सामने वाले को अपने प्रेम पूर्ण बर्ताव से जीत सके, वही महान् है और वही समचित्त भी है। ऐसे पुरुष जड़ पदार्थों के वश में नहीं होते। वे यह सोचते हैं कि–

जीव नावि पुग्गली नैव पुग्गल कदा पुग्गलाघार नहीं तास रंगी।
परतणो ईश नहीं अपरए एश्वर्यता वस्तु धर्मे कदा न परसंगी।।

श्री देवचन्द्र चौवीसी

जिस व्यक्ति की परमात्मा के साथ लौ लगी होगी, वह यह सोचेगा कि मैं पुद्गल नहीं हूं और पुद्गल भी मेरे नहीं हैं। मैं पुद्गलों का मालिक बन कर नहीं रहना चाहता तो उनका गुलाम होने की बात ही क्या है?

आज लोगों को जो दुःख है वह पुद्गलों का ही है। वे पुद्गलों के गुलाम बन रहे हैं। किन्तु यदि धैर्य रखा जाय तो पुद्गल उनके गुलाम बन सकते हैं, किन्तु लोग धैर्य छोड़ कर पुद्गल के पीछे पड़े हुए हैं, इसी से दुःख बढ़ रहा है। यह दुःख दूसरों का लाया हुआ नहीं है किन्तु अपने खुद के अज्ञान के कारण ही है।

श्री समयसार नाटक में कहा है कि:–

कहे एक सखी सयानी, सुन री सुबुद्धि रानी, तेरो पति दुखी–
लग्यो और यार है
महा अपराधी छहों माहीं एक नर सोई दुःख देत लाल दीसे
नाना पार है।
कहे आली सुमति कहा दोष पुद्गल की आपना हो मूल लाल
होता आपा वार है।
खोटो नाणो आपको शराफ कहा लागे वीर काहु को न दोष
मेरो मोंदू भरतार है।

इस प्रकार सब दोष या मूर्खता हमारी आत्मा की ही है। पुद्गलों का क्या दोष है? अतः पुद्गलों पर से ममता छोड़ो। हाय–हाय करने से कुछ लाभ न होगा।

अब सुदर्शन की कथा कही जाती है। मुझे सुदर्शन से किसी प्रकार का लेन देन नहीं है। पुद्गल को छोड़ने वाले सब महात्माओं को मेरा नमस्कार है। सुदर्शन ने भी पुद्गलों पर से ममता हटाई है अतः उसका गुणानुवाद किया जाता है और धन्य धन्य कहा जाता है। पुद्गल माया को छोड़कर जो महात्मा आगे बढ़े हैं उनको नमस्कार करने से हमारा आत्मा निर्मल बनता है और आगे बढ़ता है।

चम्पापुरी नगरी अति सुन्दर दधिवाहन तिहां राय।
पटरानी अमया अति सुन्दर रूप कला शोभाय। ।रे धन0

सुदर्शन को मैंने अकेले ने ही धन्यवाद नहीं दिया है किन्तु आप सबने भी दिया है। क्यों धन्यवाद दिया गया, इसका विचार करिये। यदि वह सेठ था तो अपने घर का था। इससे हमें क्या मिलना था? हम लोगों ने उसकी सेठाई के कारण धन्यवाद नहीं दिया है, किन्तु उसने धर्म का पालन किया है, अतः धन्यवाद दिया है। वस्तुतः यह धन्यवाद धर्म को दिया गया है। हम लोग सुदर्शन को धन्यवाद देते हैं। किन्तु कोरा धन्यवाद देकर ही न रह जायें। हम भी उनके पदचिह्नों पर चलें तभी धन्यवाद देना सार्थक है। उनके गुणों का अनुसरण न किया तो हमारा बड़ा दुर्भाग्य होगा। कल्पना करिये कि एक आदमी भूखा है। वह भूख से कराह रहा था। वह सेठ के घर गया। उस समय सेठ स्वर्णथाली में परोसे हुए विविध व्यंजनों का भोग कर रहे थे। सेठ को भोजन करते देखकर वह भूखा व्यक्ति कहने लगा कि सेठ, तुम धन्य हो, जो ऐसे पदार्थ भोग रहे हो। मैं अन्न के बिना तरस रहा हूं, भूखों मर रहा हूं। यह

सुनकर सेठ ने कहा कि भाई! आ तू मेरे साथ बैठ जा और भोजन कर ले, भूख का दुःख मिटा ले! सेठ के द्वारा भोजन का प्रेमपूर्ण निमन्त्रण मिलने पर भी यदि वह व्यक्ति यह कहे कि नहीं, नहीं, मैं न खाऊंगा, मुझे भोजन नहीं करना है तो वह व्यक्ति अभागा समझा जायेगा।

इस बात को आप अच्छी तरह समझ गये होंगे। ऐसे निमन्त्रण को आप कभी इंकार नहीं करेंगे, न कभी ऐसी भूल ही करेंगे। भूल तो धर्म काय में होती है। जिस चारित्र धर्म का पालन करने के कारण आप सुदर्शन को धन्यवाद दे रहे हैं वह चारित्र धर्म आपके सामने भी मौजूद है। आप धन्यवाद देकर न रह जाइए किन्तु उस चारित्र धर्म का पालन करिए जिसके पालन से सेठ धन्यवाद के पात्र बने हैं। धन्यवाद दे लेने से आत्मा की भूख न मिटेगी। सुदर्शन के समान आप धर्म पर दृढ़ न रह सको तो भी उसके कुछ अंश का तो अवश्य पालन कीजिये। उसका चारित्र सुनकर उनके चरित्र का कुछ अंश भी यदि जीवन में उतार सको तो आपका दुर्भाग्य मिटेगा और सौभाग्य का उदय होगा। संसार की सब वस्तुएं नाशवान हैं आप इस अविनाशी धर्म को क्यों नहीं अपनाते? आप कहेंगे कि हम सुदर्शन के समान कैसे बन सकते हैं? खैर, सुदर्शन के ठीक समान न बनें तो भी उसके चरित्र में से कुछ बातें अवश्य अपनाइये। कोशिश तो सब बातें अपनाने की करनी चाहिए। कीड़ी यह कह कर अपनी चाल को नहीं रोकती कि मैं हाथी की बराबरी नहीं कर सकती हूं। वह हाथी के समान नहीं चल सकती तो भी चलना जारी रखती है और अपने खाने तथा घर बनाने का ऐसा प्रयत्न करती है कि जिसे देखकर बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को दंग रह जाना पड़ता है। आप भी अपनी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार आगे बढ़ने का प्रयत्न कीजिये।

सुदर्शन की कथा कहने के पूर्व क्षेत्र का परिचय दिया गया है। क्षेत्री का वर्णन करने के लिये क्षेत्र का परिचय आवश्यक है। शास्त्र में भी यही शैली है। वर्णन तो भगवान् महावीर स्वामी का करना था किन्तु प्रसंग के साथ ही चम्पा नगरी का भी वर्णन दे दिया है जैसे-

तेणं कालेणं तेणं समयेणं चम्पा नामे नयरी होत्था।

सुदर्शन सेठ की कथा कहने से पहले वह कहां हुआ था, यह बताना आवश्यक था और यही बताया गया है।

कोई यह पूछ सकता है कि क्या क्षेत्र के साथ क्षेत्री का कोई संबंध होता है? हां, क्षेत्री का क्षेत्र के साथ बहुत संबंध होता है। सूत्रों में क्षेत्र विपाकी प्रकृतियों का बयान आता है। एक आदमी भारत का निवासी है और दूसरा

यूरोप का। क्षेत्र विपाकी गुण दोनों में जुदा जुदा होंगे यह बात दूसरी है कि कोई अपने विशेष प्रयत्न के द्वारा उस गुण को मिटा दे या अधिक बढ़ा दे।

मनुष्य और पशु में जो भेद है वह क्षेत्र के कारण ही है। आत्मा दोनों की समान है। आत्मा समान होने से कोई मनुष्य को पशु या पशु को मनुष्य नहीं कहता। क्षेत्र विपाकी प्रकृति के कारण भेद होता है। उसे भुलाया नहीं जा सकता।

आप भारतीय हैं। भारत में जन्म लेने से भारत का क्षेत्र विपाकी गुण आपमें होना स्वाभाविक है। आज आप जरा गौर कीजिए। दस्तार यानि कपड़े, रफ्तार यानी पहनावा और गुफ्तार यानी बातचीत। आप भारतीय हैं मगर क्या आपको भारतीय भाषा प्यारी लगती है? प्रिय न लगे तो यह अभाग्य ही है। अन्य देश वाले भारत की प्रशंसा करें और भारतीय स्वयं अपने देश की अवहेलना करें, यह अभाग्य नहीं तो क्या है? आज भारत के निवासी दूसरे देशों की बहुत सी बातों पर मुग्ध हो रहे हैं। वे यह नहीं सोचते कि दूसरे देशों की जिन बातों पर हम मुग्ध हो रहे हैं, वे कहां से सीखी हुई हैं? वे बातें भारत से ही अन्य देशों ने सीखी हैं। हम हमारा घर भूल गये हैं। हमारे घर में क्या क्या था, यह बात हम नहीं जानते। दूसरों की नकल करने चले।

एक आदमी दूसरे आदमी के यहां बीज ले गया जो कि उसके आंगन मे बिखरे पड़े थे। उसने बीज ले जाकर बोये तथा वृक्ष और फल–फूल तैयार किये। एक दिन पहला व्यक्ति दूसरे के खेत में चला गया और कहने लगा, तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो ऐसे सुन्दर वृक्ष तथा फल–फूल लगा सके हो। दूसरे ने कहा, यह आप ही का प्रताप है जो मैं ऐसे वृक्ष लगा सका हूं। आपके यहा से बिखरे हुए बीज मैं ले गया था, जिनका यह परिणाम है। यह बात सुनकर पहले आदमी को अपने घर में रखे बीजों का ध्यान आया। इसी प्रकार विदेशों में जो तत्व देखे जा रहे हैं, वे भारत के ही है। हां, वहां के लोगों ने उन तत्वो की विशेष खोज अवश्य की है मगर बीजरूप में वे भारत से ही लिए हुए है। दूसरों की बातें देखकर अपने घर को मत भूल जाओ। घर की खोज करो।

सुदर्शन चम्पा नगर का रहने वाला था। जैन और बौद्ध साहित्य में चम्पा का बहुत वर्णन है। चम्पा का पूरा विवरण उववाई सूत्र में हैं, किन्तु उसमें से तीन बातें कह देने से श्रोताओं को ख्याल आ जायेगा कि चम्पा कैसी थी। चम्पा का वर्णन करते हुए उववाई सूत्र में कहा गया है:–

तेणं कालेणं तेणं समयेणं चम्पा नामं नगरी होत्था रिद्धीए ठिम्मिए समद्धे

इन तीनों विशेषणों से चम्पा का पूरा परिचय हो जाता है। नगर में तीन बातें होना आवश्यक है। प्रथम ऋद्धि होना आवश्यक है। हाट, महल, मन्दिर, बाग–बगीचे तथा जल स्थल के स्वच्छ निवास ऋद्धि में गिने जाते हैं। किसी नगर में केवल ऋद्धि हो किन्तु यदि समृद्धि न हो तो नगर की शोभा नहीं हो सकती। समृद्धि के न होने से लोग भूखों मरने लगें। चम्पा नगरी धन धान्य से समृद्ध थी। धन के साथ धान्य की भी आवश्यकता है। केवल धन हो और धान्य न हो तो यह कहावत लागू होती है कि–

सोनां नी चलचलांट, अन्न नी कलकलांट।

जीवन निभाने के लिए धान्य की भी पूरी आवश्यकता होती है। धन और धान्य कहने से जीवनोपयोगी प्रायः सब वस्तुएं आ जाती हैं। जीवनोपयोगी वस्तुओं के लिए चम्पा नगरी किसी की मोहताज न थी। वहां सब आवश्यक चीजें पैदा होती थीं। प्राचीन समय में भारत के हर ग्राम में जीवनोपयोगी चीजें पैदा होती थीं और इस दृष्टि से भारत का हर ग्राम स्वतन्त्र था। ऐसा न था कि अमुक बीज आना बन्द हो गया है, अतः अब क्या किया जाय?

पुरातन साहित्य हमें बताता है कि उस समय भारत का प्रत्येक ग्राम स्वतन्त्र था। कोई भी गांव ऐसा न था कि जहां आवश्यक अन्न और वस्त्र पैदा न हों। अन्न तो सब जगह पैदा होता ही था किन्तु वस्त्र भी सब गांवों में बनाये जाते थे। जहां रूई न होती थी, वहां ऊन होती थी, जो रूई से भी मुलायम थी। हर ग्राम में कपड़े बुनने वाले लोग रहते थे। इस प्रकार भारत का हर गांव स्वतन्त्र था, नगर तो स्वतन्त्र थे ही। उनमें विशेष कला प्रधान चीजें होती थीं।

चम्पा में ऋद्धि भी थी और समृद्धि भी। ऋद्धि और समृद्धि के होने पर भी स्वचक्री राजा के अभाव में कष्ट होता है। चम्पा इस बात से भी वंचित न थी। 'ठिम्मिए' विशेषण यही बतलाता है कि चम्पा की प्रजा बहादुर थी। उसे न स्वचक्री राजा लूट सकता था और न परचक्री। अपने राजा का अत्याचार भी प्रजा सहन नहीं करती थी और न अन्य देशस्थ राजा का। जो स्वयं निर्बल होता है, उसी पर दूसरों का जोर चलता है। सबल पर किसी का नहीं चलता। लोग कहते हैं कि देवी बकरे का दान मांगती है। मैं पूछता

हूं कि देवी बकरे का बलिदान ही क्यों मांगती है, शेर का क्यों नहीं? बकरा निर्बल है और शेर सबल है, अतः ऐसा होता है।

शास्त्र में चम्पा का इस प्रकार वर्णन है। कोई भाई यह कहे कि महाराजा त्यागी लोगों का इस प्रकार वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी, तो उसका उत्तर यह है कि फल बताने के पूर्व वृक्ष और बीज का परिचय करना भी जरूरी होता है। फल के पहले वृक्ष का वर्णन भी आवश्यक है। शील के साथ चम्पा का भी इसीलिए वर्णन है। इस वर्णन को सुनकर आप भी सच्चे नागरिक बनिये और शील का पालन कर आत्मकल्याण कीजिये।

राजकोट, 7—7—36 का व्याख्यान

4 : धर्म का अधिकारी

"मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी.... ।"

यह भगवान् मल्लि नाथ की प्रार्थना है। यदि इस प्रार्थना के विषय में कोई महावक्ता सिद्धांत की खोज करके व्याख्यान दे तो बहुत लोगों की उल्टी समझ दूर हो जाय, ऐसा मेरा ख्याल है। मुझे शास्त्र का उपदेश करना है अतः इस विषय में इतना ही कहता हूं कि भक्ति और प्रार्थना के मार्ग में पुरुषों को अभिमान नहीं करना चाहिए। अभिमान भूले बिना भक्तिमार्ग पर नहीं चला जा सकता। अहंकार दूर किये बिना भक्तिमार्ग प्राप्त नहीं हो सकता। हम पुरुष हैं, इस बात का अहंकार त्याग कर, चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, जो भी महापुरुष हुए हैं, उन सब की भक्ति में तल्लीन हो जाना चाहिए।

बहुत से पुरुष स्त्री जाति को तुच्छ गिनते हैं और अपने को बड़ा मानते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। दुनियां में सब से बड़ा पद तीर्थंकर का है। जब कि स्त्री तीर्थंकर हो सकती है वैसी हालत में वह तुच्छ कैसे मानी जा सकती है और पुरुष को किस बात का अभिमान करना चाहिए? अतः अहंकार छोड़ कर विचार करो और गुणों के स्थान पर द्वेष मत लाओ।

भगवान् मल्लिनाथ को नमस्कार करके अब मैं उत्तराध्ययन सूत्र के वीसवें अध्ययन की बात शुरू करता हूं। कल महा और निर्ग्रंथ शब्दों के अर्थ बताये गये थे। इस द्वादशांग वाणी को सुनने से क्या–क्या लाभ हैं, यह बताने के लिए पूर्वाचार्यों ने बहुत प्रयत्न किए हैं। उन्होंने शास्त्र की पहिचान के लिए अनुबन्ध चतुष्टय किया है। इस बीसवें अध्ययन में यह अनुबन्ध चतुष्टय कैसे घटित होता है, यह देखना है। हम इस बात की जांच करें कि इस अध्ययन में भी विषय, प्रयोजन, अधिकारी और संबंध है या नहीं।

बीसवें अध्ययन का विषय उसके नाम मात्र से ही प्रकट है। अध्ययन का नाम महा निर्ग्रंथ अध्ययन है, जिससे स्पष्टतया मालूम हो जाता है कि इस

अध्ययन में महान् निर्ग्रंथ की चर्चा होगी। नाम के सिवा प्रथम गाथा में यह स्पष्ट कहा गया है कि मैं अर्थ धर्म में गति कराने गई कि इस अध्ययन में सांसारिक बातों की चर्चा न होगी। किन्तु जिन तत्वों से पारमार्थिक मार्ग में गति हो सके उनकी चर्चा होगी।

अब इस बात का विचार करें कि इस पारमार्थिक चर्चा से संसार को क्या लाभ होगा। आज संसार में इस प्रकार के मलीन विचार फले हुए हैं कि जिनके कारण धार्मिक उपदेश और उसका प्रभाव बेकार सा साबित हो रहा है। मैले कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता, मैले कपड़े पर रंग चढ़ाने के लिए पहिले उसे साफ करना पड़ता है। इसी प्रकार हृदयरूपी वस्त्र यदि मैला हो तो उस पर उपदेश रूपी रंग नहीं चढ़ सकता। यह बात स्वभाविक है। मुझे यकीन है कि आपके सब कपड़े मलीन नहीं है अर्थात् आपका हृदय सर्वथा मलीन नहीं है। यदि सर्वथा मलीन होता तो आप यहां व्याख्या श्रवणार्थ भी उपस्थित न होते। आप यहां आये हैं, इससे यह प्रकट है कि आपका हृदय सर्वथा गन्दा नहीं है। जो थोड़ी बहुत गन्दगी भी हृदय में रही हुई है, उसे दूर किए बिना धर्म का रंग अच्छी तरह नहीं चढ़ सकता।

शास्त्रकारों का कथन है कि धर्मस्थान पर जाने के पूर्व घर से निकलते ही पहले 'निस्सीही' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। धर्मस्थान पर पहुंचकर भी निस्सीही कहना चाहिए। फिर गुरु के पास जाकर भी निस्सीही कहना। इस प्रकार तीन बार निस्सीही शब्द का उच्चारण करने का क्या कारण है? घर से निकलते वक्त निस्सीही कहने का मतलब यह है कि धर्मस्थान पर जाने के पूर्व ही सांसारिक प्रपंचपूर्ण विचारों को मन से निकाल देना चाहिए। निस्सीही शब्द का अर्थ है, पापपूर्ण क्रियाओं का निषेध करना, उनको रोक देना।

जो संसार के कामों और विचारों को छोड़ कर धर्मस्थान पर जाता है, वही पुरुष धर्मस्थान में पहुंचने के मकसद को सिद्ध कर सकता है। जो घर से व्यवहार के प्रपंचों को दिमाग में रख कर धर्मस्थान पर जाता है, वह वहां जाकर क्या करेगा? वह धर्मस्थान में भी प्रपंच ही करेगा। धर्म का क्या लाभ ग्रहण करेगा? धर्मस्थान तक पहुंचने के बाद 'निस्सीही' इसलिये कहा जाता है कि धर्मस्थान तक तो गाड़ी घोड़ा आदि सवारी पर सवार होकर भी जाया जाता है लेकिन धर्मस्थान में ये सवारियां नहीं जा सकतीं, अतः इनका निषेध भी इष्ट है।

धर्मस्थान तक पहुंच कर अन्दर कैसे प्रवेश करना, इसके लिए पांच अभिगमन शास्त्रों में बताये गये हैं। भगवान् या अन्य महात्माओं के दर्शन के लिए धर्मस्थान में पहुंचाने पर पांच अभिगमन का वर्णन शास्त्रों में आया है। प्रथम अभिगमन सचित्त द्रव्य का त्याग है। साधु के पास पान, फूल आदि सचित्त द्रव्य नहीं ले जा सकते। अतः उनको त्याग कर फिर दर्शनार्थ जाना चाहिए। दूसरा अभिगमन उन अचित्त द्रव्यों का भी त्याग करके साधु के पास जाना चाहिये, जिनका त्याग जरूरी हो। अस्त्र शस्त्रादि पास हो तो उन्हें छोड़ कर साधु के समीप जाना चाहिए। शस्त्रादि लेकर साधु के पास जाना अनुचित है तथा वस्त्रादि का संकोच करना भी दूसरे अभिगमन में है। इसका अर्थ नंगे होकर साधु दर्शनार्थ जाना नहीं है। किन्तु जो वस्त्र बहुत लंबे हों और जिनसे पास वालों की आसातना हो सकती है, उनका त्याग करना चाहिए। तीसरा अभिगमन उत्तरासंग करना है। चौथा अभिगमन जिनके दर्शनार्थ जाना है वे ज्यों ही दृष्टिपथ में पड़े कि तुरन्त हाथ जोड़ लेना चाहिये। अर्थात् नम्रतापूर्वक धर्मस्थान में पहुंचना चाहिये। पांचवां अभिगमन मन को एकाग्र करना है।

साधु के समीप पहुंचकर 'निस्सीही' कहने का अभिप्राय यह कि मैं समस्त सांसारिक प्रपंचों का निषेध करता हूं। निस्सीही का उच्चारण भी कर लिया गया हो और अभिगमन भी कर लिए गये हों किन्तु यदि मन संसार की बातों में गुंथा हुआ ही रहा तो धर्मस्थान में पहुंचने का उद्देश्य हासिल नहीं हो सकता। अतः मन को एकाग्र करके यह निश्चय करना चाहिये कि हमें श्रेय सिद्ध करना है।

सारांश यह कि यदि आपको सिद्धांत सुनने की रुचि है तो मन को स्वच्छ बना कर आइये। मन स्वच्छ बनाने का भार मुझ पर डाल कर मत आइये। धोबी का काम धोबी करता है और रंगरेज का काम रंगरेज करता है। दोनों का काम एक पर डालने से वजन बढ़ जाता है। मैं आप पर धर्म के सिद्धांतों का रंग चढ़ाना चाहता हूं। रंग चढ़ाया जा सकता है। किन्तु शर्त यह है कि आपका मनरूपी वस्त्र स्वच्छ होना चाहिये। मन स्वच्छ बना कर आने का काम आपका है और उस पर धर्म का रंग चढ़ाने का काम मेरा हैं। धोबी वस्त्र को जितना साफ निकाल कर लायेगा, रंगरेज उतना ही आवदार रंग चढ़ा सकेगा। रंगरेज को यश दिलाने का काम धोबी पर निर्भर है। आप की तरह यदि मुझे भी मान–प्रतिष्ठा की चाह हृदय में बनी रही तो धर्म का सच्चा उपदेश न दे सकूंगा। धर्म का उपदेश देने के लिए उपदेशक

को भी स्वच्छ बनना चाहिए। उपदेशक और श्रोता दोनों स्वच्छ हों, तभी धर्म का रंग अच्छी तरह चढ़ सकता है।

इस अध्ययन का विषय तो बता दिया गया है। लेकिन अब यह जानना चाहिए कि इस अध्ययन के कहने का क्या प्रयोजन है? धर्म में गति कराना इस अध्ययन का प्रयोजन है। अर्थात् साधुजीवन की शिक्षा देना, इस अध्ययन का प्रयोजन है।

आप कहेंगे कि यदि साधुजीवन की शिक्षा देना ही इस अध्ययन का प्रयोजन है तो हम गृहस्थ लोगों को यह अध्ययन आप क्यों सुनाना चाहते है? पहले आप लोग यह बात समझ लें कि साधुजीवन की शिक्षाएं आपको भी सुननी आवश्यक है या नहीं? आपने अपने जीवन का ध्येय क्या नक्की किया है? आप गृहस्थ आश्रम में है और साधु साध्वाश्रम में हैं। सब क्रियाएं अपने अपने आश्रम के अनुसार करना ही शोभनीय हैं। किन्तु गृहस्थ होने का अर्थ यह नहीं है कि वह धर्म का पालन न करे। यदि गृहस्थधर्म का पालन नहीं कर सकते हों तो भगवान् जगत् गुरु कैसे कहलाते हैं? भगवान् साधु–गुरु कहलाते भगवान् जगत् गुरु कहलाते हैं। गृहस्थ जगत् में है, अतः गृहस्थजीवन का उद्देश्य भी आगे जाकर साधुजीवन व्यतीत करने का है। अतः बात आगे जाकर आचरणों में लानी है उसका श्रवण पहले से ही कर लिया जाय तो क्या हानि है? अतः यह शिक्षा गृहस्थों के लिए भी उपयोगी है।

श्रेणिक राजा गृहस्थ था। उसने साधुजीवन की शिक्षा सुनी थी। यद्यपि वह साधुजीवन स्वीकार न कर सका तथापि साधुजीवन की शिक्षाएं सुनकर तीर्थकर गोत्र बांध सका था। आपको इस शिक्षा की जरूरत क्यों नहीं है? जरूरत अवश्य है। आप यहां किसी सांसारिक कामना की पूर्ति करने के लिये नहीं आये हैं किन्तु धर्म करने की आपकी रुचि है, अतः आये हैं। इस प्रकार इस धर्म शिक्षा से आप गृहस्थों का भी प्रयोजन है। यदि यह शिक्षा केवल साधुओं के काम की ही होती तो साधु लोग किसी एकान्त शान्त स्थान में बैठ कर चर्चा कर लेते। आप गृहस्थों के बीच में आकर इसका वर्णन न करते। गृहस्थों को भी इस शिक्षा की आवश्यकता है, यह अनुभव करके ही आपको यह सुनाई जा रही है। श्रेणिक राजा नवकारसी तप भी न कर सका था किन्तु यह शिक्षा सुन हृदय में धारण करके तीर्थकर गोत्र बांध सका था। आप लोग भी श्रेणिक के समान गृहस्थ हो, अतः इस शिक्षा की जरूरत है।

प्रयोजन बता दिया गया है। अब इस अध्ययन के अधिकारी का विचार करना है। कौन 2 व्यक्ति इस अध्ययन की शिक्षा सुनने या ग्रहण करने के पात्र हैं? जिस प्रकार सूर्य सबके लिये है, सब उसका प्रकाश ग्रहण कर सकते हैं। किसी के लिये भी प्रकाश ग्रहण की मनाही नहीं है। उसी प्रकार यह अध्ययन सबके लिये है। इतना होने पर भी सूर्य का प्रकाश वही देख सकता है, जिसके आंखें हों और वे खुली हों तथा विकाररहित हों। जिसकी आंखों में उल्लू की तरह किसी प्रकार का विकार हो, वह सूर्य का प्रकाश ग्रहण नहीं कर सकता। इस अध्ययन की शिक्षा का अधिकारी भी वही है, जिसके हृदय चक्षु खुले हुए हैं। किन्हीं लोगों के हृदयचक्षु खुले हुए होते हैं और किन्हीं के अज्ञान रूपी आवरण से ढके हुए होते हैं। जिनके हृदयचक्षु बन्द है किन्तु खोलने की चाह है, वे भी इस अध्ययन के श्रवण करने के अधिकारी हैं। यह शिक्षा हृदय पट के आवरण को भी हटाती है किन्तु आवरण हटाने की इच्छा होनी चाहिये। कहने का भावार्थ यह है कि जो इस शिक्षा से लाभ उठाना चाहे, वही इसका अधिकारी है।

अब इस अध्ययन के संबंध के विषय में विचार कर लें। संबंध दो प्रकार के होते हैं। 1. उपायोपेय भाव संबंध 2. गुरु शिष्य संबंध।

पहले गुरु शिष्य संबंध का विचार करें कि यह शास्त्र किस गुरु ने कहा है और किस शिष्य ने सुना है?

भगवान् ने फरमाया है कि मोक्ष की इच्छा मात्र होने से मोक्ष कागजों से नहीं मिल जाता, कोरे सूत्र बांचने से मुक्ति नहीं मिल सकती। सद्गुरु अथवा सदुपदेशक की आवश्यकता होती है। कुगुरु मोक्ष का नाम लेकर विपरीत मार्ग में भी ले जा सकते हैं, अतः प्रथम यह जान लेना चाहिए कि धर्म का सच्चा उपदेशक कौन हो सकता है? शास्त्र में कहा भी है कि–

आयगुत्ते सयादन्ते छिन्नसोये अणासवे।
ते धम्मं सुद्धमक्खन्ति पडिपुन्नं मणेलिसं।।

अर्थात्– धर्म का उपदेश वे कर सकते हैं, जिन्होंने अपने मन पर काबू कर लिया हो, जो सदा विकारों पर काबू रखते हों, जिनका शोक नष्ट हो, जो पाप रहित हों। ऐसे सदा दांत, सन्त पुरुष ही प्रीतिपूर्ण और शुद्ध अनुपम धर्म का उपदेश कर सकते हैं। पहले यह देखना जरूरी है कि अमुक ग्रन्थ या पुस्तक का रचियता कौन है? ग्रंथकार की प्रामाणिकता पर ग्रन्थ की प्रामाणिकता है। आजकल के बहुत से अधकचरे विद्वान कहते हैं कि ग्रंथकार के व्यक्तिगत जीवन से तुम्हें क्या मतलब है? तुम्हें तो वह जो शिक्षा देता है,

उसे देखो कि वह ठीक है या नहीं। किन्तु ऐसा कहने वाले व्यक्ति भ्रम में हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि धर्म का उपदेशक वही हो सकता है, जो अपनी आत्मा को गुप्त रखता हो जो संयमरूपी ढाल में इंद्रियों को उसी प्रकार काबू में रखता हो, जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को ढाल में रखता है। इन्द्रियदमन करने वाला ही सच्चा उपदेशक या लेखक हो सकता है।

किसने इंद्रियदमन कर लिया है और किसने नही किया हैं, इसकी पहचान यह है कि जिसकी आंखों में विकार न हो, शारीरिक चेष्टाएं शांत और पापशून्य हों। इन्द्रियदमन का अर्थ आंख, कान आदि इन्द्रियों का नाश कर देना नहीं है किन्तु उनके पीछे रही हुई पाप भावना को मिटा देना है। आंख से धर्मात्मा भी देखता है और पापी भी। किन्तु दोनों की दृष्टि में बड़ा अन्तर होता है। धर्मात्मा पुरुष किसी स्त्री को देखकर उसके सुधार का उपाय सोचेगा और पापी पुरुष उसी स्त्री को देखकर अपनी वासना पूर्ति का विचार करेगा। जिस प्रकार घोड़े को शिक्षा देकर मन मुताबिक चलाया जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को मन माफिक चला सकता है, उनका गुलाम नहीं किन्तु मालिक बन सकता है, वही इन्द्रियदमन करने वाला कहा जाता है। घोड़े का मालिक लगाम के जरिये घोड़े को कुमार्ग में नहीं जाने देता। उसी प्रकार इन्द्रिय–दमन करने वाला इन्द्रियों को विषय विकार की तरफ नहीं जाने देता। भगवद् भजन करने में उनका उपयोग करता है। यही इन्द्रिय–दमन का अर्थ है।

धर्मोपदेश हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांच पापों से रहित होना चाहिए। जो सब स्त्रियों को मां बहिन के समान समझता हो और धर्मोपकरण के सिवाय फूटी कौडी भी अपने पास न रखता हो अर्थात जो कंचन और कामिनी का त्याग हो, वही धर्मोपदेशक हो सकता है और वही प्रीतिपूर्ण, शुद्ध और अनुपम धर्म का उपदेश दे सकता है।

मैंने हिन्दू धर्म के विषय में गांधीजी का लिखा एक लेख देखा है। गांधीजी ने उस समय तक जैन शास्त्र देखे थे या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। किन्तु जो सच्ची बात होगी, वह शास्त्र में अवश्य निकल आयेगी। गांधीजी ने उस लेख में यह बताया था कि हिन्दू धर्म का कौन उपदेश कर सकता है? कोई पण्डित या शंकराचार्य ही इस धर्म का कथन कर सकता है, यह बात नहीं है। किन्तु जो पूर्ण अहिंसक, सत्यवादी और ब्रह्मचारी हो, वही हिन्दू धर्म को कहने का अधिकारी हो सकता है। गांधीजी के लेख के

पूरे शब्द मुझे याद नहीं है किन्तु उनका भाव यह था। गांधीजी और जैन शास्त्रों के विचार इस विषय में कितने मिलते हैं, इस पर विचार करियेगा।

प्रकृत बीसवें अध्ययन के उपदेशक गणधर या स्थविर मुनि हैं। यह गुरुशिष्य संबंध हुआ। अब तात्कालिक उपायोपेय संबंध देख लें। दवा करना उपाय है और रोग मिटाना उपेय है। इस अध्ययन का उपायोपेय संबंध है ज्ञान प्राप्ति और इसके द्वारा मुक्ति। मुक्ति उपेय है और ज्ञान प्राप्ति उपाय है।

संसार में उपाय मिलना ही कठिन है। यदि उपाय मिल जाय और वह किया जाय तो रोग मिट सकता है। डाक्टर और दवा दोनों का योग होने पर बीमारी चली जाती है। किसी बाई के पास रोटी बनाने का सामान मौजूद न हो तो वह रोटी कैसे बना सकती है? यदि रोटी बनाने की सब सामग्री तैयार हो तो रोटी बनाने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

रोटी बनाने की सब सामग्री तैयार रखी हो परन्तु यदि कर्त्ता रोटी बनाने वाला किसी प्रकार का प्रयत्न न करे तो रोटी कैसे बन सकती है? आटा और पानी अपने आप नहीं मिल सकते और न रोटी स्वयं पक सकती है। कर्त्ता के उद्योग के किये बगैर सब साधन या उपाय किस काम के? आप अपने लिए विचार करिये कि आपको क्या करना चाहिए? गफलत की नींद छोड़ कर जागृत हो जाइये जिससे धर्मकरणी के लिए मिले हुए साधन या उपाय व्यर्थ न हो जायें। आपको आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और मनुष्य जन्म मिले हैं। यह क्या कम सामग्री है? आपकी उमर भी पक चुकी है। आप तत्वज्ञान समझ सकते हो। बहुत से लोग तो कच्ची उम्र में ही चल बसते हैं। यदि आप भी बचपन में ही चल बसते तो आपको कौन उपदेश देने आता? बालक, रोगी और अशक्त धर्म के अधिकारी नहीं माने जाते। उनको कोई धर्म का उपदेश नहीं करता। अतः ज्ञानीजन कहते हैं कि उठ जाग! कब तक सोता रहेगा?

उतिष्ठ जाग्रत प्राप्य वर त्रिबोधत

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

अर्थात– हे मनुष्यो! उठो जागो और श्रेष्ठ मनुष्यों के पास जा कर ज्ञान प्राप्त कर लो। कारण कि ज्ञानीजन कहते हैं कि उस्तरे की धार पर चलना जितना कठिन है, उतना ही इस विकट मार्ग (धर्म मार्ग) पर चलना कठिन है।

जिस प्रकार प्रातःकाल माता अपने पुत्र से कहती है कि ऐ पुत्र! उठ जाग, खड़ा होजा, इतना दिन निकल आया है, कब तक सोता पड़ा रहेगा? उसी प्रकार ज्ञानी जन भी माता के प्रेम के समान प्रेम से सब जीवों पर दया

लाकर कहते हैं कि ऐ मनुष्यो! किस गफलत में पड़े हुए हो? उठो, जागो, भाव–निद्रा का त्याग करो। विषय कषायादि विकारों को छोड़ कर आत्मकल्याण के मार्ग में लग जाओ। वैराग्य शतक में ज्ञानी सोते हुए प्राणियों को जगाते हुए कहते हैं–

मा सुबह जग्गियव्वं, पल्ला हयवम्मि किस्स विस्सगिह।
तिन्न जणा अणुलग्गा रोगो जराए गच्चुए।।

हे जीवात्माओं। मत सोओ! जाग जाओ। रोग, जरा और मृत्यु तुम्हारे पीछे पड़े हुए हैं। यह बात बहुत विचारणीय है, अतः एक कथा द्वारा इस मुद्दे को सरल बना कर कहता हूं।

दो मित्र जंगल में जा रहे थे। उन में से एक थक गया। थकने के साथ ही उसे कुछ आधार मिल गया। पास ही अच्छे घने वृक्ष हैं। सुन्दर नदी बह रही है, सपाट चट्टान सामने है और हवा भी शीतल, मन्द और सुगन्ध युक्त चल रही है। यह सब अनुकूल सामग्री देख कर थका हुआ मित्र सो जाने के लिए ललचाया। वह मन ही मन सूबे बांधने लगा कि यहां बैठ कर शीतल वायु का सेवन करना चाहिए। सुन्दर फल खाना और पुष्पों की सुगन्ध लेना चाहिए। नदी की कलकल आवाज सुनते हुए निद्रा लेकर प्रकृति के सुख का अनुभव करना चाहिए।

दूसरा मित्र प्रकृति ज्ञान में निपुण था। वह जानता था कि ये फूल कैसे हैं, यह हवा कैसी है तथा नदी की यह कल कलाट क्या शिक्षा दे रही है? यह स्थान कितना उपद्रवयुक्त है, यह भी वह जानता था। उस ज्ञानी मित्र ने अपने भूले हुए दोस्त से कहा कि हे प्रिय मित्र! यह स्थान सोने के लिए उपयुक्त नहीं है। जल्दी उठ खड़ा हो और शीघ्र ही यहां से भाग चल। एक क्षण मात्र का भी विलम्ब मत कर। यहां तीन जने पीछे पड़े हुए हैं। जिन फल फूलों को देख कर तेरा जी ललचाया है, वे फल फूल विषयुक्त हैं। यहां की हवा भी विषैली है। जो वातावरण तुझे अभी आकर्षित कर रहा है, वही थोड़ी देर में तुझे विवश बना देगा और तेरा चलना फिरना भी बन्द हो जायेगा। यह नदी भी शिक्षा दे रही कि जिस प्रकार कल कल करता हुआ मेरा पानी प्रतिक्षण बहता चला जा रहा है उसी प्रकार तेरी आयु भी क्षण क्षण घटती जा रही है।

क्या सोवे उठ जाग बाउरे।
अंजलि जल ज्यों आयु घटत है, देत पहरिया घरिय घाउ रे
।।क्या.।।

इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र मुनि चल कौन राजा पतिसाह राउ रे।
भगत ममत भव जलधि पालते भगवन्त भक्ति सुभाउ नाउ रे
।।क्या.।।

क्या विलम्ब अब करे बाउरे तर भव जलनिधि पार पाउ रे
आनन्दघन चेतन मय मूरति शुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे
।।क्या.।।

शास्त्रकार, ग्रन्थकार, कवि और महात्मा सब का कथन यही है कि हे जीवात्माओं! उठो, जागो, गफलत की नींद मत सोओ।

कोई भाई कहेगा कि क्या आप हमको साधु बनाना चाहते हैं? मैं पूछता हूं कि क्या साधुपन बुरी चीज है? यदि साधुपन बुरी वस्तु होता तो आप साधुओं का व्याख्यान ही कैसे सुनते? साधुता शक्ति होने पर ही ग्रहण की जा सकती है। शक्ति न हो तो कोई साधुत्व स्वीकार करने की बात नहीं करता। आपको साधुत्व ग्रहण करने के संयोग मिले हुए हैं। अतः जागृत हो जाइये।

भगवन्त भक्ति स्वभाउ नाउ रे।

भगवान् की भक्ति रूप नौका मिली हुई है। उस नौका का सहारा लेकर संसार समुद्र पार कर जाइये। उस मित्र ने अपने थके हुए मित्र से कहा था कि हे दोस्त! यदि तू भूल नहीं सकता तो सामने यह नौका खड़ी है। इस पर सवार होकर पार लग जा। अब तो इस मूर्ख मित्र को चलना भी नहीं पड़ता है फिर भी यदि वह नौका पर सवार न हो और गफलत में सोया पड़ा रहे तो आप उसे क्या कहेंगे? आप कहेंगे कि वह बड़ा अभागा था जो ऐसे सुसंयोग का लाभ न ले सका। आपके समक्ष भी भगवान् नाम रूपी नौका खड़ी है। सद्‌गुरु आपको समझा रहे हैं कि इस नौका पर सवार हो कर अनादिकालीन दुःख दर्द को मिटा लो। अधिक न कर सको तो कम से कम इस नौका पर सवार हो जाइये।

अभी मुनि श्रीमलजी ने आपको सुनाया है कि एक व्यक्ति साधु के स्थान पर आकर भी बुरे कर्म बांध सकता है और दूसरा वेश्या के भवन पर जाकर भी कर्मों की निर्जरा कर सकता है। बुरी भली भावनाओं की अपेक्षा से यह कथन ठीक है। फिर भी यह मत समझ लेना कि साधु का स्थान बुरा है और वेश्या का अच्छा। वेश्या के घर जाकर कोई विरला व्यक्ति ही बच सकता है। अतः स्थान की दृष्टि से वेश्या का स्थान बुरा और साधु का स्थान अच्छा है। लेकिन जो स्थान अच्छा है, उस साधु स्थान पर जाकर यदि कोई

जग नभ–वाटिका रही है फली फूली रे।
धुआं के से धौरहर देखिहूं न भूली रे।।

संसार की बाड़ी जैसे आसमान में तारे छिटक रहे हों वैसे फली फूली हुई हैं। यह बाड़ी स्थायी नहीं है! अतः संसार की भूलभुलैया में न फंसकर परमात्मा के भजन स्वरूप नौका में वैठकर संसारसमुद्र पार कर लें।

आजकल बहुत से भाइयों का यह ख्याल है कि हमें परमात्मा के भजन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं कि जो लोग परमात्मा का भजन किया करते हैं, वे दुःखी देखे जाते हैं और जो कभी परमात्मा का नाम तक नहीं लेते बल्कि धर्म और परमात्मा का 'वायकाट' करते हैं, वे लोग सुखी देखे जाते हैं। इस सवाल का जवाब यह है कि केवल परमात्मा का नाम लेना ही सुखी बनाने का कारण नहीं है। किन्तु नामस्मरण के साथ परमात्मा के बताये हुए नियमों का पालन करना भी जरूरी है। कोई प्रकट रूप में परमात्मा का नाम न लेता हो किन्तु उसके बताये नियमों का पालन करता हो तो वह सुखी होगा और कोई नियमों का पालन न करे और खाली

नाम रटन्त करता रहे तो उससे दुःख दूर नहीं हो सकते। जो प्रकट रूप से नाम नहीं लेता किन्तु नियम पालन करता है, वह सुख के साधन जुटाता है। अतः यह कहना कि परमात्मा का नाम लेने से या भजन करने से कोई दुःखी है, कतई गलत धारणा है। भजन के साथ नियम आवश्यक है। एक आदमी ने गाड़ी में बैठे हुए एक पहलवान को देखा। देख कर उसने यह धारणा बांध ली कि गाड़ी में बैठने से आदमी पहलवान हो जाता है। उसे इस बात का भान न था कि पहलवान तो विशेष प्रकार की कसरत करने से बनता है। इसी प्रकार नियम पालने वाला प्रकट में नाम नहीं लेता अतः यह कह डालना कि नाम लेने से सुखी है, भ्रमपूर्ण विचार है। परमात्मा का भजन तो करना मगर उसके बताये नियम न पालना, कैसा काम है? इस बात को एक दृष्टान्त से समझाता हूं।

एक सेठ के दो स्त्रियां थी। बड़ी स्त्री गादी लगा कर हाथ में माला लेकर अपने पति का नाम जपती रहती थी। दिन भर मोतीलालजी–मोतीलालजी की रटन्त लगाती रहती और घर का कोई काम न करती थी। किन्तु इसके विपरीत छोटी स्त्री घर का सब काम करती रहती थी। उसने अपने मन में यह नक्की किया कि पति का नाम तो मेरे हृदय में है। चाहे मुंह से उसका उच्चारण करूं या न करूं। मुझे वे काम करते रहना चाहिए जिनसे पति देव प्रसन्न रहें। एक दिन बड़ी सेठानी सेठ के नाम की माला जपती हुई बैठी थी कि इतने में कहीं बाहर से थके प्यासे सेठजी आ गये और उससे कहा कि प्यास लगी है, पानी का लोटा भर कर ला दे। बड़ी सेठानी ने उत्तर दिया कि इतनी दूर से चल कर आये हो सो तो नहीं थके और अब घर आकर थक गये। पानी का लोटा भी नहीं लाया जाता। मेरे नाम जपने में क्यों बाधा पहुंचाते हो। क्या आपको मालूम नहीं कि मैं किसका काम कर रही हूं और किसका नाम ले रही हूं? मैं आप ही का नाम ले रही हूं।

भाइयों! बताइये, क्या बड़ी सेठानी का नाम जपन सेठजी को पसन्द आ सकता है? सेठजी ने कहा तेरा नाम जपन व्यर्थ है। एक प्रकार का ढोंग है। दोनों का वार्तालाप सुन कर छोटी सेठानी तुरन्त अच्छे कलशे में ठण्डा पानी भर लाई और सेठजी की सेवा में उपस्थित किया। इन दोनों स्त्रियों में से सेठजी का मन किसकी ओर झुकेगा? सेठजी किसके कार्य को पसन्द रेंगे? कर्त्तव्य करने वाली के काम को ही सेठजी पसन्द करेंगे न कि कोरा । जपने वाली का काम। इसी प्रकार भक्त भी दो प्रकार के होते हैं। एक ल नाम जपने वाले और दूसरे नियम पालन या कर्त्तव्य करने वाले।

बहुत से लोग परमात्मा का नाम लेते हैं। किन्तु आपको मालूम है कि वे किस लिए नाम लेते हैं? वे 'रामनाम जपना और पराया माल अपना' करने के लिए नाम लेते हैं। इस तरह परमात्मा का नाम लेना दिखावा मात्र है। नाम का महत्व नियम पालन के साथ है।

मतलब यह है कि कोई प्रकट में प्रभुनाम लेता है और कोई प्रकट में नाम न लेकर नियम पालन करता है। किन्तु भक्ति नाम न लेने वाले में भी मौजूद है क्योंकि वह कर्त्तव्य का पालन करता है। अतः ऐसे व्यक्ति को सुखी देखकर यह न मान बैठना चाहिए कि यह नाम न लेने से सुखी है। आपके सामने भगवद् भक्ति की नाव खड़ी है। उसमें बैठ जाओ और भक्ति का रंग चढ़ाओ।

ऐसा रंग चढ़ा लो दाग न लागे तेरे मन को।

सुदर्शन चरित्र–

सच्चे भक्त कैसे होते हैं, इसका दाखला चरित्र द्वारा आपके सामने रखता हूं। कल कहा गया था कि सुदर्शन को धन्यवाद दिया गया है। सुदर्शन को भक्ति का बाह्य ढोंग रखने के कारण धन्यवाद नहीं दिया गया किन्तु भक्ति के अंग का पूरी तौर से पालन करने के कारण धन्यवाद दिया गया है।

सुदर्शन का जन्म चंपापुरी में हुआ था। चम्पापुरी का राजा दधिवाहन था। सुदर्शन के शीलपालन के साथ तथा इस कथा से संबंध रखने वाले पात्रों का परिचय करना आवश्यक है।

राजा कैसा होना चाहिए, इसका शास्त्र में वर्णन है। जो क्षमंकर और क्षेमकर हो, वही सच्चा राजा है। केवल अच्छे हाथी घोड़े की सवारी करने वाला ही राजा नहीं होता किन्तु जो पहले ही बन्धी हुई मर्यादाओं का पालन करे और नवीन उत्तम मर्यादाएं बांधता हो वह राजा है। क्षेम शब्द का अर्थ है कुशल। जो प्रजा की कुशलता चाहता है, वह राजा है। ऐसा न हो कि खुद के महल उजले रख ले और प्रजा के सुख दुःख का तनिक भी ख्याल न करे। वह राजा कहलाने का अधिकारी नहीं है। जो प्रजा में प्रजाहित के सुधार करता है और उसे सुखी बनाता है, वह राजा है।

राजा स्वयं क्षेम कुशल करने वाला हो तथा पहले बन्धी हुई अच्छी और उपयोगी मर्यादाओं को तोड़ने वाला न हो। पुरानी मर्यादाओं को केवल पुरानी होने के कारण तोड़ना नहीं चाहिए। पुरानी मर्यादा के पालन के साथ ही साथ नवीन योग्य मर्यादा भी बांधना चाहिए। यह सच्चे राजा का लक्षण है। 'नवो करणी नहीं और पुराणी मेटनी नहीं' यह तो अच्छे राजा का चिह्न नहीं है।

दधिवाहन राजा उपर्युक्त गुणों से युक्त था। उसके अभया नामक पटरानी थी। अभया के रूप सौन्दर्य के कारण राजा उस पर बहुत मुग्ध था। वह मानता था कि मेरी रानी स्त्रियों में रत्न के समान है। जिस रानी पर राजा इतना मुग्ध था वही रानी सुदर्शन के शील की कसौटी बनी है। राजा जिस रानी का गुलाम बना हुआ था, उस रानी के भी वश में न होने वाला सुदर्शन कैसा होना चाहिए इस बात का जरा विचार करिये।

नाटक में पुरुष स्त्री का वेष धारते हैं और स्त्री की तरह नखरे दिखाने की चेष्टा करते हैं। ऐसा करने से कभी कभी पुरुष बहुत अंशों में अपना पुरुषत्व भी खो बैठते हैं। नाटक में स्त्री बने हुए पुरुष के हाव भाव देख कर आप लोग बड़े प्रसन्न होते हैं। जो खुद अपना पुंस्त्व भी खो चुका है, वह दूसरों को क्या शिक्षा देगा?

आजकल लोगों को नाटक सिनेमा का रोग बहुत बुरी तरह लगा हुआ है। घर में चाहे फाकाकसी करना पड़े मगर सिनेमा देखने के लिए तो जरूर तैयार हो जायेंगे। रुपये खर्च होने के उपरान्त नाटक सिनेमा देखने से क्या–क्या हानियां होती हैं, इसका जरा ख्याल करिये। जबकि लोग बनावटी स्त्री पर भी इतने मुग्ध होते देखे जाते हैं, तब अभया पर राजा इतना मुग्ध हो, इस में क्या आश्चर्य की बात है? वह तो साक्षात् स्त्री थी और बहुत रूप सम्पन्न थी। आश्चर्य तो इस बात का है कि कहां तो आजकल के लोग बनावटी रूप मात्र देख कर मुग्ध बन जाते हैं और कहां वह सुदर्शन, जो रूप लावण्य सम्पन्न पटरानी पर भी मुग्ध न हुआ।

जब मैं अहमदनगर में था, तब वहां के लोग मेरे सामने आकर कहने लगे कि एक नाटक कम्पनी आई है जो बहुत अच्छा नाटक करती है। देखने वालों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उन लोगों ने मेरे सामने उस नाटक मंडली की बहुत प्रशंसा की। उस समय मैंने उन लोगों से यही कहा कि फिर कभी इस विषय में समझाऊंगा।

एक दिन मैं जंगल गया था कि दैवयोग से नाटक मंडली में पार्ट लेने वाले लोग भी उधर ही घूमते हुए जा रहे थे। वे लोग अपनी धुन में मस्त होकर जा रहे थे। मैंने उन लोगों की चेष्टाएं और आपसी बातचीत सुनी। सुन कर मैं दंग रह गया। क्या ये वे ही लोग हैं, जिनकी नाटक मण्डली की इतनी [illegible] मेरे सामने की गई थी? उनकी बातें और चेष्टाएं इतनी गन्दी थीं कि ७ कहा नहीं जा सकता। मैंने मन में विचार किया कि ये लोग सीता, राम हरिश्चन्द्र का पार्ट अदा करते हैं, किन्तु क्या दर्शकों पर इनके खुद के भावों

विचारों का असर न होता होगा? क्या केवल इनके द्वारा दिखाये या कहे हुए सीता, राम या हरिश्चन्द्र के कार्यों या गुणों का ही लोगों पर असर होता है? या नाटक दिखाने वालों के व्यक्तिगत चरित्रों का भी प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है? मैं पहले व्याख्यान में कह चुका हूं कि किसी ग्रंथ या उपदेश की प्रामाणिकता उसके कर्त्ता या उपदेशक पर अवलम्बित है। फोनोग्राफ की चूड़ी से निकले हुए शब्दों का विशेष असर नहीं होता। असर होता है शब्दों के पीछे रही हुई चारित्रशील आत्मा का।

कदाचित् कोई भाई यह दलील करे कि हमें तो गुण ग्रहण करना है। हमें तो कोई कैसा है, इस बात से प्रयोजन नहीं। इसका उत्तर यह है कि यदि गुण ही लेना है और सामने वाले का आचरण नहीं देखना है तो नाटक में साधु बन कर आये हुए साधु को आप वंदना नमस्कार क्यों नहीं करते और उसे सच्चा साधु क्यों नहीं मानते? आप कहेंगे कि वह तो नकली साधु है उसे असली कैसे मानेंगे? मैं कहता हूं कि जैसे साधु नकली है, वैसे अन्य पात्र भी नकली ही है। जंगल से वापिस लौट कर व्याख्यान में मैंने लोगों से खूब कहा कि ऐसे लोगों के द्वारा दिखाए हुए खेल से आपका कुछ कल्याण नहीं होने वाला है।

महारानी अभया बहुत सुन्दर थी और राजा दधि वाहन उस पर बहुत मुग्ध था। फिर भी सुदर्शन रानी पर मुग्ध न हुआ। उसके जाल में न फंसा। ऐसे ही महापुरुष की शरण लेकर भगवान् से प्रार्थना करो कि हे प्रभो! ऐसे चारित्रशील व्यक्ति के चारित्र का अंश हमको भी प्राप्त हो।

तुल्या भवन्ति भवती ननु तेन किंवा।

जो लक्ष्मीवान् की सेवा करता है क्या वह कभी भूखा रह सकता है? जो भगवान् की शरण जाता है, वह भी उनके समान बन जाता है। वैसे ही शील धर्म का पालन करने वाले सुदर्शन की शरण ग्रहण करने से शील पालने की क्षमता अवश्य प्राप्त होगी।

यह चरित्र मनरूपी कपड़े के मैल को साफ करने का काम भी करेगा। लोकनीति शरीर–रक्षा और संसार व्यवहार की बातें भी इस चरित्र में आयेंगी। आज समाज में जो कुरीतियां घुसी हुई हैं, उनके विरुद्ध भी इस चरित्र में कुछ कहा जायेगा। अतः इस चरित्र को सावधान हो कर सुनिये और शील धर्म को अपना कर आत्म कल्याण करिये।

राजकोट, 5–7–36 का व्याख्यान

5 : सिद्ध साधक

"श्री मुनि सुव्रत सायबा---- ।"

यह 20 वें तीर्थंकर मुनि सुव्रत स्वामी की प्रार्थना है। आत्मा को परमात्मा की प्रार्थना कैसे करनी चाहिए। यह बात अनेक विधियों और अनेक शब्दों द्वारा कही हुई है। प्रभु के अनेक नाम हैं। उन नामों को लेकर भक्तों ने अनेक रीति से प्रार्थना की है। इस प्रार्थना में कहा गया है कि आत्मा को स्वदोषदर्शी होना चाहिये। सब लोगों की यह इच्छा रहती है कि हम हमारी प्रशंसा ही सुनें। कोई हमारी निन्दा न करें। लेकिन ज्ञानीजन कहते हैं कि प्रशंसा सुनने की आदत छोड़कर अपने दोष देखने सुनने की आदत डालो। यह सुनने की कभी मन में भावना न लाओ कि मेरे में क्या गुण हैं? किन्तु मेरे में क्या दोष या त्रुटियां हैं, उनको जानने सुनने की कोशिश करो। कदाचित् अभी आत्मा में दोष न दिखाई दें तो भी यह मानना चाहिए कि मेरे में पहले के बहुत से बुरे संस्कार विद्यमान हैं तथा अनादिकालीन ज्ञानावरणीयादि कर्म रूप दोष मुझ में भरे पड़े हैं। अपने को सदोष मानकर परमात्मा से प्रार्थना करो कि हे भगवान्, मैं पाप का पुञ्य हूं, मुझ में अनन्त पाप भरे हैं। अब मैं तेरी शरण में आया हूं। अतः मुझे पाप मुक्त कर दे।

इस प्रकार की प्रार्थना वही कर सकता है जो पाप को पाप मानता है, खुद को अपराधी मानकर स्वगुण कीर्तन की वांछा नहीं रखता तथा अपनी कमजोरियां सुनने के लिए उत्सुक रहता है। जो अपने गुण सुनने के लिए लालायित रहता है, वह अभी प्रभु प्रार्थना से दूर है।

अब शास्त्र की बात कहता हूं। कल कहा था कि इस वीसवें अध्ययन ` जो कुछ कहना है, वह सब पीठिका, प्रस्तावना या भूमिका रूप से प्रथम ,`। में कह दिया गया है। इस गाथा का सामान्य अर्थ कर दिया गया है। : व्याकरण की दृष्टि से विशेष अर्थ तथा परमार्थ रूप अर्थ करना बाकी है।

इस गाथा में जो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, उनसे किन किन तत्वों का बोध होता है, यह टीकाकर बतलाते हैं।

मैंने पहले यह बताया था कि नवकार मंत्र के पांच पदों में दूसरा सिद्ध पद तो सिद्ध है और शेष चार पद साधक हैं। एक दृष्टि से यह बात ठीक है किन्तु टीकाकार दूसरी दृष्टि सामने रखकर अरिहन्त पद की गणना भी सिद्ध में करते हैं। इस दृष्टि से दो पद सिद्ध हैं और शेष तीन साधक हैं। अरिहन्त की गणना सिद्ध में की जाती है। उसके लिए शास्त्रीय प्रमाण भी है। कहा है–

एवं सिद्धा वदन्ति परमाणु।

अर्थात् सिद्ध परमाणु की इस प्रकार व्याख्या करते हैं। सिद्ध बोलते नहीं। उनके शरीर भी नहीं होता। वैसी हालत में यह मानना पड़ेगा कि यहां जो सिद्ध शब्द का प्रयोग किया गया है वह अरिहन्त वाचक ही है। इससे स्पष्ट है कि अरिहन्त की गणना भी सिद्ध पद में है। शेष तीन पद आचार्य, उपाध्याय और साधु तो साधु हैं ही। उनका नाम निर्देश करके नमस्कार किया गया है।

पुनः यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब अरिहन्त को नमस्कार कर लिया गया तब आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार करने की क्या आवश्यकता है? राजा को जब नमस्कार कर लिया गया तब परिषद् बाकी नहीं रह जाती। अरिहन्त राजा है। आचार्य, उपाध्याय, साधु उनकी परिषद् हैं। इन्हें अलग नमस्कार क्यों किया जाय?

प्रत्येक कार्य दो तरह से होता है। पुरुष प्रयत्न से तथा महपुरुषों की सहायता से। इन दोनों उपायों के होने पर कार्य की सिद्धि होती है। महापुरुषों की सहायता होना बहुत आवश्यक है किन्तु कार्य सिद्धि में स्वपुरुषार्थ प्रधान है। अपना पुरुषार्थ होने पर ही महापुरुषों की सहायता मिल सकती है, और तभी वह सहायता काम आ सकती है। कहावत भी है कि–

हिम्मते मरदां मदद खुदा

यदि मनुष्य स्वयं हिम्मत करता है तो परमात्मा भी उसकी मदद करता है। जो खुद हिम्मत या पुरुषार्थ नहीं करता, उसकी कोई कैसे मदद कर सकता है? अतः खुद पुरुषार्थ करना चाहिए। मदद भी मिलती जायेगी।

अरिहन्त को नमस्कार करके आचार्यादि को नमस्कार करने का कारण उनसे सहायता प्राप्त करना है। यद्यपि काम स्वपुरुषार्थ से होता है, फिर भी महान् पुरुषों की सहायता की आवश्यकता रहती है। जैसे मनुष्य

लिखता खुद है मगर सूर्य या दीपक के प्रकाश के बिना नहीं लिख सकता। लिखने में प्रकाश की सहायता लेना अनिवार्य है। मनुष्य चलता खुद है मगर प्रकाश की मदद जरूरी है। उसके बिना चलते चलते खड्डे में गिर सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक काम में महापुरुषों के सहारे की जरूरत रहती है।

परमात्मा की प्रार्थना के विषय में भी यही वात है। यदि हृदय में परमात्मा का ध्यान हो तो दुर्वासना उस समय टिक ही नहीं सकती। परमात्मा ध्यान और दुर्वासना का परस्पर विरोध है। एक समय में दोनों का निर्वाह नहीं हो सकता। जब हृदय में दुर्वासना न रहे तब समझना चाहिए कि अब उसमें ईश्वर का निवास है। यदि जानबूझ कर हृदय में दुर्वासना रखे और ऊपर से परमात्मा का नाम लिया करे तो यह केवल ढोंग है, दिखावा है। सिद्ध और साधक दोनों को सहायता की अपेक्षा है, अतः दोनों को नमस्कार किया गया है।

नमस्कार रूप में जो प्रथम गाथा कही गई है, उसमें एक बात और समझनी है। गाथा में कहा है कि सिद्ध और संयति को नमस्कार करके तत्त्व की शिक्षा दूंगा। इस कथन में दो क्रियाएं हैं। जब एक साथ दो क्रियाएं हों तब प्रथम क्रिया त्वा प्रत्ययान्त होती है। इस क्रिया का प्रयोग अपूर्ण काम के लिए होता है। जैसे कोई कहे कि मैं अमुक काम करके यह काम करूंगा। इसमें दो क्रियाएं हैं। एक अपूर्ण और दूसरी पूर्ण। प्राकृत गाथा में श्री आचार्य ने दो क्रियाएं रख कर एक बड़े परमार्थ की सूचना की है। जैसे सूर्य को अन्धकार के साथ किसी प्रकार का द्वेष नहीं है और न वह अंधकार का नाश करने के लिए ही उदय होता है। उसका उदय होने का स्वभाव है और अंधकार का स्वभाव प्रकाश के अभाव में रहने का है। अतः सूर्य उदय से अंधकार नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानियों का अज्ञानियों या अज्ञान के साथ किसी प्रकार का द्वेष नहीं है। सच्चे तत्त्व का प्रकाशन का निरूपण करने से असत्य या अज्ञान का खण्डन अपने आप ही हो जाता है। ज्ञानी के निरूपण से अज्ञानान्धकार नष्ट होता ही है।

इस गाथा में जो क्रियाएं हैं, उनसे भी ऐसा ही हुआ है। बौद्धों की मान्यता है कि आत्मा निरन्वय विनाशी है। किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि यह बात ... नहीं है। आत्मा का निरन्वय नाश नहीं होता किन्तु सान्वय नाश होता ... पर्यायदृष्टि से आत्मा का नाश होता है, द्रव्यदृष्टि से नहीं। जैसे मिट्टी का ... बनाया गया। मिट्टी का मिट्टी रूप पर्याय नष्ट हो गया और घट पर्याय ... गया। मिट्टी का बिल्कुल नाश नहीं हुआ किन्तु रूप बदल गया है। यदि

मिट्टी का निरन्वय नाश हो जाय तब तो घड़ा किसी हालत में नहीं बनाया जा सकता। सोने के कड़े को तुड़वाकर हार बनवाया गया, यहां कड़े का नाश है मगर निरन्वय नाश नहीं हुआ। कड़ा रूप पर्याय बदल गया और हार रूप बन गया। सोना दोनों अवस्थाओं में कायम रहा। मतलब कि जगत का हर पदार्थ द्रव्य रूप से नाश नही होता किन्तु पर्यायरूप से विनष्ट होता है। यदि द्रव्य नष्ट हो जाय तो फिर पर्याय किसका गिना जाय?

इन गाथा में दो क्रियाएं दी गई हैं, जिनसे बौद्धों की निरन्वय नाश मानने की बात खण्डित हो जाती है। टीकाकार कहते हैं कि यदि आत्मा निरन्वय नाशी हो तो गाथा में दी गई दोनों क्रियाएं निरर्थक हो जायेंगी। सिद्ध और संयति को नमस्कार करके तत्व की शिक्षा देता हूं। इस वाक्य में 'नमस्कार करके' तथा 'शिक्षा देता हूं' ये दो क्रियाएं हैं। प्रथम नमस्कार किया गया और बाद में शिक्षा देने का कार्य आरम्भ किया गया। दोनों क्रियाओ का कर्ता आत्मा एक ही है। यदि आत्मा का निरन्वय एकांत नाश माना जाय तो दोनों क्रियाओं का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। आत्मा क्षण क्षण विनष्ट होता है और वह भी सर्वथा नष्ट यदि होता है तथा उसकी पर्यायें ही नष्ट नहीं होती किंतु वह खुद नष्ट हो जाता है तो वैसी हालत में नमस्कार करने वाला आत्मा नष्ट हो जाता है। फिर शिक्षा कौन देगा? अथवा यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा देने वाला आत्मा दूसरा है क्योंकि नमस्कार करने वाला आत्मा तो क्षणविनाशी होने के कारण उसी समय नष्ट हो गया और शिक्षा देने के लिए कायम न रहा। इस प्रकार आत्मा को निरन्वय विनाशी मानने से उपर्युक्त दोनों क्रियाएं व्यर्थ हो जाती हैं। किन्तु आत्मा बौद्धों की मान्यता मुताबिक एकान्त विनाशी नही है। आत्मा द्रव्य रूप में कायम रहता है। अतः दोनों क्रियाएं सार्थक हैं। दो क्रियाओं के प्रयोग मात्र से ही बौद्धों की क्षणवादिका का खण्डन हो जाता है।

आत्मा का एकांत विनाश मानने से अनेक हानियां हैं। इस सिद्धांत पर कोई टिक भी नहीं सकता। उदाहरण के लिए किसी आदमी ने दूसरे आदमी पर दावा दायर किया कि मुझे इससे अमुक रकम लेनी है, वह दिलाई जाय। मुदायले ने कोर्ट में हाकिम के समक्ष यह बयान दिया कि यह दावा बिलकुल झूठा है। कारण यह है कि रुपये देने वाला मुद्दई और रुपये लेने वाला मुदायला दोनों ही कभी के नष्ट हो चुके हैं। हाकिम ने मन में सोचा कि यह देनदार चालाकी करके सिद्धांत की ओट में बचाव करना चाहता है। अतः उसने उस आदमी को कैद की सजा देने की बात सुनाई। सुनकर वह रोने

लगा और कहने लगा कि मैं रुपये दे दूंगा। सजा मत करिये। हाकिम ने उस आदमी से कहा कि अरे, रोता क्यों है? तू तो कहता था कि आत्मा क्षण क्षण में पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाता है और वदल जाता है, तव सजा भुगतते वक्त भी न मालूम कितनी वार आत्मा नष्ट हो जायेगा और वदल जायेगा। दुःख किस बात का करता है? मैं रुपये दिये देता हूं। मुझे सजा मत करिये। कह कर उसने उसी वक्त रुपये दे दिये और पिंड छुड़ाया। इस प्रकार वह अपने क्षणवाद के सिद्धांत पर कायम न रह सका।

कहने का मतलव यह है कि जब भावी पर्याय का अनुभव किया जाता है, तब भूत पर्याय का अनुभव क्यों नहीं किया जाता? अवश्य किया जा सकता है। यदि ऐसा माना जाय कि जीव भावी क्रिया का अनुभव करता है लेकिन भूत पर्याय का अनुभव नहीं करता, तब सब क्रियाएं व्यर्थ सिद्ध होंगी, मोक्ष भी नहीं होगा। आत्मा के विनाश के साथ क्रिया का भी विनाश हो जायेगा। इस प्रकार पुण्य पाप कुछ न रहेगा। अतः हर एक पदार्थ एकान्त विनाशी है, यह सिद्धांत ठीक नहीं है। टीकाकार ने दो क्रियाओं का प्रयोग करके दार्शनिक मर्म समझाया है।

बीसवें अध्ययन में कही हुई कथा महापुरुष की है। इस कथा के वक्ता महा निर्ग्रन्थ हैं और श्रोता महाराजा हैं। इन महापुरुषों की वातें हम जैसों के लिये कैसे लाभदायी होंगी, इसका विचार करना चाहिए। इस कथा के श्रोता राजा श्रेणिक का परिचय करते हुए कहा हैः–

पभूय रयणो राजा सेणिओ मगहाहिवो।

मगधदेश का स्वामी राजा श्रेणिक बहुत रत्न वाला था। पहले रत्न का अर्थ समझ लीजिए। आप लोग हीरे, माणिक आदि को रत्न मानते हो लेकिन ये ही रत्न नहीं हैं, कुछ अन्य पदार्थ भी रत्न कहे जाते हैं। नरों में भी रत्न होते हैं, हाथी, घोड़ा आदि में भी रत्न होते हैं और स्त्रियों में भी रत्न होते हैं। रत्न का अर्थ बहुत व्यापक है। रत्न का अर्थ श्रेष्ठ भी होता है। जो श्रेष्ठ होता है, उसे भी रत्न कहा जाता है। राजा श्रेणिक के यहां ऐसे अनेक रत्न थे।

यह बात विचार करने लायक है कि शास्त्रकार ने श्रेणिक राजा के लिए अन्य विशेषणों का प्रयोग न "करके बहुत रत्नों का स्वामी था" ऐसा क्यों कहा। प्रभूत रत्न कहने का आशय यह है कि यदि कोई अनेक रत्नों का स्वामी हो तो भी उसका जीवन बेकार है। किन्तु जिसने अपने आत्मरत्न को पहचान लिया है, उसका जीवन सार्थक है। यदि आत्मा को न पहिचाना तो सव रत्न

व्यर्थ हैं। अन्य सब रत्न तो सुलभ है किन्तु धर्म रत्न दुर्लभ है। धर्म रूपी रत्न के मिलने पर ही अन्य रत्न लेखे में गिने जा सकते है, अन्यथा वे व्यर्थ हैं।

आप लोगों को सब से बड़ी सम्पदा मनुष्य जन्म के रूप में मिली हुई है। आप इसकी कीमत नहीं जानते। यदि आप इसकी कीमत जानते होते तो यह विचार अवश्य करते कि हम कंकड़ पत्थर के बदले जीवन रूपी रत्न को खो रहे हैं? आप पूछेंगे कि हम क्या करें कि जिससे हमारा यह मनुष्य जन्म रूप रत्न व्यर्थ न होकर सार्थक बन जाय। आपको रोज यही तो बताया जाता है कि यदि जीवन सफल करना है तो एक एक क्षण का उपयोग करो। वृथा समय मत गमाओ। हर क्षण परमात्मा का घोष हृदय में चलने दो। आत्मा को ईश्वरमय बनाने का प्रयत्न करना रत्न को सार्थक बनाना है।

फिर आप पूछेंगे कि 'आत्मा को परमात्मा कैसे बनाया जाता है' तो इसका उत्तर यह है कि संसार में पदार्थ दो प्रकार के होते हैं 1. काल्पनिक 2. वास्तविक। पदार्थ कुछ और है और उसके विषय में कल्पना कुछ और कर ली जाय, यह अज्ञान है। अज्ञान से की हुई कल्पना ही आपको गड़बड़ में डाल देती है। कल्पना का पदार्थ दूसरा होता है और वास्तविक पदार्थ दूसरा। वास्तविक पदार्थ के विषय में की गई कल्पना से उत्पन्न अज्ञान तब तक नहीं मिटता जब तक कि वह वास्तविक देख न लिया जाय। दृष्टान्त के तौर पर समझिये कि किसी आदमी ने सीप में चांदी की कल्पना कर ली। जब वह निकट पहुंचा और ध्यान पूर्वक देखने लगा तब उसका वह मिथ्या ज्ञान नष्ट हो गया और वास्तविक ज्ञान उत्पन्न हो गया। जैसी सीप में चांदी की कल्पना मिथ्या है क्योंकि अन्य पदार्थ को अन्य रूप से मान लेना अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप में नहीं है, उसे उस रूप में मान लेना ही अज्ञान है। इस प्रकार की कल्पना को छोड़िये और अपने हृदय में परमात्मा के नाम का गुंजन होने दीजिये। यह सोचिये कि मैं नाक, कान, हाथ, पैर आदि नहीं हूं। ये तो पुद्गल के रूप हैं। मैं शुद्ध चेतनमय आनंदघन मूर्ति हूं। इस तरह सोचने से आपको जो मनुष्य जन्म रूप रत्न मिला हुआ है, वह सार्थक होगा।

जब आप सोते हैं तब आंख, कान आदि सब बन्द रहते हैं, फिर भी स्वप्नावस्था में आत्मा देखता व सुनता है। स्वप्नावस्था में इन्द्रियां सो जाती है और मन जागृत रहता है। इस अवस्था को ही स्वप्नावस्था कहते हैं। बाह्य इंद्रियां सोई हुई हैं फिर भी स्वप्न में इंद्रियों का काम होता ही है। स्वप्न में मनुष्य नाटक सिनेमा देखता है और गाने भी सुनता है। इंद्रियों के सोते रहते स्वप्नावस्था में इंद्रियों का काम कौन करता है, इस बात का जरा ध्यान पूर्वक

विचार कीजिये। इस बात का विवेक करिये कि आत्मा की शक्ति अनन्त है लेकिन भ्रमवश अथवा अज्ञान या मिथ्याधारणा के कारण वह शरीरादि को अपना मान बैठा है। आत्मा का यह भ्रम वास्तविक पदार्थ के देख लेने से तुरन्त मिट सकता है। जैसे सीप को देखते ही चांदी का भ्रम मिट जाता है। जड़ शरीर और चेतन आत्मा का यह बेमेल संबंध क्यों और कैसे है, इस बात पर विचार करिये। विचार करने से सद्ज्ञान प्राप्त होगा। विचार करके जो पदार्थ हमारे नहीं हैं उनको छोड़ने की कोशिश कीजिये। जब शरीर भी हमारा अपना नहीं हो सकता तो धन दौलत और कुटुम्बादि हमारे कब हो सकते हैं? अपने पराये का वास्तविक ज्ञान ही मोक्ष की कुंजी है। आत्मा में अनन्त शक्तियां रही हुई हैं। यह बिना आंख के देखता और बिना कान के सुनता है, जीभ के बिना रसास्वाद करता है। स्वप्न में न इंद्रियां हैं और न पदार्थ, फिर भी आत्मा कल्पना के द्वारा सब कुछ अनुभव करता ही है। स्वप्न में आत्मा गंध रस स्पर्श की कल्पना करके आनन्द मानता है। क्रोध, लोभ आदि विकारों के वश में भी होता है। स्वप्न में सिंह आदि हिंसक प्राणियों को देख कर भयभीत भी होता है, दुःखी भी होता है और सुखी भी। कोई मुझे काट रहा है तथा कोई मेरे शरीर पर चन्दन का लेप कर रहा है आदि भी अनुभव होता है।

स्वप्न की सब घटनाओं से आत्मा की शक्ति का पता लगता है कि बिना भौतिक इंद्रियों की सहायता के भी वह किस प्रकार सब काम चला लेता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक पदार्थों के साथ आत्मा का कोई ताल्लुक नहीं है। जो संबंध है वह वास्तविक नहीं है किन्तु हमारी गलत समझ के कारण है। 'मैं इस तरह की कल्पना की चीजों में आत्मा को न डालूं किन्तु परमात्मा में अपने आपको लगा दूं'' यह विचार करने से मनुष्य जीवन रूपी रत्न की सार्थकता है।

प्रत्येक काम उसके स्वरूप के अनुसार ठीक होना चाहिये। उद्देश्य कुछ और हो और काम कुछ अन्य करते हों तो साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसा करने से 'बनाने गये गणेश और बन गये महेश' वाली कहावत चरितार्थ होती है। कार्य किस प्रकार ढंग से करना चाहिए, यह बात एक उदाहरण से समझाता हूं।

एक साहसी चोर साहस करके राजा के महल में घुस गया। महल में वह घुस तो गया, किन्तु राजा की नींद खुल जाने से वह भयभीत हो गया। चोर का साहस ही कितना होता है? मालिक के जाग जाने पर चोर की ठहरने की हिम्मत नहीं रहती। राजा को जागा हुआ देखकर चोर ने सोचा कि यद्यपि मैं पकड़ा जाऊंगा तो मारा जाऊंगा। अतः वह चोर वहां से भागा। राजा ने

उसने उफ तक नहीं किया। सिपाहियों ने पुनः राजा से कहा कि सचमुच यह मर गया है, कपटपूर्वक नहीं पड़ा है। हमने इसे इतना पीटा है कि खून वह चला है, फिर भी इसने चूं तक नहीं किया है। राजा ने कहा कि दरअसल वह जिन्दा है, मरा नहीं है। मुर्दे के शरीर से खून नहीं निकलता। उसके खून का पानी हो जाता है। इसके शरीर से खून निकल आया है, अतः यह जिन्दा है। इसे धीरे से उठा लो और इसके कान में कह दो कि तेरे सब गुन्हा माफ है, उठ खड़ा हो। यह सुनते ही चोर उठ खड़ा हुआ और राजा के सामने आकर हाजिर हो गया।

राजा सोचने लगा कि यह चोर मेरे भय से मुर्दा बन गया था। मनुष्य के भय से भी मनुष्य इस प्रकार मुर्दा बन सकता है तो मुझे मृत्यु के भय से क्या करना चाहिए? राजा ने चोर से पूछा कि तेरे पर इतनी मार पड़ने पर भी तू क्यों नहीं बोला? चोर ने उत्तर दिया कि महाराज! जब मैंने मुर्दे का स्वांग किया था तब कैसे बोल सकता था? मुर्दा बना और मार पड़ने पर रोने लगूं, यह कैसे हो सकता है? राजा ने चोर से कहा कि मालूम होता है तुम बड़े भक्त हो। चोर ने कहा कि– मैं भक्ति कुछ नहीं जानता, मैं तो आपके भय से अचेत पड़ा था। राजा ने पुनः कहा कि हे चोर! जैसे मेरे भय से तू मुर्दा अर्थात शरीरादि के प्रति अनासक्त बना, वैसे ही यदि इस संसार के दुःखों के भय से बन जाय तो तेरा कल्याण हो जाय। चोर कहने लगा– मैं ज्ञान की इन बातों को नहीं समझता।

दृष्टांत कहने का सारांश यह है कि चोर ने मुर्दे का स्वांग भरा था और उसे पूरा निभाया भी था। यदि वह मार खाते वक्त बोल जाता तो क्या उसकी रक्षा हो सकती थी? कभी नहीं। उसने मार खाकर भी अपने विरुद्ध रक्षण किया था। चोर के समान आप भी यदि अपने विरुद की रक्षा करो तो भगवान् दूर नहीं हैं। ऊपर से यदि कहो कि हमारे हृदय में भगवान बसा है और भीतर में काम क्रोध आदि विकारों को स्थान दे रखो तो क्या आपका स्वांग पूरा गिना जायेगा और आपके मन में भगवान् वास कर सकते हैं? चोर ने अपना विरुद निभाया तो क्या आप नहीं निभा सकते? सांसारिक प्रपंचों और झगड़ों में पड़ कर अपना विरुद मत खोओ। भक्त कबीरदास ने कहा है कि–

तूं तो राम सुमर जग लड़वा दे।।
कोरा कागज काली स्याही, लिखत पढ़त वाको पढ़वा दे।
हाथी चलत है अपनी गत सों, कुतर भुकत वाको भुकवा दे।
कहत कबीर सुनो आई साधु, नरक पचत वाको पचवा दे।

आप कहेंगे कि आज राम कहां है? राम तो दशरथ के पुत्र थे जिनको हुए हजारों वर्ष बीत चुके हैं। मैं कहता हूं राम आप सब के हृदय में बसा हुआ है।

रमन्ति योगिनो यस्मिन् स राम :

जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, वह राम है। योगी लोग आत्मा में ही रमण करते हैं, अतः आपकी आत्मा ही राम है। ऐसी आत्मा का सदा स्मरण करिये। किन्तु स्मरण किस प्रकार करना चाहिए, इसका खास ख्याल रखिये। यदि चोर मार खाते वक्त उफ भी कर देता तो उसका स्वांग पूरा न गिना जाता। इसी प्रकार आप परमात्मा का नाम लेकर भी यदि संसार के झगड़ों में पड़ गये तो क्या भक्त बनने का आपका स्वांग पूरा गिना जायेगा? कभी नहीं। यह सोचना चाहिए कि मेरी आत्मा हाथी के समान है। संसार के झगड़े कुत्तों के समान हैं। यदि इस आत्मा रूपी हाथी के पीछे झगड़े–टण्टे रूप कुत्ते भूसते हों तो इससे आत्मा को क्या। कोई कोरे कागज पर स्याही से कुछ भी लिखता हो तो वह लिखता रहे इससे आत्मा को क्या हानि है इस प्रकार सोचकर परमात्मा की शरण जाने से आपका सब मनोरथ सिद्ध होगा। चोर द्वारा स्वांग निभाने पर राजा का हृदय परिवर्तित हो गया तो कोई कारण नहीं है कि आपके द्वारा ईश्वर भक्त का स्वांग पूरी तरह निभाने पर आपके लिए लोगों का हृदय न बदले। आप लोग, पक्की परीक्षा हो जाने के बाद भक्त के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहते हैं। भक्ति में कपट नहीं होना चाहिए। कपट का पर्दा कभी न कभी फाश हुए बिना नहीं रहता।

आप लोग घरबार वाले हैं अतः व्याख्या सुनकर यहां से घर पहुंचते ही संसार की अनेक उपाधियां आपको आ धरेंगी। उपाधियों के वक्त भी यदि आप लोग मेरा यह उपदेश ध्यान में रक्खोगे तो आपका वास्तविक कल्याण होगा और यहां बैठकर व्याख्यान श्रवण का कार्य सफल होगा। व्याख्यान हाल एक शिक्षालय है जहां अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती है। शिक्षालय से शिक्षा ग्रहण करके उसका उपयोग जीवन व्यवहार में किया जाता है। इसी प्रकार यहा से ग्रहण की हुई शिक्षाओं का पालन यदि जीवन में न किया गया तो शिक्षा लेना व्यर्थ हो जायेगा। जो पालन करेगा उसका यह भव और पर भव दोनों सुधरेगा।

अग्नि शीतल शील से रे, विषधर त्यागे विष।
शशक सिंह अज गज हो जावे, शीतल होवे विषरे। ।धन।।
सत्य शील को सदा पालते, श्रावक सुर शृंगार।
धन्य–धन्य जो गृहस्थवास में, चाले दुर्धर धार रे ।धन।

सुदर्शन का व्याख्यान तो, उसके शरीर का है और न वैभव का। किन्तु वह शील का पालन करके मुक्तिपुरी में पहुंचा है अतः उसको नमस्कार करते हैं और उसका व्याख्यान भी करते हैं।

आज सुदर्शन मौजूद नहीं है अर्थात् उसका वह भौतिक कलेवर जिसके द्वारा उसने महान् शीलव्रत का पालन किया था हमारे समक्ष उपस्थित नहीं है तथापि उसका यशः शरीर, चरित्र और मोक्ष तीनों मौजूद हैं। जिस शील का आचरण करने से आज उसका व्याख्यान किया जा रहा है, उस शील के प्रताप से धधकती हुई आग भी शीतल हो जाती है। दृष्टांत के लिए सीता की अग्नि परीक्षा प्रसिद्ध ही है। कदाचित् सीता का दृष्टांत पुराना बताकर कोई भाई इस बात पर एतबार न करे कि शील से अग्नि कैसे शांत हो सकती है तो उनके लिए ऐतिहासिक ऐसे उदाहरण मौजूद हैं कि धर्म की परीक्षा के लिए उनको आग में झोंका गया लेकिन अग्नि उन्हें न जला सकी। केवल भारत में ही ऐसे उदाहरण नहीं है किन्तु यूरोप में भी ऐसे उदाहरण हैं। अग्नि कहती है कि मैं कुशील–व्यक्ति को जला सकती हूं, सुशील या सदाचारी को जलाने की मुझ में ताकत नहीं है। उस सुशील आत्मा की महान् आध्यात्मिक शाति के सामने मेरी गरमी नष्ट हो जाती है। जब द्रव्यशील की यह शक्ति है तव भावशील की क्या बात करना?

मेरे कथन को सुनकर कि शील पालने से अग्नि शीतल हो जाती है कोई भाई एक आध दिन शील का पालन करके यह जांच न करे कि देखू मेरे हाथ को अग्नि जलाती है या नहीं? और यह सोच कर कोई घर जाकर चूल्हे की अग्नि में अपना हाथ मत डाल देना। यदि कोई ऐसा करेगा तो वह मूर्ख गिना जायेगा। जिस शक्ति की बात कही जा रही है, माप भी उसी के अनुसार होना चाहिए। कहा जाता है और सत्य भी है कि हवा में भी वजन होता है। कोई आदमी एक लिफाफे में भर कर उसे तोलने लगे तो वह न तुलेगी। लिफाफे में हवा न तुलने से कोई आदमी यह निष्कर्ष निकाले कि हवा में वजन होने की बात बिलकुल गलत है तो यह उसकी भूल है। हवा तोली जा सकती है मगर उसे तोलने के साधन जुदा होते हैं। हवा बहुत सूक्ष्म है, अतः उसे तोलने के साधन भी सूक्ष्म होंगे। किसी के ऐसा कह देने से क्या हवा के विषय में किसी प्रकार की शंका की जा सकती है?

शील की शक्ति से अग्नि शीतल हो जाती है। मगर कब और किस हद तक शील पालने से होती है इसका अध्ययन करना चाहिए। केवल शील

सो गये। जब पेशवा वापस आये तब देखा कि महादजी पर एक सांप छाया किये हुए है। उन्होंने सोचा साक्षात् काल रूप सांप भी जिसकी रक्षा कर रहा है, उस आदमी से मैं ऐसा तुच्छ काम ले रहा हूं। ऐसा सोचकर पेशवा ने महादजी को बढ़ाना शुरू किया। आज महादजी के वंशज करोड़ों की जागीरें भोग रहे हैं। उनके पैसे और कागज आदि पर सांप का चित्र आज भी रहता है।

कहने का भावार्थ यह है कि जब शील पूर्ण रूप से पाला जाय तब सांप भी नहीं काटता। लेकिन कोई इस कथन पर सांप के मुंह में हाथ न डाले अथवा सांप को पकड़ कर बच्चे पर छाया न करवाये। कोई ऐसा करे तो यह उसकी भूल है। यदि हममें शील का तेज होगा तो प्रकृति अपने आप हमारी सहायता करेगी।

शील की शक्ति से सिंह भी खरगोश के समान गरीब बन जाते हैं। जो व्यक्ति सुदर्शन के समान किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति में अपने शील का भंग नहीं होने देता किंतु सदा शील की रक्षा करता है, उसी का शील सच्चा शील है। आप में शील के प्रति सच्ची श्रद्धा हो तो फिर कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। आज सच्चे कामों के प्रति लोगों की श्रद्धा हिल चुकी है अतः सब कुछ कहना पड़ता है।

जिस व्यक्ति में पूर्ण शील है, वह किसी प्रकार का चमत्कार दिखाना पसन्द नहीं करता। आप कहेंगे कि चमत्कार देखे बिना हमें शील धर्म पर विश्वास कैसे होगा? यदि साधु लोग चमत्कार दिखाने लगें तो बहुत लोग उनकी तरफ आकर्षित होंगे। यह बात ठीक है कि चमत्कार को नमस्कार, मगर सच्चे साधुओं को न तो नमस्कार की परवाह होती है और न वे कभी चमत्कार दिखाने के झंझट में पड़ते हैं। वे तो अपना आत्म–लाभ करने में तल्लीन रहते हैं। इस बात को एक छोटे से दृष्टान्त से समझाता हूं।

एक आदमी ने जलतरण विद्या सीखी। वह सीखकर लोगों को अपना चमत्कार दिखाने लगा कि देखो, मैं जल में किस प्रकार टिक सकता हूं और तैर सकता हूं। एक योगी वहां आ पहुंचा और कहने लगा कि अरे, क्या अभिमान में फूले जा रहे हो? तीन पैसे की विद्या पर इतना घमण्ड मत करो। उस आदमी ने कहा– योगीराज! मैंने साठ वर्ष तक परिश्रम करके यह जलतरण विद्या सीखी है और आप इसे तीन पैसे की बता रहे हैं? हां, हां, यह तीन पैसे की विद्या है कारण, तीन पैसे में नदी पार की जा सकती है। नौका तीन पैसे लेकर उस पार पहुंचा देता है। साठ साल के परिश्रम से यदि तूने यही सीखा है तो वस्तुतः समय बर्बाद किया है। अगर साठ साल बिगाड़

कर इस तरह का खेल ही दिखाया तो जीवन नष्ट ही किया है। साठ साल में केवल नौका ही बन सके, आत्मकल्याण न साध सके।

इसी प्रकार यदि कोई घरबार छोड़ कर साधु बने और शील धर्म का पालन करे, फिर भी आत्म–कल्याण करने के बजाय चमत्कार दिखाने में लग जाय तो उसका साधुत्व नष्ट हो जायेगा। अतः सच्चे साधु शील रूपी जल में निमग्न रहते हैं। वे चमत्कार नहीं दिखाते। साधु तो घर–स्त्री आदि छोड़कर शील का पालन करने के लिए ही कटिबद्ध हुए हैं अतः पालते ही हैं। मगर सुदर्शन ने गृहस्थावस्था में होते हुए भी शील का पालन किया है, अतः वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

शील किस प्रकार पाला जाता है, इसके शास्त्र में उदाहरण मौजूद हैं। आप उनको ध्यान में लीजिये। केवल यह मान बैठिये कि स्त्रीप्रसंग न करना ही शील है वास्तव में जब तक वीर्य की रक्षा न की जाय तब तक तेज नहीं आ सकता। अतः परस्त्री या घर–स्त्री सब से बचकर नष्ट होने वाले वीर्य की रक्षा कीजिए।

एक आदमी की अंगूठी में रत्न जड़ा हुआ था। वह उसे निकाल कर पानी में फेंकना चाहता था। दूसरा आदमी अपनी अंगूठी की रक्षा किया करता था। इन दोनों में से आप किसे होशियार कहेंगे? रत्न की रक्षा करने वाले को ही होशियार कहेंगे। जिस वीर्य से आपका यह शरीर बना हुआ है, उस वीर्य रूपी रत्न को इधर उधर नष्ट करना कितनी मूर्खता है? यदि आप उसकी रक्षा करेंगे तो आप में तेजस्विता आ जायेगी, आज लोग वीर्यहीन होते जा रहे हैं। यही कारण है कि डॉक्टरों की शरण लेनी पड़ती है। पहले के लोग वीर्यवान् होते थे, अतः डॉक्टरी सहायता की उन्हें बहुत कम आवश्यकता पड़ती थी।

आज संतति–निरोध के नाम पर स्त्री का गर्भाशय ऑपरेशन कराके निकलवा डालने का भी रिवाज चल पड़ा है। स्त्री का गर्भाशय निकलवा देने पर चाहे जितना विषय सेवन किया जाय, कोई हर्ज नहीं, यह मान्यता आज कल बढ़ती जा रही। लेकिन यह पद्धति अपनाने से आपके शील की तथा आपकी कोई कीमत न रहेगी। वीर्य–रक्षा करने से ही मनुष्य की कीमत है, वीर्य को पचा जाने में ही बुद्धिमत्ता है।

आधुनिक डॉक्टरों का मत है कि जवान आदमी शरीर में वीर्य को नहीं पचा सकता। ऐसा करने से दूसरी हानि होने की संभावना रहती है। इस मान्यता के विपरीत हमारे ऋषि मुनियों का अनुभव कुछ जुदा है। शास्त्र में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नववाड़ बतलाई हुई है, जिनकी सहायता से शरीर मे वीर्य पचाया जा सकता है।

अमेरिकन तत्ववेत्ता डॉक्टर थौर एक वार अपने शिष्य के साथ जंगल में गया था। शिष्य ने उनसे पूछा कि यदि कोई आदमी अपने वीर्य को शरीर में न पचा सके तो उसे क्या करना चाहिए? थौर ने उत्तर दिया कि ऐसे व्यक्ति के लिए जीवन भर में एक बार स्त्री प्रसंग करना अनुचित नहीं है। ऐसा करना वीर का काम है। जिस प्रकार सिंह जीवन में एक वार सिंहनी से मिलता है। वैसे ही जो जीवन में एक बार स्त्री संग करता है, वह वीर पुरुष है। शिष्य ने पूछा कि यदि ऐसा करने पर भी मन न रुके तो क्या करना चाहिये? थौर ने उत्तर दिया कि साल में एक बार स्त्री प्रसंग करना चाहिये। फिर शिष्य ने पूछा यदि इस पर भी मन न रुके तो क्या करना? गुरु ने कहा कि मास में एक बार स्त्री से मिलना चाहिये। यदि इस पर भी मन न रुके तो क्या करना चाहिये, पूछने पर थौर ने उत्तर दिया कि फिर मर जाना चाहिये।

पवनजय की हनुमानजी एक मात्र सन्तान थे। अंजना पर कोप करके पवनजी बारह वर्ष तक अलग रहे अलग रहकर उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया था, किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। बारह वर्ष बाद अंजना से मिले थे, अतः हनुमान जैसा वीर पुत्र उत्पन्न हुआ था। आज लोगों को सशक्त और तेजस्वी पुत्र तो चाहिये, मगर यह विचार नहीं करते कि हम वीर्य रक्षा कितनी करते हैं, डॉक्टर थौर ने कहा है कि मास में एक वार स्त्री–प्रसंग करने पर भी यदि मन न रुकता हो तो उस आदमी को मर ही जाना चाहिए क्योंकि जो आदमी मास में एक बार से अधिक वीर्य नाश करता है, उसके लिए मरने के सिवाय और क्या मार्ग है?

आज समाज की क्या दशा है? आठम चौदस को भी शील पालने की शिक्षा देनी पड़ती है। आठम चौदस की प्रतिज्ञा लेकर लोग ऐसे भाव दिखलाते हैं, मानो हम साधुओं पर कोई उपकार करते हैं। सच्चा श्रावक स्वस्त्री का आगार होने पर भी अपनी स्त्री के साथ भी संतोष से काम लेगा। जहां तक होगा बचने की कोशिश करेगा। सब सुधारों का मूल शील है। आप यदि जीवन में शील को स्थान देंगे तो कल्याण है। सुदर्शन किसका लड़का था, और उसका जन्म किस प्रकार हुआ, यह बात अवसर होने पर आगे कही जायेगी।

राजकोट, 8–7–36 का व्याख्यान

6 : स्वतन्त्रता

"सुज्ञानी जीवा भजले रे जिन इकवीसमां। प्रा0....."

यह इक्कीसवें तीर्थकर भगवान् नेमीनाथ की प्रार्थना है। परमात्मा की कैसी प्रार्थना करनी चाहिए, इस विषय पर बहुत विचार किया जा सकता है किन्तु इस समय थोड़ा सा प्रकाश डालता हूं। इस प्रार्थना में कहा गया है कि–

तू सो प्रभु, प्रभु सो तू है, द्वैत कल्पना मेटो।

यह एक महावाक्य है। इसी प्रकार दूसरों ने भी कहा है–

देवो भूत्वा देवं यजेत्

इन पदों का भावार्थ यह है कि प्रभु की प्रार्थना गुलाम बनकर मत करो किन्तु परमात्म स्वरूप बनकर करो।

यदि कोई यह कहे कि जब हम खुद परमात्म स्वरूप हैं तब प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता रह जाती है? प्रार्थना तो इसलिए की जाती है कि हम अपूर्ण हैं और परमात्मा सम्पूर्ण है। हम आत्मा हैं, वह परमात्मा है। अपूर्ण से सम्पूर्ण और आत्मा से परमात्मा बनने के लिए ही तो प्रार्थना की जाती है। परमात्मा रूप बनकर ही कैसे प्रार्थना कर सकते हैं? ऊपर ऊपर देखने से तो यह शंका ठीक मालूम देती है किन्तु आंतरिक विचार करने से ऐसी शंका कभी नहीं उठ सकती। कुंभकार मिट्टी से घड़ा बनाता है। यदि मिट्टी में घड़ा बनाने की योग्यता ही न हो तो क्यों प्रयत्न करने लगा? सोनी सोने का जेवर बनाता है। यदि सोने में जेवर रूप बनने की शक्ति ही न हो तो सोनी क्या कर सकता है? आप जो कपड़े पहिनते हैं वे सूत के धागों में बने हुए हैं। यदि सूत में कपड़ा रूप से परिणत होने की योग्यता न हो तो आपके शरीर की शोभा कैसे हो सकती है? यही बात परमात्मा स्वरूप बनकर परमात्मा की प्रार्थना करने के विषय में भी समझिये। जिस वस्तु में जैसी शक्ति होती है, वही वस्तु वैसी

बन सकती है। यदि आप में परमात्मा बनने की योग्यता अथवा शक्ति विद्यमान न हो तो आपको परमात्मा की प्रार्थना करने की बात ही क्यों कही जाय? बीजरूप से आप हम सब में परमात्मा विद्यमान है। प्रार्थना रूप जल सिंचन करने से वह बीज फलद्रुम हो सकता है। बीज ही न हो तो जल और मिट्टी क्या कर सकते हैं? अतः गुलामवृत्ति– दासवृत्ति को छोड़ कर अपने लिए यह मानते हुए प्रार्थना करिये कि मैं खुद परमात्मा हूं। इस वक्त कपट रूप आवरण के कारण मेरा ईश्वरत्व ढका हुआ है। हे प्रभु! मैं आप से इसलिए प्रार्थना करता हूं कि आपकी सहायता से मेरे आत्म देव पर लगा हुआ कर्म रूप मैल दूर हो जाय और मैं भी आप जैसा ही बन जाऊं। मैं गुलाम नहीं हूं। मैं स्वतन्त्र हूं। ऐसी भावना रखने से गुलामवृत्ति छूट जाती है।

राष्ट्रीय और आर्थिक स्वतन्त्रता भी स्वतन्त्र भावना रखने से ही प्राप्त हो सकती है। सच्चा यकीन रखे बिना राष्ट्रीय स्वतन्त्रता भी दुर्लभ है। जब तक गुलामी की भावना हृदय में से नहीं निकल जाती तब तक स्वतन्त्रता की बातें व्यर्थ हैं। सब लोग स्वतन्त्रता चाहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी करते हैं किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। सबका लक्ष्य भी एक मात्र स्वतन्त्रता प्राप्ति है किन्तु रास्ते जुदे–जुदे बताये जाते हैं। कोई कहता है स्त्रियों को सुशिक्षित बनाये बिना भारत आजाद नहीं हो सकता। कोई कहता है, बिना सात करोड़ अछूत कहे जाने वाले लोगों का उद्धार किये आजादी दुर्लभ है। कोई कहता है बिना ग्रामों और ग्रामोद्योग की उन्नति के स्वतन्त्रता की बातें बेकार हैं। कोई खादी को स्वतन्त्रता की चाबी बताता है। मतलब यह है कि लक्ष्य एक होने पर भी मार्ग जुदा जुदा बताये जाते हैं।

यद्यपि ये सब मार्ग स्वतन्त्रता की प्राप्ति में उपयोगी हैं, किसी न किसी रूप से सब मार्ग काम के हैं। किन्तु आत्मा की गुलामी छूटे बिना सम्पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। जब तक आत्मा में गुलामी के भाव भरे हुए रहेंगे तब तक ये जुदे–जुदे उपाय भी बेकार होंगे। ये सब उपाय अपूर्ण हैं। पूर्ण उपाय तो गुलामवृत्ति का त्याग ही है। आत्मिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता भी इतनी उपयोगी न होगी। जब तक मनुष्य विकारों का गुलाम बना रहेगा, तब तक वास्तविक शांति प्राप्त कर ही नहीं सकता। मान लीजिये कि एक आदमी खादी पहनता है मगर दारू और परस्त्री गमन के व्यसन में फंसा हुआ है तो क्या केवल खादी पहनने मात्र से स्वतन्त्रता मिल जायेगी? मानसिक गुलामी के रहते अन्य स्वतन्त्रता किस काम की? उस स्वतन्त्रता से उल्टा मनुष्य स्वछन्द बन जायेगा। अतः कहा गया है कि आत्मा को

स्वतन्त्र बनाओ। उसमें रहे हुए दुर्गुणों को निकालने का यत्न करो। यदि आत्मा स्वतन्त्र होगा तो वह मन और इंद्रियों का गुलाम न रहेगा, किसी भी दुर्व्यसन में न फंसेगा।

आज मेरा मस्तक ठीक नहीं है। गुजराती भाषा बोलने में दिक्कत होगी अतः हिन्दी भाषा में ही बोल रहा हूं। मुझे उम्मीद है कि हिन्दी भाषा आप सब की समझ में आ जायेगी। दूसरी बात, जब कि मैं अपनी मातृ भाषा हिन्दी को छोड़कर आपकी भाषा अपनाता हूं तब क्या आप मेरी भाषा को न अपनायेंगे? हिन्दी राष्ट्र भाषा है। देश के बीस करोड़ आदमी इसका व्यवहार करते हैं। मुझे विश्वास है कि आपको इस भाषा से प्रेम है।

अनेक लोगों ने आत्मा को सदा गुलाम बनाये रखने का ही सिद्धांत मान रखा है। वे कहते हैं– जीव, जीव ही है और सदा जीव ही रहेगा। शिव, शिव ही है और सदा शिव ही रहेगा। जीव शिव नहीं हो सकता। जीव शिव का दास ही रहेगा। यदि बादशाह किसी नौकर पर प्रसन्न हो जाय तो वह उसे उच्चपद पर पहुंचा देगा। सबसे उच्च पद मंत्री का है। मंत्री बना देगा किन्तु बादशाहत तो नहीं देगा। इसी प्रकार ईश्वर भी हमारे कामों से प्रसन्न होकर हमें सुखी बना देगा, किन्तु ईश्वरत्व तो नहीं दे देगा। बादशाह और नौकर के दृष्टांत से आत्मा और परमात्मा में जो साम्य बताया गया है, वह आध्यात्मिक मार्ग में लागू नहीं हो सकता। बादशाह और नौकर का दृष्टांत स्थूल भौतिक है। जबकि आत्मा और परमात्मा का संबंध सूक्ष्म है, आध्यात्मिक है। इस प्रकार की कल्पना आध्यात्मिक मार्ग में कोई मूल्य नहीं रखती।

अनहलक या खुदा शब्द का अभिप्राय यह है कि मैं ईश्वर हूं। खुदा का अर्थ है जो खुद से बना हो। तो क्या आत्मा किसी का बनाया हुआ है? क्या आत्मा बनावटी है? जैसे कुम्भकार मिट्टी से घड़ा बनाता है, उसी प्रकार हमको भी किसी ने बनाया है? जब कोई हमें बना सकता है तो कोई हमारा विनाश भी कर सकता है। जैसे कि कुम्भकार घड़ा बना भी सकता है और फोड़ भी सकता है। ऊपर के सब प्रश्न निरर्थक हैं। वास्तव में आत्मा वैसा नहीं है। यदि आत्मा बनावटी हो तो मुक्ति या स्वतन्त्रता के लिए किये हुए हमारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होंगे। हम क्या हैं? और कैसे है? सो इस प्रार्थना में बताया ही है:–

तू सो प्रभु, सो तू, द्वैत कल्पना मेटो।
शुद्ध चैतन्य आनन्द विनयचन्द परमारथ पद भेंटो।।सुज्ञानी।।

कायरता और दुविधा के कपड़े फेंककर आत्म स्वरूप को पहिचानिये। आपका आत्मा ईश्वर के आत्मा से छोटा नहीं है। आप तो इतना विकास कर चुके हो, आपकी आत्मा ईश्वर के बराबर है, इस में क्या सन्देह है? खस–खस जितने शरीर में निगोद के अनन्त जीव रहे हुए हैं, उनका आत्मा भी ईश्वर के आत्मा के समान है।

ज्ञानियों के कथनानुसार निगोद के जीव भी ईश्वर रूप हैं। आत्मा की दृष्टि से ईश्वर और इन जीवों में कोई भेद नहीं है। यह बात समझने के लिए यदि किसी अनुभवी सद्गुरु से ठाणांग सूत्र सुना जाय तो शंका का कोई स्थान न रहे। श्री ठाणांग सूत्र के प्रथम ठाणे में कहा है कि:–एगे आया।

अर्थात् आत्मा एक है–समान है। सिद्ध और संसारी का कोई भेद न रखकर कहा है कि आत्मा एक है। सब की आत्मा एक समान है। जैनों के 'एगे आया' एकात्मवाद और वेदान्तियों के अद्वैतवाद में नयदृष्टि से किसी प्रकार का भेद नहीं है। एकांत दृष्टि पकड़ने पर भेद पड़ जाता है। शुद्ध संग्रह नय की दृष्टि से एक आत्मा है, चाहे वह सिद्ध हो चाहे संसारी। जैसे मिट्टी मिला हुआ सुवर्ण और मिट्टी से अलग सुवर्ण एक वस्तु है मगर व्यवहार में उन में भेद गिना जाता है। व्यवहार में एक ही डली की शुद्ध सुवर्ण की रकमों में भी भेद गिना जाता है, जब कि सराफ की दृष्टि में कोई भेद नहीं होता है। यदि मनुष्य हिम्मत न हारे तो मिट्टी में मिले हुए सोने को शुद्ध सोना बना सकता है। ताप आदि के द्वारा मैल दूर किया ही जाता है। किन्तु जब तक मिट्टी और सोना आपस में मिला हुआ है– तब तक व्यवहार में अन्तर गिना जायेगा। मूल्य में भी बड़ा अन्तर रहता है। मिट्टी में रहे हुए सोने को यदि सोना न माना जाय तो कहीं जेब में से तो सोना नहीं टपक पड़ता। मिट्टी में सोना है और प्रयत्न विशेष के द्वारा वह अलग किया जा सकता है। जिन लोगों ने सोने की खानें देखी हैं, वे इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

जिस प्रकार शुद्ध और अशुद्ध सोने में अन्तर है और वह अन्तर व्यवहार की दृष्टि से है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में जो भेद है, वह व्यवहारनय से है। शुद्ध संग्रहनय की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है। जैसे मिट्टी में मिला हुआ सोना भी सोना ही है, वैसे ही कर्ममल से आवृत्त आत्मा ईश्वर ही है। जिस प्रकार सुवर्ण निकाले जाने वाले मिट्टी के डले को स्थल समझवाला व्यक्ति उस में सोना नहीं देख सकता है किन्तु इस का विशेषज्ञ व्यक्ति उस डले में स्पष्ट रूप से सोना देखता है। उसी माया के पर्दे में फंसे हुए और संसार के व्यवहारों में मशगूल व्यक्ति के

आत्मा में भी ज्ञानी जन परमात्मपन देख रहे हैं। मतलब यह है कि आत्मा और परमात्मा की एक ही जाति है। भेद तो औपाधिक है। वास्तविक भेद कुछ नहीं है अतः विद्वानों ने अनुभव करके 'अनल हक' या 'एगे आया' कहा है।

आज के जमाने में 'हमारा आत्मा ईश्वर है' यह मान कर चलने में बड़ी कठिनाई हो रही है। यह कठिनाई मान्यता की ही कठिनाई है। वास्तव में आत्मा से परमात्मा बनना बड़ा सरल काम है। यदि महात्मा लोगों की सत्संगति रूप सहायता प्राप्त हो जाय तो अपने ईश्वर मान कर आगे बढ़ने में कोई कठिनाई नहीं है। दीपक से दीपक जलता है। यह बात एक उदाहरण कहकर समझाना चाहता हूं।

एक साहूकार का लड़का बुरी संगत मे फंस गया। उसके मुनीम गुमाश्ता आदि उसे बहुत समझाते मगर वह किसी की न मानता था। उसने उन समझाने वाले मुनीम गुमाश्तों आदि को भी नौकरी से पृथक् कर दिया। बुरी सोहबत में पड़कर उसने अपनी सारी सम्पत्ति भी खो दी। हितकारी लोग उसे बुरे लगते थे और दुर्जन लोग उसे भले मालूम पड़ते थे। दुर्जनों की सलाह मानकर वह दरिद्र बन गया। स्वार्थी लोग तब तक पास फिरा करते हैं जब तक उनका मतलब सिद्ध होता है। सवार्थ सिद्ध हो जाने पर अथवा भविष्य में स्वार्थ सिद्धि की आशा न रहने पर ये निकट नहीं आते। जैसे पक्षी वृक्ष पर तब तक रहते हैं, जब तक कि उस पर फल होते हैं। फलों के नष्ट हो जाने पर पक्षी अन्यत्र चले जाते हैं। स्वार्थी लोगों का भी यही हाल है। उस साहूकार के लड़के को उसके स्वार्थी मित्रों ने छोड़ दिया। अब उसके पास खाने तक के लिए पैसे न रहे। लड़का सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिए? अन्य काम तो रोके भी जा सकते हैं मगर इस पेट पापी को तो कुछ न कुछ दिए बिना काम न चलेगा। लड़का सदा मौज मजे में ही रहा था अतः कोई हुनर उद्योग भी न जानता था वह भूखों मरने लगा। अन्त में भीख मांगना प्रारम्भ कर दिया।

भिखारी की स्थिति कितनी दयनीय होती है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। कभी भिखारी को अच्छा टुकड़ा भी मिल जाता है मगर उसकी आत्मा कितनी पतित हो जाती है। लड़के की स्थिति खराब हो गई। वह दर दर का भिखारी हो गया, अपना आपा भूल कर हाय रे हाय रे करने लगा। उसके पास दूसरा कोई बर्तन न था अतः ठीकरे में ही मांगने लगा।

दैवयोग से भीख मांगते मांगते एक दिन वह अपने पिता के जमाने के हितैषी मुनीम के घर जा निकला और खाने के लिए रोटी मांगने लगा।

लड़का मुनीम को न पहिचानता था मगर मुनीम ने लड़के को पहिचान लिया। मुनीम ने मन में विचार किया कि यह मेरे महान् उपकारी सेठ का लड़का है मगर आज इसकी क्या दशा है। सेठ का मुझ पर मेरे पिता के समान उपकार है। मुनीम यह सोच रहा था मगर वह लड़का 'भूख लगी है, कुछ भोजन हो तो देओ' की रट लगा रहा था। मुनीम यदि चाहता तो दो रोटी देकर उसे रवाना कर देता मगर उसके मन में कुछ दूसरी भावना थी। किसी भिखारी को दो पैसे देकर उससे पिण्ड छुड़ाना दूसरी बात है और उसका सुधार करना या हमेशा के लिए उसका सुधार करना या हमेशा के लिए उसका भिखारीपन मिटा देना अन्य बात है। हमारे देश में उदारता तो बहुत है मगर सामने वाले को गुलाम बने रहने देकर देने की उदारता है। गुलामी से छुड़ाकर देने की उदारता बहुत कम है।

मुनीम ने लड़के से कहा कि यहां मेरे पास आओ। लड़का सोचने लगा कि मैं इस लिबास में ऐसे भव्य भवन में कैसे जाऊं? वहीं खड़ा-खड़ा कहने लगा कि जो कुछ देना हो वह यहीं पर दे दो। मुनीम के बहुत आग्रह से वह उसके पास चला गया। मुनीम ने पूछा कि क्या तुम मुझे पहिचानते हो? लड़के ने कहा, आप जैसे उदार और बड़े आदमी को कौन नहीं जानता? मुनीम ने कहा, इन बढ़ावा देने वाली बातों को जाने दो। मैं तेरा नौकर हूं। तेरी स्थिति बिगड़ जाने से तू मुझे भूल गया है। मैं तुझे नहीं भूला हूं। लड़के ने कहा, माफ करिये सेठ साहिब, मेरी क्या बिसात जो आपको नौकर रख सकूं। मैं तो दर-दर का भिखारी हूं। मुनीम ने याद दिलाया कि मैं तुम्हारे यहीं नौकर था। जब तुम छोटे थे तब बुरी संगति में फंस गये थे। मैं तुम्हें खूब समझाता था कि इन धूर्तों की संगति में मत जाया करो। मेरी बात न मानने से आज तुम्हारी यह दशा है। तुमने मेरी बात न मानी थी, अतः अब मैं तुम्हारी अवहेलना नहीं कर सकता।

ज्ञानी लोग अभिमान नहीं करते। वे कभी यों नहीं कहते कि 'देखो, मेरी बात न मानी थी अतः अब उसका फल भोग रहे हो! अब मैं कुछ मदद न करूंगा।' ज्यादातर लोग किसी को उपालम्भ देने में ही अपना पाण्डित्य मानते हैं। उपालम्भो हि पाण्डित्यम्। मैंने ऐसा कहा था, वैसा कहा था, मेरा कहना न मानने से ऐसा हुआ आदि बातें समझदार लोग नहीं कहते। आज कल के बहुत से सुधारक कहे जाने वाले लोग भी ऐसे-ऐसे बुरे लफ्जों का प्रयोग करते हैं कि कुछ कहा नहीं जाता।

लड़के ने मुनीम को पहचान लिया। झट पैरों में पड़ गया और अपने किए का पछतावा करने लगा यदि आपको नौकरी से अलग न करता तो मेरी यह दुर्दशा न होती। मुनीम ने आश्वासन देते हुए कहा घबड़ाओ मत, मैं अब भी तुम्हारा सेवक हूं। यद्यपि तुम्हारे पिता के वक्त की सब दिखने वाली सम्पत्ति विनष्ट हो चुकी है तथापि मुझे कुछ गुप्त निधान का पता है। अब यदि मेरा कहना मानना मंजूर हो और बुरी सोहबत में न फंसो तो मैं भेद बताने के लिए तैयार हूं जिससे कि तुम पहले के समान धनवान् बन जाओ। लड़के ने सब बात स्वीकार कर ली। उसको स्नानादि करा कर अपने साथ भोजन करने के लिए बिठा लिया। उस मुनीम ने यह सोचकर कि यह भिखमंगा रह चुका है, अतः इसके साथ न बैठना चाहिए, घृणा नहीं की। उसने यह सोचा कि अज्ञानवश होकर इससे जो भूलें हुई हैं, वे अब यह छोड़ रहा है और भविष्य में सुधार करने का नियम लेंता है। अतः घृणा करना ठीक नहीं है किन्तु इसका सुधार करना चाहिए। घृणा करने की अपेक्षा यदि सुधार करने की बात अपना ली जाय तो मनुष्य जाति का उद्धार हो जाय।

लोग पुण्य और पाप का अर्थ करते हुए कहते हैं कि जो पुण्य लाया है वह पुण्य भोगता है और जो पाप लाया है वह पाप। लेकिन यदि सब लोग ऐसा कहने लग जाय तो क्या दशा हो? इसका ख्याल करिये। डॉक्टर बीमार से कह दे कि तू अपने पापों का फल भोग रहा है, मैं कुछ इलाज न करूंगा तो क्या आप यह बात पसन्द करेंगे? पापी को पाप का उदय हुआ है मगर आपको किस का उदय है?

दयाधर्म पावे तो कोई पुण्यवान पावे ज्यांरे दया की बात सुहावेजी
भारी करमा अनन्त संसारो, ज्यांरे दया दाय नहीं आवे जी।।

लोग यह मानते हैं कि जिसके पास गाड़ी, घोड़ी, लाड़ी तथा बाड़ी आदि साधन हों, जिसे अच्छा खाना, पीना, कपड़ा, गहना, मिलता हो, तथा जिसके यहां नौकर चाकर हों: वह पुण्यवान् है। इसके विपरीत जिसके पास खाना–पीना और कपड़े आदि न हों, वह पापी है। पापी और पुण्यवान् की ऐसी व्याख्या अज्ञानी लोग करते हैं। ज्ञानीजन ऐसी व्याख्या नहीं करते। वे किसी के पास कपड़े गहने आदि होने से उसे पुण्यवान् नहीं मानते और न इनका अभाव होने से किसी को पापी ही मानते हैं। ज्ञानी उसको पुण्यवान् मानते हैं जिसके हृदय में दया है और जिसमें दया नहीं है वह पापी है। आप लोग कहोगे कि यह नई व्याख्या आपने कैसी निकाली है? मैं कहता हूं कि

आप लोग भी पुण्यवान् और पापी की व्याख्या ऐसी ही मानते हैं, जैसी अभी मैं कर रहा हूं। बात समझ में आने की देरी है।

मान लो कि आपका एक लड़का है जो अकेला ही है यानी आपका इकलौता पुत्र है। वह सड़क पर खेल रहा था। एक सेठ उधर से मोटर में सवार होकर निकला। धनवानों में अक्सर दुर्व्यसनों का भी प्रचार होता है। जो जैसा होता है, उसके नौकर भी वैसे ही होते हैं। सेठ और ड्राइवर दोनों नशे में मस्त थे। ड्राइवर बेभान होकर मोटर फैंक रहा था। आपका लड़का मोटर की झपट में आ गया। उसे सख्त चोट आई। हल्ला हुआ और बहुत से लोग इकट्ठे हो गये। तब ड्राइवर और सेठ की आंख खुली। सेठ ने सोचा कि लड़का घायल हो चुका है अतः यदि मेरे सिर पर भार लूंगा तो सजा हुए बिना न रहेगी। सेठ कहने लगा कैसे कैसे नालायक लोग हैं जो अपने बच्चों को भी नहीं संभालते! सड़क पर आवारा छोड़ देते हैं! हमारे मोटर चलने के मार्ग में आड़े आ आते हैं। यह भी मालूम नहीं कि यह रास्ता हम लोगों की मोटर निकलने का है। यह लड़का किसका है? हम उस पर मुकद्दमा चलायेंगे। इस प्रकार वह चिल्लाया और जोर की आवाज से नौकर से कहा कि अमुक वकील के पास चलकर कहो कि मुकद्दमा चलाना है अतः कानून देखकर दफा निकाल ले। सेठ मोटर में बैठा हुआ चला गया। लड़का वहीं बेहोश अवस्था में पड़ा रहा। इकट्ठी भीड़ में एक गरीब आदमी भी था। वह बहुत गरीब था। वह तुरन्त उस बच्चे को उठाकर अस्पताल में ले गया और डॉक्टर से कहा कि न मालूम यह लड़का किसका है? इसे मोटर एक्सीडेन्ट से चोट आई है यह बड़ा दुःखी है। आप इस केस को जल्दी ही सुधारने की मेहरबानी करिये।

लड़के के घायल हो जाने की बात आपने भी सुनी। साथ में यह भी सुन लिया कि मोटर मालिक श्रीमान् अनेक उपाधि धारी मुकद्दमा चलाने की धमकी देकर भाग निकले और एक गरीब आदमी बच्चे को उठाकर अस्पताल ले गया है। आप अस्पताल पहुंचे। बच्चे कों यहां तो पहुंचाने वाले गरीब को भी देख लिया। आप जरा हृदय पर हाथ रख कर कहिये कि आप किसे पुण्यवान् और पापी समझते हैं? बेहोश नादान बच्चे को छोड़कर चले जाने वाले को या उसकी दया करके अस्पताल पहुंचाने वाले को पुण्यवान् कहेंगे? यद्यपि चालू व्याख्या के अनुसार वह बड़ा धनवान् और साधन सम्पन्न था और वह गरीब जो कि बच्चे को अस्पताल ले गया कतई गरीब और साधन हीन था, हमारा दिल यही कहता है कि वह धनवान् सेठ पापी था और गरीब आदमी पुण्यवान् था। आत्मा जिस बात की साक्षी दे, वह बात ठीक होती है।

सेठ और गरीब में क्या अंतर है? हार्दिक दया भाव का। एक अपने धन के मद में तडफते बच्चे को छोड़कर चला गया और दूसरा 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के अनुसार बच्चे की वेदना सहन न कर सका और सेवा करने लगा। एक में दया का अभाव था और दूसरे का हृदय दया से लबालब भरा था।

यदि वह सेठ धनवान् होते भी मोटर दुर्घटना के बाद तुरन्त नीचे उतर कर बच्चे को सम्हालता और अस्पताल पहुंचाता तथा अपनी भूल की माफी मांग लेता तो वह पुण्यवान् कहलाता। पुण्य और पाप की व्याख्या केवल बाह्य ऋद्धि के होने न होने पर निर्भर नहीं है किन्तु इसके साथ-साथ दया भाव अपेक्षित है।

सब कुछ कहने का मतलब यह है कि ऊपरी आडम्बर होने से किसी को पुण्यवान् नहीं माना जा सकता। यदि हृदय में दया हो और ऊपरी आडम्बर न हो, तो भी वह पुण्यवान् माना जायेगा और महापुरुष उसकी सराहना करेंगे।

वह मुनीम कह सकता था कि ए लड़के! तू अपने किए का फल भोग। तू अपने पापों का फल भोग रहा है, इसमें मैं क्यों दखल दूं? किन्तु बुद्धिमान् और ज्ञानी लोग ऐसी निर्दयता की बात नहीं कहते। वे सोचते हैं कि यदि किसी ने एक वक्त कहना न माना और कुमार्ग में लग गया तो भविष्य में उसका सुधार हो सकता है। कौन कह सकता है कि कब किसकी दशा सुधर सकती है और कब नहीं। हमारा कार्य तो सदा आशावाद पूर्ण प्रयत्न करने का है। किसी के पूर्व के पाप या अवगुणादि पर ध्यान न देकर वर्तमान में यदि वह सुधरना चाहता है तो सुधारने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

कोटि महा अघ पातक लागा, शरण गये प्रभु ताहु न त्यागा।

ज्ञानीजन शरण में आये हुए के पापों पर ख्याल नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि जब वह शरण में आ गया है तो पाप भावना को भी छोड़ चुका होगा। वे तो उसकी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करते हैं। ज्ञानीजन कीड़े मकोड़े आदि पर भी दया करते हैं, तब मनुष्य पर क्यों न करेंगे।

चातुर्मास की चौदस को दया के संबंध में मुझे व्याख्यान में कुछ कहना था किन्तु अन्य बातों में यह बात कहने से रह गई थी। संक्षेप में आज कहता हूं। आप लोग विचार करते होंगे कि हमने चौमासे की विनती की है इसलिए महाराज ने चातुर्मास किया है। किन्तु यदि चातुर्मास में एक स्थान पर ठहरने का हमारा नियम न होता तो क्या आपकी विनती होने पर भी हम यहां ठहर सकते थे? हमारा नियम है अतः ठहरे हैं। नहीं तो लाख विनती होने

पर भी नहीं रह सकते। चौमासे में वर्षा के कारण बहुत जीव उत्पन्न हो जाते हैं। उनकी रक्षा करने के लिए चार मास हम लोग एक स्थान पर ठहरते हैं। अब हमारा आपसे यह कहना है कि जिन जीवों की रक्षा करने के निमित्त हम यहां ठहरे हैं, उनकी आप भी दया करो। चौमासे में जीवोत्पत्ति बहुत हो जाती है अतः उनकी रक्षा सावधानी पूर्वक करिये, जिससे आपके स्वास्थ्य और धन दोनों की रक्षा हो सके।

एक आदमी सड़ा आटा, सड़ी दाल आदि चीजें खाता है, जिनमें कीड़े पक चुके हैं। दूसरा आदमी ऐसी चीजें नहीं खाता किन्तु साफ स्वच्छ जीव रहित वस्तुएं उपयोग में लेता है। इन दोनों में से आप किसको दयावान् कहोगे? एक आदमी घर की चक्की से पिसा हुआ आटा खाता है। और दूसरा आदमी मशीन की चक्की से पिसा हुआ आटा खाता है। दोनों में से आप किसको दयावान कहोगे? इन दोनों तरह के आटों में किसी प्रकार का अन्तर है या नहीं? थोड़ी देर के लिये यह मान लिया जाय कि आप अनाज देख कर साफ करके ले गए किन्तु आपका अनाज डालने से पूर्व जो अनाज पीसा जा रहा था। उसमें कीड़े थे तब आप कैसे बच सकते हैं? उस कीड़े वाले आटे का अंश आपके आटे में भी आएगा या नहीं? अवश्य आयेगा। कीड़ों के कलेवर से मिले हुए आटे का किंचित भाग आपके पेट में जरूर पहुंचेगा। मैंने उरण में सुना कि जिन टोकरों में मच्छी बेची गई, उन्हीं टोकरों में गेहूं भर कर चक्की पर पिसवाये गए। ऐसे आटे का अंश आपके शरीर में पहुंचेगा ही। दुःख इस बात का है कि आजकल घर पर पीसना कठिन हो रहा है। यह ख्याल किया जाता है कि हम तो बम्बई की सेठानियां है, हम चक्की से आटा कैसे पीसें? कल की चक्की में सीधा पीसा हुआ मंगवाये।

आटा दाल आदि प्रत्येक वस्तु के विषय में विवेक रखिये। यह मैं जरूर कहूंगा कि मेवाड़, मालवा और मारवाड़ की अपेक्षा यहां ज्यादा विवेक है। फिर भी विशेष सावधानी रखने की जरूरत है।

जो दया पात्र है, उसकी स्थिति सुधारने वाला पुण्यवान् है। दया पात्र को पापी कहकर दुत्कारने वाला स्वयं पापी है। वह पुण्यवान् नहीं हो सकता, चाहे उसके पास कितनी ही ऋद्धि क्यों न हो?

मुनीम ने उस लड़के को आश्वासन दे कर अपने यहां रखा और धीरे धीरे उसकी आदत सुधारी। बिका हुआ मकान वापिस खरीद लिया गया। उस घर में गुप्त रूप से रखे हुए रत्न निकाल कर उसे दे दिये गए। लड़के ने मुनीम से कहा कि ये रत्न आप ही के हैं, कारण मैं तो मकान बेच ही चुका था। मुनीम

ने कहा ऐसा नहीं हो सकता। जो वस्तु जिसकी हो, वह उसी की रहेगी। लड़के ने 'मुनीम के रत्न हैं' कह कर कितना विवेक दिखाया और अपनी कृतज्ञता प्रकट की। मुनीम ने अपने सेठ के पुत्र की स्थिति सुधार दी। वह पुण्यवान् था। अब यदि सेठ के लड़के से भीख मांगने के लिए कहा जाय तो क्या वह मांगेगा? कदापि नहीं।

यह दृष्टान्त है। सेठ, मुनीम और लड़के के समान ईश्वर, महात्मा और संसारी जीव हैं। बहुत से साधारण लोग कहते हैं कि हम साधुओं के यहां क्यों जायं और क्यों वहां मुख बांध कर बैठें। मैं पूछता हूं कि मुख बांधने में उनको लाज क्यों लगती है? वेश्या के यहां जाने में तथा अन्य बुरे काम करने में तो लाज नहीं लगती। केवल मुंह बांधने में ही लाज क्यों लगती है? कहते हैं– यह तो बूढ़ों का काम है इस प्रकार इस आत्मा रूप सेठ के लड़के ने विषय वासना और संसार के संग से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादि दुर्गणों से प्रेम कर रखा है। ऐसे समय में अन्तरात्मा को जानने वाले महात्मा का क्या कर्त्तव्य है? उनका कर्त्तव्य समझाने का है। वे बार–बार समझाते हैं लेकिन वह नहीं मानता। अंत में आत्मा की स्थिति उस लड़के के समान हो जाती है, जो भिखारी की तरह भीख मांगता है। फिर भी महात्मा लोग उससे द्वेष नहीं करते। वे यह नहीं सोचते कि इसने हमारी सिखामन का अथवा उपदेश का पालन नहीं किया है, अतः फल भोग रहा है। महात्मा उसे अपने पास बुलाते हैं किन्तु जैसे उस भिखारी को मुनीम के पास जाने में संकोच हुआ था, उसी प्रकार दुर्व्यसनों में फंसे हुए लोगों को साधु संतों के समीप जाने में संकोच होता है, लज्जा आती है। अपने व्यसनों के कारण लज्जित होकर वे दूर भागते हैं। किन्तु महात्मा लोग यह सोच कर कि यद्यपि इसकी आदत खराब हो गई है, फिर भी इसकी आत्मा हमारे समान ही है, अतः सुधार की गुंजाइश मानकर पास बुलाते हैं।

जो लोग यह कहते हैं कि हम साधुओं के पास क्यों जाएं, क्यों मुख बांध कर उनके पास बैठें? उनको भी साधु लोग यही उपदेश देते हैं कि भाई, सत्संग करो! महात्मा लोग उनके कथन से घबड़ाते नहीं है। वे यह सोच कर उन्हें माफ कर देते हैं कि अज्ञान के कारण ये लोग भूले हुए हैं। इनकी आत्मा हमारी आत्मा के समान है। अतः वे जीवात्मा की बातों पर ध्यान न देकर बार–बार सत्संग का उपदेश देते हैं।

स्त्रियां भी कहती हैं, जो बूढ़ी हैं, वे जाकर साधुओं के पास बैठें। हम से ऐसा न होगा, हम नौजवान हैं। उनको खाना पीना, मौजमजा करना अच्छा

लगता है। साधुओं के पास ऐश आराम का सामान नहीं है, अत
जाना अच्छा नहीं लगता। ज्ञानी कहते हैं, यह इनका दोष नहीं
की शक्ति को नहीं जानतीं, अतः पुद्गलानदी बनी हुई हैं।

कई लोगों आत्मा के अस्तित्व के विषय में भी संदेह कर
नहीं है, ऐसी दलीलें देते हैं। इसका कारण यही है कि वे महात्म
नहीं जाते हैं। यदि वे सत्पुरुषों के समागम में आने लगें तो उनक
मिट जाय।

मदिरा न पीना और मांस न खाना, यह जैनों का कुल
इस वंश परम्परागत रिवाज का पालन तभी हो सकता है तब तक
पास आते रहें। हमारे पास न आयें किन्तु आजकल के सुधरे हुए
वालों लोगों की सोहबत में रहें तो इस रिवाज का पालन नहीं ह
आधुनिक सुधरे कहे जाने वाले लोग तो कहते हैं कि जैन ध
मदिरा निषेध निष्कारण ही है। यदि भोजन हजम न होता है तो थ
पी ली जाय तथा शक्ति वृद्धि के लिए मांस भक्षण किया जाय तो
है? ऐसी शिक्षा पाने वाले लोग कब तक बचे रह सकते हैं? माता
कर्त्तव्य है कि वे इस बात का ध्यान रखें कि हमारा लड़का बुरी स
न पड़ जाय। अपने लड़कों को धार्मिक शिक्षा दिलाने का प्रयत्न कि
और इस बात का ख्याल रखें कि जैन कुल में जन्म लेकर कहीं बुर
में न पड़ जाय। प्रयत्न करने और सावधानी रखने पर भी यदि कोइ
न सुधरे तो लाचारी होगी। प्रयत्न करने के पश्चात् भी न सुधरने वाल
श्री कृष्ण भी न सुधार सके थे।

श्रीकृष्ण ने अपने परिवार के लोगों से कह दिया था कि त
यह मत ख्याल करना कि हम कृष्ण के कुल में जन्मे हैं, अतः बुरे व
तो कोई हर्ज नहीं है। यदि तुम बुरे काम करोगे तो उसके परिणा
तुम्हारा बचाव नहीं कर सकूंगा। तुम्हारी रक्षा और तुम्हारा उद्धार स्व
कर सकते हो। दूसरा कोई नहीं कर सकता।

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

अर्थ– आत्मा से आत्मा का उद्धार स्वयं करो। आत्मा को अव
मत करो। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का श

यादव लोग नष्ट हो गये, यह सर्वविदित है। दुर्व्यसन सेवन करने से कोई सुखी नहीं हुआ है। बड़े बड़े बिगड़ चुके हैं। किसी को दो दिन चाहे सुखी समझ लो किन्तु वह सुख नहीं है। कहा है–

चढ़ ऊपर वां से गिरे, शिखर नहीं वह कूप।
जिस सुख अन्दर दुःख बसे, वह सुख है दुःखरूप।।

जो ऊपर चढ़ कर वापिस गिर जाता है, वह चढ़ा हुआ नहीं गिना जायेगा किन्तु गिरा हुआ ही गिना जायेगा। इसी प्रकार जिस सुख के पीछे दुःख लगा हुआ है, वह सुख नहीं है किन्तु दुःख ही है।

चाहे कोई कैसे ही दुर्व्यसनों में फंसा हो किन्तु अन्तरात्मा को जानने वाले महात्मा लोग किसी से द्वेष नहीं करते। श्रीकृष्ण के समान उससे यही कहते हैं कि दुर्व्यसन त्यागोगे तो दुःख कभी न होगा। ज्ञानी लोग किसी से घृणा नहीं करते। घोर से घोर पापी को भी अपना लेते हैं। वे उसके आत्मा की शक्ति को जानते हैं और समझाते हैं कि–

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मां अनन्यमाक्।

कैसा भी दुराचारी व्यक्ति हो वह अनन्य भाव से परमात्मा की सेवा करे तो उसका कल्याण निश्चित है। अन्तरात्मा की शक्ति को जानने वाले वहिरात्मा पर क्रोध या द्वेष नहीं करते। वे तो सदा यही कहेंगे कि आत्मस्वरूप को जान कर परमात्मा का भजन करो तो भलाई है।

सारांश यह है कि 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' परमात्मा वन कर परमात्मा का भजन करो। यह समझो कि मेरा और परमात्मा का आत्मा समान है। परमात्मा निर्मल है मैं अभी मलिन हूं। इस मलिनता को मिटाने के लिए ही परमात्मा का भजन करता हूं। महात्माओं की शरण पकड़ कर भजन करने से किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी।

चरित्र चित्रण–

अब मैं इस प्रकार का भजन करने वाले की वात कहता हूं।

तिनपुर सेठ श्रावक दृढ़ धर्मी, यथा नाम जिनदास।
अर्हद्दासी नारी खासी, रूप शील गुणवान रे।।धन।।

चम्पानगरी का वर्णन किया गया है। नगरी की रमणीयता, उसकी आवश्यकताएं, राजा रानी और प्रजा आदि के कर्त्तव्य की चर्चा वहुत की जा सकती है किन्तु अभी इतना ही कहता हूं कि चम्पा में वाह्य सुधार ही न थे किन्तु अन्तरंग सुधार भी थे।

आज बाह्य सुधार तो है लेकिन भीतर बहुत बिगाड़ है। उस जमाने में मोटर, बिजली, ट्राम आदि न थे फिर भी उस समय की स्थिति बहुत सुधरी हुई थी। आप कहेंगे रेल तार बिजली आदि के बिना कैसे सुधार और कैसा सुख? परन्तु इनके कारण आज जो स्थिति हो रही है उस पर दृष्टिपात किया जाय तो मालूम होगा कि पहिले की अपेक्षा अभी भयंकर दुःख है। ये बाहर के भपके मूल को खराब कर रहे हैं। एक जहाज में बाग, बगीचे, नाचरंग, खेलकूद, आदि के सब साधन हैं किन्तु समुद्र के ऐन बीच में उसके छेद हो गया अथवा एंजिन खराब हो गया, उस समय उस जहाज में बैठने वालों की क्या हालत होगी? नाचरंग आदि उन्हें कैसे लगेंगे? मौज मजा भूल कर वे लोग हाय तोबा करने लगेंगे। दूसरा जहाज ऐसा है जिसमें ऐश अशरत का साजो सामान तो नहीं है मगर न उसमें छेद ही हुआ है और न उसका एंजिन ही बिगड़ा है। दोनों जहाजों में से आप किसे पसन्द करेंगे? दूसरे को पसन्द करेंगे।

आज के सुधारों के विषय में भी यह बात है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता को लोग आनन्द का कारण मानते हैं। किन्तु इसका एंजिन कितना बिगड़ा हुआ है यह नहीं देखते। हमारे देश के लोगों का दिमाग वहां की सभ्यता के कारण बिगड़ रहा है। वे उस सभ्यता को आनन्ददायिनी मानते हैं। किन्तु मानव जीवन को इस सभ्यता ने कितना खोखला कर दिया है, इस बात को नहीं देखते। जिस देश की सभ्यता को आदर्श मान कर पसन्द किया जाता है वहां व्यभिचार को पाप नहीं माना जाता। पेरिस बड़ा सुन्दर शहर है। सुना है, वहां किसी स्त्री के पास कोई पर पुरुष आ जाय तो उसके पति को बाहर चला जाना पड़ता है। यहा वहां का रिवाज है, सभ्यता है। अमेरिका देश, जो सबसे समृद्ध और सुधरा हुआ गिना जाता है वहां के लिए भी सुनने में आया है कि सौ में से पिच्यानवे लग्न संबंध वापस टूट जाते हैं। यह है वहां की सभ्यता। मैं यह नहीं कहता हूं कि बाह्य ठाठ–बाट न हो किन्तु आंतरिक सुधार होना आवश्यक है।

चम्पा जैसी बाहर से सुन्दर थी, वैसी ही भीतर से सुसंस्कृत थी। जिस प्रकार खान में से एक हीरा निकलने पर भी वह हीरे की खान कही जाती है जब कि मिट्टी पत्थर उसमें बहुत होते हैं इसी प्रकार किसी नगर में एक भी महापुरुष हो तो वह उस सारे नगर को प्रसिद्ध कर देता है। अवतार ज्यादा नहीं होते। मगर एक अवतारी ही सारे संसारी को प्रकाशित कर देता है।

चम्पा आर्य क्षेत्र में गिनी गई है। वहां जिनदास नामक सेठ रहता था। चम्पा में भगवान् महावीर कई बार पधारे थे। कौणिक भी चम्पा में ही हुआ है। यह नहीं कहा जा सकता कि चम्पा एक थी या दो। हम इतिहास नहीं सुना रहे हैं किन्तु धर्मकथा सुना रहे हैं। धर्म से अनेक इतिहास निकलते हैं। अतः धर्मकथा से इतिहास को मत तोलो। यह धर्मकथा है। इसमें बताये हुए तत्व की तरफ ख्याल करो। भगवान् महावीर के समय में ही चम्पा के कोणिक और दधिवाहन दो राजा शास्त्रों में वर्णित हैं। अतः कोणिक और दधिवाहन दोनों की चम्पा एक ही थी अथवा अलग अलग, यह कहा नहीं जा सकता।

जिनदास चम्पा नगर में रहता था। वह आनन्द थावक के समान श्रावक था। उसकी स्त्री का नाम अर्हदा दासी था, जो श्राविका थी। ये दोनों नाम वास्तविक हैं या काल्पनिक सो नहीं कहा जा सकता। लेकिन दोनों ही नाम सार्थक और आनन्ददायक हैं। पहले के लोग 'यथा नाम तथा गुण' होते थे। यही कारण है कि उनके यहां सुदर्शन जैसा लड़का उत्पन्न हुआ था। जैसों का फल तैसा होता है, यह प्रसिद्ध बात है। आप भी यदि सुदर्शन जैसा पुत्र चाहते हो तो जिनदास और अर्हद्दासी जैसी बनो। ऐसा करोगे तो कल्याण है।

राजकोट, 8–7–36 का व्याख्यान

7: अरिष्टनेमि की दया

"श्री जिन मोहनगारो छे, जीवन, प्राण हमारो छे।"

यह बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि की प्रार्थना है। परमात्मा की प्रार्थना एक प्रकार से परमात्मा की भक्ति है। ज्ञानियों ने अनेक अंग बताये है। उनमें प्रार्थना भी भक्ति का एक मुख्य अंग है। दार्शनिकों ने अपने तत्त्व का पोषण करने के लिए अनेक रीति से प्रार्थना की है। जैन एकांतवादी नहीं है। जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु का अनेक दृष्टियों से विचार करता है। वह वस्तु को एक दृष्टि से देखता है और अनेक दृष्टियों से भी। अतः जैन की प्रार्थना कुछ और ही है।

भक्ति के साकार और निराकार के भेद से दो भेद हैं। प्रार्थना को साकार भेद से देखना या निराकार भेद से, एक प्रश्न है। ज्ञानी कहते हैं, दोनों का समन्वय किया जाय, दोनों भेदों को मिलाकर प्रार्थना की जाय। प्रार्थना पर अनेक बार बोल चुका हूं, आज भी कुछ कहूंगा।

ज्ञानीजन कहते हैं कि साकार प्रार्थना के लिए तीर्थंकर और निराकार प्रार्थना के लिए सिद्ध आदर्श रूप हैं। इन दोनों को मिला कर प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना करते समय यह भावना रखनी चाहिए कि मैं सब प्रकार से परमात्मा की शरण में जाता हूं। यदि यह भावना न रखी गई, परमात्मा को सर्वस्व समर्पित न किया गया, अपने बल और बुद्धि को अपने में ही रख कर प्रार्थना की गई, उसकी शरण में पूरी तौर से न गये, तो वह प्रार्थना न होगी, प्रार्थना का ढोंग होगा। सच्ची प्रार्थना तब है जब परमात्मा को सर्वस्व अर्पण कर दिया जावे। परमात्मा को अपना सर्वस्व कैसे समर्पित करना चाहिये तथा किस प्रकार सच्ची भक्ति करनी चाहिए, यह समझने के लिए हमारे सामने भगवान् नेमिनाथ और राजमति का चरित्र मौजूद है। साकार निराकार प्रार्थना स्वरूप भी इस चरित्र से ध्यान में आ जायेगा।

राजमति ने भगवान् नेमिनाथ को सिर्फ दृष्टि से देखा ही था और वह भी उनको पति रूप से स्वीकार करने के लिए। उस समय भगवान् दूल्हा बने हुए हाथी पर विराजमान थे। भगवान् राजकुमार थे। उनके साथ श्रीकृष्ण, दश दशार्ह और सारी बारात थी। उन पर चंवर छत्र हो रहे थे। राजेमति के समान अभिलाषा वाली स्त्री को अपने पति को ऐसे लिबास में देखकर कैसे–कैसे विचार हो सकते हैं, वैसे ही विचार राजेमति के भी हुए थे। वह यह समझ रही थी कि भगवान् मेरे साथ शादी करने के लिए आ रहे हैं। लोग भी ऐसा ही समझते थे कि भगवान् विवाह करने के लिए जा रहे हैं। व्यवहार में सब कोई यह ख्याल कर रहे थे किन्तु निश्चय में भगवान् कुछ अन्य ही विवाह करने जा रहे थे। उन्हें जीवों की रक्षा करने तथा यादवों में करुणा बुद्धि उत्पन्न करनी थी। वे केवल मुख से कहने वाले ही न थे किन्तु करके दिखाने वाले थे। उनके सब काम किसी तत्वपूर्ण मुद्दे को लिए हुए थे। जीव रक्षा के कार्य को सिद्ध करने के लिए ही वे बारात सजा कर विवाह करने के बहाने से आये थे।

सुनि पुकार पशु की करुणा करि जानि जगत सुख फीको।
नव भव नेह तज्यो जीवन में उग्रसेन नृप धी को।।

जब भगवान् तोरणद्वार पर आ रहे थे तब उन्हें उस समय भारतवर्ष में फैली हुई महान् हिंसा के दर्शन हो रहे थे। उस समय यादवी हिंसा और यादवी अत्याचार बहुत बढ़ गये थे, अपनी सीमा लांघ चुके थे। यादवों का अन्याय और अत्याचार सारे संसार में फैल रहा था। उनके द्वारा हिंसा के घोर कांड हुआ करते थे। न केवल विवाहादि प्रसंगों पर किन्तु हर प्रसंग पर पशुओं की घोर हिंसा की जाती थी। उस समय मांस मदिरा और विषय सेवन साधारण बात हो गई थी। इस पाप को रोकने के लिए ही भगवान् नेमिनाथ ने विवाह का स्वांग रचा था और बारात सजाई थी।

प्रत्येक बात पर एकांत दृष्टि से विचार नहीं करना चाहिए किन्तु अनेकांत दृष्टि से सोचना चाहिए। भगवान् तीन ज्ञानी के धारी थे। वे जानते थे कि मेरे पूर्वज इक्कीस तीर्थंकर यह फरमा गये हैं कि नेमजी ब्रह्मचारी रहेंगे। यह जानते हुए भी भगवान नेमिनाथ विवाह करने के लिए क्यों चले थे? इस विषय पर यदि बारीकी से विचार करोगे तो मालूम होगा कि भगवान् ने साकार भगवान् का कैसा रूप रचा था। नेमिनाथ ने साकार भगवान् का जैसा चरित्र रचा था, वैसा चरित्र मेरी समझ से दूसरे किसी से नहीं रचा है। इनकी बराबरी का उदाहरण मुझे नहीं दिखाई देता है। यदि कोई ऐसा

उदाहरण बताये तो मैं मानने के लिए तैयार हूं किन्तु ऐसा उदाहरण मिलना बहुत ही कठिन है। जैसा रचनात्मक काम भगवान् अरिष्टनेमि ने करके दिखाया, वैसा किसी ने नहीं किया।

यादव कुल में जैसी हिंसा और पाप फैले हुए थे, उनके विषय में भगवान् यह सोचा करते थे कि मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ हूं, उस कुल के युवक इस प्रकार के घोर कार्य करें, यह मैं कैसे सहन कर सकता हूं? भगवान् चुपचाप सारी परिस्थिति देख रहे थे और किसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। तीन सौ वर्ष तक वे अवसर की प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में यह निश्चय किया कि इस पाप के लिए दूसरों को दोषी बताने की अपेक्षा इसे मिटाने का स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिए।

आजकल के लोग दूसरों को दोष देना जानते हैं मगर खुद का कर्त्तव्य नहीं समझते। यदि लोग अपना कर्त्तव्य देखने लगें और दूसरों पर दोषारोपण करना छोड़ दें तो संसार को सुधरने में क्या देर लगे? जब मैं जंगल गया था तब रास्ते में एक दीवार पर यह लिखा हुआ देखा कि 'आलस्य मनुष्य के लिए जीवित कब्र है।' यदि विचार किया जाय तो यह वाक्य कितना अच्छा और ठीक है। आलस्य ही मनुष्य को जीवित कब्र में डालता है। आलस्य के कारण ही मनुष्य अपने कर्त्तव्य की निगाह नहीं करता और दूसरों पर दोष थोपता है।

भगवान् अरिष्टनेमि अपना कर्त्तव्य देखते थे, अतः आलस्य त्याग कर रचनात्मक काम किया। यदि वे शक्ति से काम लेना चाहते तो भी ले सकते थे। क्योंकि उन में श्रीकृष्ण को पराजित करने जितनी शक्ति थी। हाथ में चक्र लेकर उसका डर दिखा कर भी लोगों से कह सकते थे कि हिंसा बंद करते हो कि नहीं? और लोग भी उनके डर के मारे हिंसा बंद कर सकते थे। किन्तु भगवान् जोर जुल्म पूर्वक धर्म--प्रचार करने के विरोधी थे। वे जानते थे कि शक्ति के द्वारा यद्यपि लोग ऊपरी हिंसा करना छोड़ देंगे किन्तु उनकी भावना मे जो हिंसा होगी, वह ज्यों की त्यों कायम रहेगी बल्कि जोर जुल्म का शिकार बना हुआ व्यक्ति भाव हिंसा अधिक ही करता है। भगवान् ने शक्ति का प्रयोग नहीं किया। हिंसा बन्द कराने का काम बड़ा गंभीर है, हिंसा को बंद कराने के लिए हिंसा की सहायता लेना ठीक नहीं है। इस प्रकार हिंसा बंद भी नहीं हो सकती। खून का भरा कपड़ा खून में धोने से कैसे साफ हो सकता है? अहिंसा के गंभीर तत्व की रक्षा करने के लिए भगवान् अवसर की प्रतीक्षा करते रहे। जब उन्होंने उपयुक्त अवसर जान लिया तब भी लोगों से

राजमति ने भगवान् नेमिनाथ को सिर्फ दृष्टि से देखा ही था और वह भी उनको पति रूप से स्वीकार करने के लिए। उस समय भगवान् दूल्हा बने हुए हाथी पर विराजमान थे। भगवान् राजकुमार थे। उनके साथ श्रीकृष्ण, दश दशार्ह और सारी बारात थी। उन पर चंवर छत्र हो रहे थे। राजेमति के समान अभिलाषा वाली स्त्री को अपने पति को ऐसे लिबास में देखकर कैसे-कैसे विचार हो सकते हैं, वैसे ही विचार राजेमति के भी हुए थे। वह यह समझ रही थी कि भगवान् मेरे साथ शादी करने के लिए आ रहे हैं। लोग भी ऐसा ही समझते थे कि भगवान् विवाह करने के लिए जा रहे हैं। व्यवहार में सब कोई यह ख्याल कर रहे थे किन्तु निश्चय में भगवान् कुछ अन्य ही विवाह करने जा रहे थे। उन्हें जीवों की रक्षा करने तथा यादवों में करुणा बुद्धि उत्पन्न करनी थी। वे केवल मुख से कहने वाले ही न थे किन्तु करके दिखाने वाले थे। उनके सब काम किसी तत्त्वपूर्ण मुद्दे को लिए हुए थे। जीव रक्षा के कार्य को सिद्ध करने के लिए ही वे बारात सजा कर विवाह करने के बहाने से आये थे।

सुनि पुकार पशु की करुणा करि जानि जगत सुख फीको।
नव भव नेह तज्यो जीवन में उग्रसेन नृप धी को।।

जब भगवान् तोरणद्वार पर आ रहे थे तब उन्हें उस समय भारतवर्ष में फैली हुई महान् हिंसा के दर्शन हो रहे थे। उस समय यादवी हिंसा और यादवी अत्याचार बहुत बढ़ गये थे, अपनी सीमा लांघ चुके थे। यादवों का अन्याय और अत्याचार सारे संसार में फैल रहा था। उनके द्वारा हिंसा के घोर कांड हुआ करते थे। न केवल विवाहादि प्रसंगों पर किन्तु हर प्रसंग पर पशुओं की घोर हिंसा की जाती थी। उस समय मांस मदिरा और विषय सेवन साधारण बात हो गई थी। इस पाप को रोकने के लिए ही भगवान् नेमिनाथ ने विवाह का स्वांग रचा था और बारात सजाई थी।

प्रत्येक बात पर एकांत दृष्टि से विचार नहीं करना चाहिए किन्तु अनेकांत दृष्टि से सोचना चाहिए। भगवान् तीन ज्ञानी के धारी थे। वे जानते थे कि मेरे पूर्वज इक्कीस तीर्थंकर यह फरमा गये हैं कि नेमजी ब्रह्मचारी रहेंगे। यह जानते हुए भी भगवान नेमिनाथ विवाह करने के लिए क्यों चले थे? इस विषय पर यदि बारीकी से विचार करोगे तो मालूम होगा कि भगवान् ने साकार भगवान् का कैसा रूप रचा था। नेमिनाथ ने साकार भगवान् का जैसा चरित्र रचा था, वैसा चरित्र मेरी समझ से दूसरे किसी से नहीं रचा है। इनकी बराबरी का उदाहरण मुझे नहीं दिखाई देता है। यदि कोई ऐसा

उदाहरण बताये तो मैं मानने के लिए तैयार हूं किन्तु ऐसा उदाहरण मिलना बहुत ही कठिन है। जैसा रचनात्मक काम भगवान् अरिष्टनेमि ने करके दिखाया, वैसा किसी ने नहीं किया।

यादव कुल में जैसी हिंसा और पाप फैले हुए थे, उनके विषय में भगवान् यह सोचा करते थे कि मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ हूं, उस कुल के युवक इस प्रकार के घोर कार्य करें, यह मैं कैसे सहन कर सकता हूं? भगवान् चुपचाप सारी परिस्थिति देख रहे थे और किसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। तीन सौ वर्ष तक वे अवसर की प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में यह निश्चय किया कि इस पाप के लिए दूसरों को दोषी बताने की अपेक्षा इसे मिटाने का स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिए।

आजकल के लोग दूसरों को दोष देना जानते हैं मगर खुद का कर्त्तव्य नही समझते। यदि लोग अपना कर्त्तव्य देखने लगें और दूसरों पर दोषारोपण करना छोड़ दें तो संसार को सुधरने में क्या देर लगे? जब मैं जंगल गया था तब रास्ते में एक दीवार पर यह लिखा हुआ देखा कि 'आलस्य मनुष्य के लिए जीवित कब्र है।' यदि विचार किया जाय तो यह वाक्य कितना अच्छा और ठीक है। आलस्य ही मनुष्य को जीवित कब्र में डालता है। आलस्य के कारण ही मनुष्य अपने कर्त्तव्य की निगाह नहीं करता और दूसरों पर दोष थोपता है।

यह नहीं कहा कि मैं अमुक प्रयोजन से बारात सजा रहा हूं। अतः लोगों को सच्ची हकीकत मालूम न थी। भगवान् नेमिनाथ को बारात सजा कर विवाह करने के लिए जाते देख कर इन्द्र भी आश्चर्य में पड़ गये और विचार करने लगे कि इक्कीस तीर्थंकरों से हमने ऐसा सुना है कि बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ बाल ब्रह्मचारी रहेंगे। फिर भगवान् ऐसा क्यों कर रहे हैं? महापुरुषों के कामों में दखल करना ठीक नहीं है। ऐसा सोच कर इन्द्र ने यह नाटक देखने का निश्चय किया।

फलानुमेया खलु प्रारंभाः।

महापुरुषों ने किस मतलब से कौनसा काम आरम्भ किया है, यह साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकते। उस काम के परिणाम से ही जान सकते हैं कि फलां मतलब से वह काम किया गया था।

ईशानेन्द्र और शक्रेन्द्र भी बारात में शामिल हो गये। श्रीकृष्ण को मन में फिक्र हो गई कि कहीं ये इन्द्र लोग विवाह में विघ्न न कर दें। बड़ी मुश्किल से बारात सजाई है और नेमजी को तैयार किया है। श्रीकृष्ण ने शक्रेन्द्र से कहा कि आप बारात में पधारे हैं सो तो अच्छी बात है मगर महापुरुषों का यह नियम होता है कि वे बिना आमंत्रण के किसी जल्से में शरीक नहीं होते। आप बिना आमंत्रण के यहां कैसे पधारे हैं? कृष्ण के उद्देश्य को इन्द्र समझ गये। इन्द्र ने कहा, हम किसी विशेष प्रयोजन से नहीं आये हैं। हमें यह विवाह कौतुक मालूम पड़ा है, अतः देखने आये हैं। देखने के लिए आमंत्रण की जरूरत नहीं होती। देखने का सब किसी को अधिकार है।

हेमचन्द भाई और मनसुख भाई दोनों यहां बिना आमंत्रण के आये हैं। ये क्यों आये हैं और किसके मेहमान हैं? ये किसी के मेहमान नहीं है। ये हमारे मेहमान हैं। लेकिन हमारे पास खान पान और पान सुपारी नहीं है जिनसे इनकी मेहमानदारी करें। खान पान और पानसुपारी इनके पास बहुत हैं। इसके लिए ये बिना आमंत्रण नहीं आ सकते। ये जैसी मेहमानी लेने आये हैं, मैं यथाशक्ति देने का प्रयत्न करूंगा। मेरे ख्याल से ये सदुपदेश सुनने आये हैं।

इन्द्र सोच रहे हैं कि इक्कीस तीर्थंकरों की कही हुई बात ये कैसे लोप रहे हैं? देखें, क्या होता है? श्रीकृष्ण से यह कह दिया, आप चिन्ता न करें। हम किसी प्रकार का विघ्न न करेंगे। हम तो चुपचाप कौतुक मात्र देखेंगे। आप भी भगवान् के साकार चरित्र को देखिये।

बारात के साथ भगवान् तोरणद्वार पर आ रहे हैं। तोरणद्वार के मार्ग में बाड़ों और पिंजरों में बंद किये हुए अनेक पशु पक्षी रोके हुए थे। कुछ पशु पक्षी मनुष्यों के सहवास में रहने वाले थे और कुछ जंगल के निर्दोष प्राणी थे। उन पशुओं के मन में बहुत खलबली मची हुई थी।

लोग सोचते होंगे कि घबड़ाने या न घबड़ाने में पशु पक्षी क्या समझते होंगे। किन्तु मौत से सब जीव डरते हैं और उससे बचना चाहते हैं। कोठारी बलवन्तसिंह जी ने उदयपुर की एक घटना मुझे सुनाई थी। उन्होंने कहा– उदयपुर के कसाइयों के यहां से एक भेड़ भाग निकला। कसाई लोग उसे कतल करने ले जा रहे थे। वह किसी तरह अपनी जान बचा कर भाग गया और पिछौला नामक तालाब में कूद गया। तैरता तैरता वह उस पार पहुंच गया तथा पहाड़ों में भाग गया। वह तीन दिन तक पहाड़ों में रहा लेकिन किसी भी हिंसक पशु ने उसे हाथ न लगाया। तीन दिन बाद वह भेड़ दरबार को शिकार करते वक्त मिला। दरबार ने पकड़ कर मेरे यहां पहुंचा दिया। प्रत्येक जीव अपनी रक्षा करने का प्रयास करता है। कत्लखाने जाने का दृश्य सब जानते ही है।

भगवान् अवधिज्ञानी थे। अतः यह जानते थे कि ये पशु पक्षी क्यों बांध कर रखे हुए है। फिर भी पशुओं की पुकार सुन कर सब लोग इस बात को सुन सके, इस आशय से सारथी से पूछते हैं–

कस्साट्ठाए इमे पाणा एए सव्व सुहेसिणो।
वाडेहिं पिंजरेहिं च सन्निरुद्धाए अत्थइ।

नहीं हो सकते। अमृत के वृक्ष में अमृतमय ही फल लगता है। वह जहरीला फल नहीं दे सकता। क्षीर सागर के पानी से किसी को विष नहीं चढ़ सकता। जो दवा लाभ दायक है वह किसी को मार नहीं सकती। अर्थात् जो जैसा होता है, उसका फल भी वैसा ही शुभ या अशुभ होता है। यदि तुम खुद दुःखी हो तो तुम से दूसरा कोई सुखी नहीं हो सकता। और यदि तुम सुखी हो तो दूसरा तुम से दुखी नहीं हो सकता। जो सुखी है, उसमें से सब के लिए सदा सुख ही निकलेगा, दुःख कदापि नहीं निकलता। तुम्हारे आश्रित प्राणी दुःखी हैं और सुख के अभिलाषी हैं। उनके दुःख दूर कीजिये। आज आप लोगों में दुःख है इसी कारण अन्य लोग भी दुःखी हैं। आप लोग अपने दुःख को दूर करने के लिये भगवान् से प्रार्थना करिये।

भगवान् का प्रश्न सुन कर सारथी कहने लगा कि आप यह क्या पूछ रहे हैं? क्या आपको यह मालूम नहीं है कि ये पशु यहां क्यों लाये गये हैं?

तुंझ विवाह कज्जंमि भोयाबेऊं बहुं जणं।
सोऊण तस्य वयणं बहुपाणि विरासण।।

हे भगवान्! आपके विवाह में बहुत लोगों को खिलाने के लिए ये प्राणी बन्द करके रखे गये हैं। इन प्राणियों को मार कर इनके मांस से बहुत लोगों को भोजन दिया जायेगा।

यह उत्तर सुनकर भगवान् विचार सागर में डूब गये कि अहो! मेरे विवाह के निमित्त ये बेचारे मूक प्राणी इकट्ठे किए हैं। ये कुछ देर वाद मार डाले जायेंगे। जब इन्हें मारा जायेगा, तब इनका शब्द कैसा करुण होगा? ये कैसे दुःखी होंगे? भगवान् ने बहुत प्राणियों के विनाश वाला उसका वचन सुनकर सारथी से कहा—

जइ मज्झ कारणं एए हम्मन्ति सुबहू जीवा।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोए भविस्सइ।।

दूसरों को उपदेश देने की क्या पद्धति है, यह भगवान् नेमिनाथ के चरित्रे से समझिये। भगवान् तीन ज्ञान के स्वामी थे, फिर भी संसार के लोगों को उपदेश देने के लिए उन जीवों की हिंसा का कारण अपने आपको माना है। भगवान् यह कह सकते थे कि मैं मांस नहीं खाता हूं, अतः इन जीवों की हिंसा का दोष मुझ पर नहीं लग सकता है। ऐसा न कहकर सारथी के कहने पर उन जीवों की हिंसा का कारण अपने आपको स्वीकार कर लिया। आज

हर बात में बनियापन दिखाया जाता है। अपने आपको निर्दोष साबित करने के लिए दूसरों पर दोषारोपण कर दिया जाता है। यह बड़ी भारी कमजोरी है।

क्या भगवान् अरिष्टनेमि के भक्तों का यह लक्षण हो सकता है कि वे अपना दोष दूसरों पर डाल दें। जिनकी हम मोहनगारो कह कर स्तुति कर रहे है कि यह हिंसा परलोक में निःश्रेयस साधक नहीं हो सकती। अफसोस है कि आज के बहुत से लोगों को तो पाप क्या है, इसका भी पता नहीं है। जो पाप ही को नहीं जानता, उसे पाप का भय कब हो सकता है? लोकलाज के भय से पाप न करना और दया धर्म से प्रेरित पाप न करने में बड़ा अन्तर है। यदि धर्मबुद्धि से अनुप्राणित होकर पाप न किया जाय तो संसार सुखी हो जाय।

पाप का स्वरूप समझने की आपकी उत्सुकता बढ़ रही होगी। मान लीजिये, आप किसी बैल गाड़ी में बैठे हैं। चलते चलते गाड़ी रुक जाय तो आप ख्याल करेंगे कि गाड़ी में कुछ वस्तु अटक गई है जिससे गाड़ी रुकी है। इसी प्रकार हमारी व दूसरे की जीवन नौका चलते चलते जहां रुक जाय, वहां समझ लेना चाहिए कि पाप है। आत्मोन्नति की गाड़ी जब भी रुक जाय तब समझ जाना चाहिए कि यह पाप है।

क्या वे पशु पक्षी भगवान् का विवाह रोक रहे थे, जिससे कि भगवान् को इतना गहरा विचार करना पड़ा? नहीं। वे जीव विवाह में बाधक न थे किन्तु भगवान् नेमिनाथ के हृदय में भगवती दया माता निवास कर रही थी,

में बन्द किये हुए उन मूक प्राणियों से पूछिये। यदि पशु पक्षियों के हमारे समान जबान होती और हमारी भाषा में बोल सकते होते तो क्या जवाब देते? इस बात का ख्याल करिये। हम अपने ऊपर से विचार कर सकते हैं कि आप हम ऐसी स्थिति में पहुंच जाएं तो हम क्या करेंगे? कोई जीव दुःख नहीं पसन्द करता। सब सुख चाहते हैं। आप लोगों का रहन सहन पहले की अपेक्षा बदल कर हिंसापूर्ण होता जा रहा है। मैं नहीं कहता कि आप लोग सब कुछ छोड़कर साधु बन जाएं। और बन जाएं तो मुझे खुशी ही होगी। मैं साधु बनने के लिए जोर नहीं दे रहा हूं। मेरा तो यह कहना है कि आज आप जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उससे बेहतर जीवन व्यतीत कर सकते हैं। आप इस प्रकार जीवन निर्वाह करने का प्रयत्न कीजिए कि जिसमें दूसरों को तकलीफ न पहुंचे या कम से कम पहुंचे।

आज लोग तपस्या करते हैं। खासकर स्त्रियां बहुत तपस्या करती हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि आप पारणा किस दूध से करते हैं? मोल लिए हुए दूध से अथवा घर पर रखी गाय भैंस के दूध से? यदि भगवान् आकर आप से जवाब तलब करें तो आप क्या उत्तर दे सकते हैं? आप कहेंगे कि यदि हम दूध का उपयोग करने में लम्बा विचार करने लगें तो जीवन निर्वाह कठिन हो जाता है। तो क्या आपके पूर्वज इस बात को नहीं समझते थे? पहले के लोग जिसका घी दूध खाते थे उसकी रक्षा करते थे। किन्तु आज के लोग खाना तो जानते हैं मगर रक्षा करना नहीं जानते। जैसे आज यह कह दिया जाता है कि हम क्या करें, हम तो पैसे देकर दूध मोल लाते हैं। गायें वाले गायों की क्या हालत करते हैं, इससे हमें क्या मतलब? उसी प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि भी कह सकते थे कि बाड़े में बंधे हुए पशुओं से क्या मतलब? मैंने कहां पशुओं को बंधवाया है? मेरी भावना भी बंधवाने की न थी। किन्तु भगवान् ने ऐसा नहीं कहा। उस विवाह यज्ञ के पाप के बोझ को भगवान् ने अपने सिर पर स्वीकार किया। उनके निमित्त से होने वाली हिंसा को उन्होंने अपना पाप माना और उसमें अपना श्रेय नहीं देखा। आप लोग जो मोल का दूध पीते हो उसमें होने वाली हिंसा को आप अपनी हिंसा मानते हो या नहीं? यह हिंसा किसके निमित्त से हुई है, जरा विचार कीजिये।

सुना है कि मेहसाणा और हरियाणा की बड़ी बड़ी भैंसें बम्बई में दूध के लिए लाई गई हैं। घोसी लोग एक भैंस दो दो से तीन तीन सौ रुपये देकर खरीदते हैं। जब तक वह भैंस दूध देती है और दूध से खर्च आदि की पड़त ठीक बैठती है, तब तक रखी जाती है, बाद में कसाई के हाथ बेच दी जाती

है। कसाईखानों में भैंसें किस बुरी तरह कत्ल कर दी जाती हैं, इसका विचार करें तब पता लगे कि मोल का दूध खाना कितना हराम है! जब भैंसें दूध देती हैं तब घोसी लोग उन्हें तबेले में बांध रखते हैं। बड़ी तंग जगह में बंद हवा में वे बंधी रहती हैं। कसाई के यहां जाते वक्त खुली हवा का अनुभव करके भैंसें बड़ी प्रसन्न होती हैं। उन्हें क्या पता कि उनकी यह प्रसन्नता कितनी देर तक टिकेगी? जब भैंसें कसाईखाने में पहुंच जाती हैं, तब उन्हें जमीन पर पटक कर यंत्र के द्वारा उनके स्तन में रहा हुआ दूध बून्द बून्द करके खींच लिया जाता है। दूध निकला लेने के बाद उन्हें इस प्रकार पीटा जाता है, जिस प्रकार पापड़ का आटा पीटा जाता है। पीटते–पीटते जब सारी चर्बी उनके ऊपर आ जाती है तब उन्हें कत्ल कर दिया जाता है। उनके कत्ल होने का दृश्य यदि आप लोग देख लें तो ज्ञात होगा कि आपके मोल के दूध के पीछे क्या क्या अत्याचार होते हैं।

आप जरा विचार करिये कि वे भैंसें बम्बई में क्यों लाई गई थीं? क्या वे मोल का दूध खाने वालों के लिए नहीं लाई गई थीं? पैसा देकर दूध खरीदने से इस पाप से बचाव नहीं हो सकता। कोई जैन धर्म का अनुयायी पैसे का नाम लेकर अपना बचाव नहीं कर सकता और न जैनों के लिए यह उत्तर शोभनीय ही है।

मैंने बांदरा (बम्बई) आदि स्थानों के कत्लखानों की रोमांचकारी हकीकतें सुनी हैं। घाटकोपर (बम्बई) चातुर्मास में मैंने पशुरक्षा पर बहुत उपदेश दिया था, जिस पर वहां जीवदया संस्था भी खुली है। आपके यहां कैसे चलता है, सो मुझे पता नहीं है। मोल के दूध में अनेक अनर्थ भरे हैं। बीकानेर के एक माहेश्वरी भाई ने मुझे कहा था कि मोल का दूध पीने वाले लोगों के लिए पाली हुई गायों को देखने से पता लगता है कि उनके नीचे बछड़े नहीं होते। वे बच्चे कहां चले जाते हैं? गायों के मालिक बछड़ों को जन्मते ही जंगल में छोड़ आते हैं। वे सोचते हैं, यदि बछड़ा जिन्दा रहेगा तो दूध चूसेगा। जिस दूध के लिए ऐसे अनर्थ और पाप होते हैं उसके पीने में तो पाप नहीं और जिसमें गायों की रक्षा, पालना, पोषण, सार–सम्भाल होती है, उसके पीने में पाप होता है, ऐसी श्रद्धा कैसे बैठ गई? किसने ऐसा धर्म बताया, समझ में नहीं आता।

शास्त्र में श्रावकों के घर पशु होने का जिक्र है। पशुओं के साथ जैन श्रावक का कैसा वर्ताव होना चाहिए, इसके लिए शास्त्र में कहा है–श्रावक वध, बंध, छविच्छेद, अतिचार और भत्तपानी विच्छेद' इन पांच बातों से बचकर

पशुओं का पालन पोषण करे। श्रावक किसी जानवर को खसी नहीं करता, न कराता है। किसी जानवर को गाढ़े बंधन से नहीं बांधता। किसी पर अधिक बोझा नहीं लादता। वह न किसी को मारता पीटता और न चारा पानी देने में भूल या देरी ही करता है। भक्त पानी का अन्तराय भी नहीं करता। श्रावकों के लिए शास्त्र में यह विधान है। किन्तु आज के लोग पशुपालन का त्याग कर के इस झंझट से बच रहे हैं और साथ में यह भी समझते हैं कि पाप से भी बच रहे हैं। वास्तव में इस पाप से नहीं बचा जा सकता। पाप से बचाव तब हो सकता है, जब मोल का दूध दही मावा आदि खाना छोड़ दिया जाय।

भगवान् नेमिनाथ जैसे समर्थ व्यक्ति धर्म के लिए पशु पक्षियों की हिंसा अपने सिर लेकर विवाह करना तक छोड़ देते हैं तो क्या दूध दही के लिए मारे जाने वाले पशुओं की रक्षा के लिए मोल का दूध दही खाना नहीं छोड़ सकते? घी दूध खाना ही है तो पशु रक्षा करनी ही चाहिए। आज तो घर में गाय रखने तक की जगह नहीं होती। मोटर तांगे आदि रखने के लिए जगह हो सकती है मगर गाय के लिए जगह नहीं हो सकती।

श्रावक निरारम्भी निष्परिग्रही नहीं हो सकता किन्तु महापरिग्रही भी नहीं हो सकता। वह अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही होता है। श्रावक अपना जीवन इस प्रकार की चीजों से चलाता है जिनके निर्माण में कम से कम पाप हो। जिन चीजों में अधिक पाप होता है उनका उपयोग श्रावक नहीं करता। मोल के घी दूध में अल्प पाप है या रक्षा करके घर की पाली हुई गायों के घी दूध में? घर की रखी हुई गायों के घी दूध में अल्प पाप है।

भगवान् अरिष्टनेमि ने यह भी विचार किया कि जिस वंश में मैं जन्मा हूं उसमें इस प्रकार के पाप हों, यह कैसे सहा जाय? यदि पाप के भार को कम न किया जाय तो मेरा आलस्य गिना जायेगा। मेरे विवाह के निमित्त इन दीन–हीन प्राणियों के गले पर छुरी चलाई जायेगी! अहो विवाह कितना दुःखदायी है! सारथी से कहा इन सब जीवों को छोड़ दो। भगवान् की यह आज्ञा सुनकर सारथी कुछ सकुचाया। पुनः भगवान् ने कहा– हे सारथी। डरते क्या हो? मैं आज्ञा देता हूं कि इन जीवों को छोड़ दो।

सारथी ने उन जीवों को छोड़ दिया। छुटकारा पाकर आसमान मे उड़ते हुए या जंगल की ओर भागते हुए उन जीवों को कितना आनंद आया होगा, इसका अनुमान आप भी लगा सकते हो। कोई आदमी जेलखाने में बंद हो तो जेल से छूटने पर उसे कितना आनन्द होता है? पिंजड़ों में बंद किये

हुए वे जीव तो मौत के मुख से बचे थे। उनके आनन्द का क्या कहना? किसी मरते हुए व्यक्ति को एक पुरुष तो राज्यदान करने लगे और दूसरा जीवनदान। वह मरणासन्न व्यक्ति किस दान को पसन्द करेगा? जीवनदान को ही वह चाहेगा। हमारे शास्त्रों में इसीलिए कहा है–

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाण

सब दानों में अभयदान सर्वश्रेष्ठ है। यह बात शास्त्र कुरान, पुरान से ही सिद्ध नहीं है मगर स्वानुभव से भी सिद्ध है। आपसे भी यदि कोई राजा यह कहे कि मै धन देता हूं और दूसरा कहे कि मैं जीवनदान देता हूं तो आप जीवनदान ही पसन्द करोगे। कारण कि जीवन न रहा तो धन किस काम का? जीवन के पीछे धन है। यह बात एक दृष्टांत से समझाता हूं।

एक राजा के चार रानियां थी। अपने अपने पद के अनुसार चारों ही राजा को प्रिय थीं। राजा ने सोचा कि इन चारों में कौन अधिक बुद्धिमती है, इसका निर्णय करना चाहिए और उसी पर ज्यादा प्रेम भी रखना चाहिए। यद्यपि मुझे चारों रानियां प्रिय हैं तथापि गुण की अवहेलना करना ठीक नहीं है। गुणानुसार कद्र होना ही चाहिये। गुणों की तरफ ज्ञानियों का खिंचाव होता है। यह स्वाभाविक बात है, अतः सबसे बुद्धिमती कौन है, इसका निर्णय करना चाहिए।

परीक्षा करने के लिए राजा समय की प्रतीक्षा करता रहा। योगानुयोग से परीक्षा का समय निकट आ गया। एक दिन शूली की सजा पाये हुए एक अपराधी को शूली पर चढ़ाने के लिए ले जाया जा रहा था। उस अपराधी को स्नान कराया गया था। उसके आगे बाजे बजाये जा रहे थे। उसके साथ अनेक लोग कोतवाल सिपाही आदि थे। मगर वह अकेला रोता हुआ जा रहा था। यह दृश्य रानियों ने देखा, और देखकर दासियों से पूछा कि इतने अच्छे ड्रेस में बाजे गाजे के साथ जाता हुआ यह आदमी रो क्यों रहा है? दासियों ने कहा कि यह शूली का अपराधी है। थोड़ी देर में इसकी जीवन लीला समाप्त होने वाली है, अतः मौत के भय से यह रो रहा है।

आजकल फांसी दी जाती है। पहले शूली दी जाती थी। लोहे के एक तीखे शूल पर आदमी को बिठा दिया जाता था। वह शूल मस्तक में आरपार निकल जाता था।

रानियों ने पूछा कि क्या कोई इस पर दया नहीं कर सकता? दासियों ने कहा कि राज–आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने की किसी की

हिम्मत नहीं हो सकती है। सब ने सोचा, इस बेचारे का कुछ न कुछ भला करना चाहिए।

पहली रानी राजा के पास गई। जाकर कहा, मैं आप से एक वरदान मांगती हूं, वह आज पूरा करना चाहती हूं। राजा ने कहा, मांग लो वरदान और मेरा बोझ हल्का कर दो। रानी ने एक दिन के लिए उस शूली की सजा पाये हुए व्यक्ति को मांग लिया। उसे खूब खिलाया पिलाया और एक हजार मोहरें भेंट में दीं। रात को वह सो गया मगर शूली की याद से उसे नींद नहीं आ रही थी। इन मोहरों का क्या उपयोग है जबकि मैं खुद ही न रहूंगा? दूसरे दिन दूसरी रानी ने भी उसे एक दिन अपने यहां रख कर दस हजार मोहरें भेंट दीं। तीसरी रानी ने एक लाख ग्यारह हजार दीनारें दीं किन्तु उसका दिल शूली की सजा के स्मरण मात्र से बड़ा दुःखी था। चौथी रानी ने विचार किया कि मुझे भी इस बेचारे के दुःख में कुछ हिस्सा बंटाना चाहिए।

मृत्युघण्ट बज रहा हो, उस समय यदि कोई मुझे कितना भी धन दौलत दे तो वह मेरे लिए किस काम का हो सकता है, यह सोचकर रानी ने उसकी शूली माफ कराने का निर्णय किया। राजा की इजाजत लेकर रानी ने उस सजायाफ्ता व्यक्ति को अपने पास बुलाया। बुलाकर उसे पूछा कि जैसे अन्य रानियों ने तुझे एक एक दिन रख कर मोहरें भेंट कर दी हैं, वैसे मैं भी एक दिन रखकर तुझे दस लाख मोहरें दे दूं अथवा तेरी यह सजा माफ करवा दूं? हाथ जोड़कर चोर कहने लगा भगवती! मोहरें लेकर मैं क्या करूं? यदि आप मेरी सजा माफ करा दें तो ये एक लाख ग्यारह हजार मोहरें भी आपको देने के लिए तैयार हूं। मुझे जीवनदान चाहिए, धन नहीं चाहिए। उसकी बातें सुनकर रानी ने निश्चय कर लिया कि यह आदमी मोहरों की अपेक्षा जीवन को बहुमूल्य समझता है।

आज आप लोग दमड़ी के लिए जीवन नष्ट कर रहे हो। एक भव का जीवन ही नहीं किन्तु अनेक भवों के जीवन को बिगाड़ रहे हो। आप अपने कामों की तरफ निगाह करिये। क्या ऐसे कामों के चिकने संस्कारों से अनेक भव नष्ट नहीं होते? अतः प्रथम अपनी आत्मा को अभय दान दीजिये। स्वहिंसा को रोकिये।

रानी ने चोर से कह दिया कि तेरी शूली माफ है। चोर बड़ा प्रसन्न हुआ। चोर की प्रसन्नता की कल्पना कीजिए कि वह कितनी अपार होगी? चोर अपने घर चला गया किन्तु रानियों में आपस में झगड़ा हो गया कि किसने चोर का अधिक उपकार किया? एक–एक दिन रखकर मोहरें भेंट देने वाली

तीनों रानियां एक तरफ हो गई और कहने लगीं कि चौथी रानी ने चोर को कुछ भी दिए बिना यों ही टरका दिया। चौथी रानी बोली कि इस प्रकार आपस में वाद-विवाद करने से बात का निर्णय नहीं आयेगा। अतः किसी तीसरे व्यक्ति को मध्यस्थ बना लिया जाय। यह बात सबने स्वीकार कर ली। राजा को मध्यस्थ बनाकर सब अपना-अपना पक्ष उसके सामने रखने लगीं।

पहली रानी ने कहा कि मैंने एक दिन के लिए चोर को फांसी से बचाकर उसके जीवन को बचाने की शुरूआत की है। दूसरी ने कहा, मैंने दस हजार मोहरें दी हैं। तीसरी ने कहा, मैंने एक लाख मोहरें दी हैं। हम तीनों ने अपनी शक्ति के अनुसार देकर उसका कुछ उपकार किया है। मगर चौथी रानी तो कुछ दिए बगैर कोरी बातें करके साफ निकल गई है, फिर भी अपने काम को हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ मानती है। आप फैसला कीजिए कि किसका काम अधिक उत्तम है? राजा ने सोचा कि यदि मैं किसी के पक्ष में न्याय दे दूंगा तो मेरा पक्ष पात समझेंगी और इनका आपस में भी झगड़ा हो जायेगा। अब चोर जीवित ही है। उसे बुलाकर पूछ लिया जाय। राजा ने रानियों से कहा कि मेरी अपेक्षा इस विषय में वह चोर अच्छा न्याय दे सकेगा क्योंकि वह भुक्तभोगी है और उसकी आत्मा जानती है कि किसने उस पर अधिक उपकार किया है। राजा ने चोर को बुलवा लिया और चारों रानियों का पक्ष-समर्थन उसके सामने रख दिया, 'हे चोर! ईमानदारी से कहना कि इन चारों रानियों ने तेरे पर जो-जो उपकार किये हैं, उनमें सबसे अधिक उपकार किसका और कौनसा है? झूठ मत बोलना।' चोर ने कहा 'राजन्! उपकार तो इन तीनों रानियों ने भी किया है जिसे मैं जीवन भर नहीं भूल सकता किन्तु चौथी रानी के द्वारा किया गया उपकार सबसे महान् है। इसने मुझे जीवन दान दिया है। इसके उपकार का बदला मैं अनेक जन्मों में भी नहीं चुका सकता। यह तो साक्षात् भगवती है, दया की अवतार है।' राजा ने कहा, तू पक्षपात से तो नहीं कह रहा है? इसने कुछ भी नहीं दिया, फिर भी इसका सबमें अधिक उपकार बता रहा है। चोर ने कहा- महाराज, मैं ठीक कह रहा हूं। मेरे कथन में पक्षपात नहीं है किन्तु निरी सच्चाई है। इस चौथी रानी ने मुझे कुछ नहीं दिया है मगर फिर भी सब कुछ दे डाला है। इसने जो दिया है, वह मिले बिना जो कुछ इन तीनों ने दिया है, वह कैसे सार्थक हो सकता था? दूसरी बात- इनकी दी हुई मोहरें पास होने पर भी मुझे यह महान् भय सताता रहा कि प्रातःकाल शूली पर चढ़ना पड़ेगा और जीवन से हाथ धोने होंगे। इस चतुर्थ महारानी ने मेरा सारा भय मिटा दिया और मुझे निर्भय बना दिया है। सब कुछ

आत्मा के पीछे प्रिय लगता है। आत्मा शरीर से अलग हो जाय तो सम्पत्ति किस काम की रहे?

चोर का निर्णय सुनकर पहली तीनों रानियों का पहले तो मुंह उतर गया किन्तु वे कुलवती थीं, अतः समझ गईं और इस बात को मान लिया कि जीवनदान सब दानों में श्रेष्ठ हैं, अमूल्य है। राजा ने कहा, यदि यह बात ठीक है तो तुम सब में यह चौथी रानी अधिक बुद्धिमती सिद्ध हुई और इस नाते यदि इसे मैं पटरानी बना लूं और घर की नायिका कायम कर दूं तो यह मेरी भूल न होगी। सबने उसे बुद्धिमती और पटरानी स्वीकार कर लिया।

चौथी रानी ने कहा, मेरे पटरानी बनने से यदि किसी को भय हो तो मैं सबकी सेविका बन कर ही रहना चाहती हूं। किसी प्रकार का कलह पैदा करके अथवा आप लोगों को दुःख देकर मैं पटरानी होना पसन्द नहीं करती। तीनों ने कहा, हमें तुम्हारी तरफ से न तो भय है और न दुःख। आपकी अक्ल के सामने हम तुच्छ हैं। आप पटरानी होने लायक हैं।

मतलब यह है कि अभयदान सब दानों में श्रेष्ठ दान है। अभयदान कब दिया जाता है, इस पर विचार करिये। आप पांच रुपये में बकरा खरीद कर उसे अभयदान दो अथवा किसी अन्य जीव को मरण से बचा कर उसे अभय दान दो, यह ठीक है। किन्तु पहले आप अपने खुद के लिए विचार करिये कि आप स्वयं अभय अथवा निर्भय हैं या नहीं? भगवान् नेमिनाथ के सामने आपने अपनी आत्मा को निर्भय बनाया है या नहीं? भगवान् उन मूक पशुओं को बाड़े से छुड़ाकर शादी कर सकते थे? किन्तु उन्होंने ऐसा न करके 'तोरण से रथ फेर लिया'' सो सदा के लिए फेर ही लिया। अपनी आत्मा को अभयदान देने के लिए भगवान् का यह दूसरा कदम था। पहला कदम जीवों का छुड़ाना था। जबकि विवाह दुःख का मूल है, विवाह करके आत्मा को भय में डालना भगवान् ने उचित नहीं समझा। मुकुट के सिवाय सब आभूषण सारथी को दे दिये और स्वयं वापस लौट गये। कहावत है–

वणिकतुष्टं देत हस्तताली।

बनिया प्रसन्न हो जाय तो एक दो और जमा दे मगर कुछ देने में बहुत संकोच होता है। भगवान् बनिये नहीं थे जो ऐसा करते। उन्होंने मुकुट के सिवाय सब कुछ सारथी को दे डाला। श्रीकृष्ण के भण्डार के आभूषण कितने बहुमूल्य होंगे, जरा ख्याल करियेगा।

राजेमती उनके साथ विवाह करने की इच्छा रखती थी। अतः इनके लौट जाने से उसकी क्या दशा हुई होगी? उसने सोचा कि भगवान् मुझे

परमार्थ का मार्ग दिखाने आये थे। वे मेरे मोहनगारे हैं। आप लोग केवल गीत गाकर मोहनगारो कहते हैं मगर राजेमती ने सच्चा मोहनगारा बनाया था। कोरे गीत गाने से कुछ नहीं होता। गीत दो तरह से गाये जाते हैं। विवाह आदि प्रसंग पर वर की माता भी गीत गाती है और पड़ौसी स्त्रियां भी। इन दोनों गीत गानेवालियों में कोई अन्तर है या नहीं? पड़ौसी स्त्रियां गीत गाकर लेती हैं। माता गीत गाकर देती है। यदि मां भी गीत गाकर लेने लगे तो वह माता न रहेगी, पड़ौसिन बन जायेगी। उसका माता का अधिकार न रहेगा। आप भी परमात्मा के गीत गायें तो अधिकारी बनकर गाइये। लेने की भावना मत रखिये, अन्यथा अधिकार चला जायेगा।

विचार करने से मालूम होता है कि भगवान् नेमिनाथ से राजेमती एक कदम आगे थी। नेमिनाथ तोरण से वापस लौट गये थे। अतः राजेमति चाहती तो उनके हजार अवगुण निकाल सकती थी। वह कह सकती थी कि वरराज बन कर आये और वापस लौट गये। मुझ से पूछा तक नहीं। यदि विवाह न करना था तो बींद बन कर आये ही क्यों थे? दीक्षा ही लेनी थी तो यह ढोंग क्यों रचा? मैं उनकी अर्धाङ्गिनी बन चुकी थी तो दीक्षा के लिए मेरी सम्मति लेनी आवश्यक थी आदि।

आज के आलोचक विद्वान कह सकते हैं कि नेमिनाथ तीर्थकर थे, फिर भी उनके काम कैसे हैं कि तोरण पर आकर वापस लौट गये। एक स्त्री का जीवन बरबाद कर दिया। विद्वानों की आलोचना पर विचार करने के पहले राजेमति क्या कहती है? एक सखी ने कहा, अच्छा हुआ जो नेमजी चले गये। वास्तव में उनकी और तुम्हारी जोड़ी भी ठीक न थी। वे काले हैं तुम गौरी हो। मुझे यह संबंध पहले से ही नापसन्द था। मगर मैं कुछ बोल नहीं सकती थी। वे जैसे ऊपर से काले हैं वैसे हृदय से भी काले हैं। बींद बन कर आना, छत्र, चंवर धारण करना, फिर भी वापस लौट जाना। यह हृदय का कितना कालापन है? अच्छा हुआ कि विवाह करने के पूर्व ही चले गये? नाक कटी तो उन लोगों की जो बारात में सजधज कर आये थे। अपना क्या नुकसान हुआ? राजेमति! तुम को कोई दूसरा उससे भी अधिक योग्य वर मिल जायेगा?

सखी की ऐसी बातें सुनकर राजेमती ने क्या उत्तर दिया, वह सुनिये। आजकल विधवा विवाह की एक लहर चल पड़ी है। विधवाएं तो इस विषय में कुछ नहीं कहतीं केवल नवयुवक लोग उनके विवाह कर लेने की बातें और दलीलें दिया करते हैं। जरा विचारने की बात है कि क्या विधवा–विवाह होने

से ही सुधार हो जायेगा? जो लोग दूसरों का सुधार करना चाहते हैं, वे पहले अपना सुधार कर लें। पहले खुद का रहन–सहन देखना चाहिए कि वह कैसा है और उसमें सुधार की क्या गुंजाइश है?

राजेमति की सखी ने उसे दूसरा विवाह कर लेने की बात कही थी मगर उनकी लगन कैसी है, यह देखिये। सखी से कहा–हे सखी, तू चुप रह। ऐसा मत कह। वह भगवान् काला नहीं है किन्तु आकाश के समान श्याम वर्ण होने पर भी अनन्त है। ऊपर से चमड़ी चाहे सांवली हो मगर उसके भाव इतने निर्मल और उज्ज्वल हैं कि अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिल सकती। उनके विषय में ऐसी बेहूदा बातें मैं नहीं सुन सकती। उनके चरित्र की तरफ जरा नजर कर। वे मुझे छोड़ कर किसी अन्य स्त्री से विवाह करने के लिए नहीं गये हैं किन्तु दीन हीन पशुओं पर करुणा भाव लाकर, उन्हें बन्धनों से छुड़ाकर यादवों में करुणा बुद्धि जगाकर करूणासागर बनने के लिए गये हैं।

राजेमती की बात सुनकर उसकी सखी दंग रह गई। कहने लगी– मैंने तो तुम्हें अच्छे लगने के लिए ही उक्त शब्द कहे थे। आज भी लोग दूसरों को अच्छा लगने के लिए सत्य की घात कर रहे हैं। किन्तु ज्ञानीजन दूसरों को अच्छा लगने के लिए भी सत्य का खून नहीं करते। वे जानते हैं कि–

सत्यमेव जयते नानृतम्।

सत्य की ही जय होती है। झूठ की विजय नहीं होती। शास्त्र में भी कहा है कि– "सच्चे भगवओ" अर्थात् सत्य भगवान् है। वेदान्त में भी कहा है– "सत्येन लभ्यते ह्यायं आत्मा" अर्थात् यह आत्मा सत्य के जरिये ही परमात्मा में मिल सकता है। सत्य से तप होगा। सत्य से सम्यग्ज्ञान होगा। सम्यज्ञान में ब्रह्मचर्य होगा। इन सब से परमात्मा की भेंट होगी। राजेमती सत्य प्रकृति से नाता रखती थी। अतः सखी से कह दिया कि ऐसे वचन मत बोल।

दूसरी सखी ने कहा– यह मूर्ख है जो भगवान् की निन्दा करती है। निन्दा करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? लेकिन मैं तुम से यह पूछना चाहती हूं कि थोड़ी देर पहले तुम्हारा क्या विचार था? राजेमति ने उत्तर दिया कि भगवान् की पत्नी बनने का। सखी ने कहा–तब इतनी सी देर में वैराग्य कहां से आ गया? क्षणिक आवेश में आकर वैराग्य की बातें करती हो किन्तु भविष्य का भी जरा ख्याल करो। अभी तो बाजी हाथ में है। अभी तुम्हें विवाह का दाग भी नहीं लगा। माता–पिता से कहने पर दूसरे वर के साथ इसी मुहूर्त में विवाह करा देंगे। आप जैसी कुलवन्ती के लिए वर की क्या कमी है?

राजेमती ने उत्तर दिया कि यह बात ठीक है कि मैं भगवान् की पत्नी बनना चाहती थी। जो सच्ची बात थी तुझ से कही थी। मैं झूठ बोलना अच्छा नहीं समझती। सत्य से विष भी अमृत हो जाता है और झूठ से अमृत भी विष। मैं दिल से उनकी पत्नी बन चुकी हूं। भले ही ऊपर से विवाह संस्कार नहीं हुआ। मैं समीप से सायुज्य में पहुंच चुकी हूं। अतः अब उनका काम, उनका धर्म और उनका मार्ग मेरा काम, मेरा धर्म और मेरा मार्ग होगा। जिस प्रकार लवण की पुतली समुद्र में स्नान करने जाती है और उसी में समा जाती है, उसी प्रकार मैं भी भगवान् में समा चुकी हूं। पहले में पति शब्द का अर्थ कुछ और समझती थी किन्तु अब जान गई हू कि "पुनातीति पति" अर्थात् जो पवित्र बनाये वह पति है। भगवान् ने मुझे पावन बना दिया है। विवाह करने पर एक को सम्मान देना पड़ता है और अन्यों की उपेक्षा करनी पड़ती है। ऐसा न हो तो वह विवाह ही नहीं है। मैं भी भगवान् को सम्मान देती हू जिन्होंने जगत् की सब स्त्रियों को माता और बहिन बना लिया है। मेरी भगवान् से जो लगन लगी है, वह लगी ही रहेगी। वह लगन अब टूट नहीं सकती। चाहे मेरे माता–पिता मुझे पहाड़ से गिरा दें, विषपान करा दें अथवा अन्य कुछ कर दें किन्तु भगवान् के साथ जो लगन लगी है, वह नहीं बदल सकती।

विवाह आप लोगों का भी हुआ है। जिसके साथ विवाह हुआ है, उसके साथ ऐसी लगन लगी है या नहीं? विवाह करके स्त्री किसी परपुरुष पर नजर न डाले और पुरुष परस्त्री पर, यही सबक भगवान् नेमिनाथ और राजेमती के चरित्र से लेना चाहिए। तभी आप भगवान् के श्रावक कहला सकते हैं। ऐसा हो तभी आनन्द है।

राजेमती दीक्षा लेकर भगवान् से 54 दिन पहले मुक्ति पुरी में पहुंची है। कवि कहते हैं कि राजेमति की मुक्ति सुन्दरी से प्रतिस्पर्धा थी। राजेमति कहती है अयि मुक्ति सुन्दरी! तू मेरे पति को अपने पास पहले बुलाना चाहती थी मगर यहां भी मैं पहले आ पहुंची हूं। अब देखती हूं कि मेरे पति यहां से मुझे छोड़कर कैसे जाते हैं?

सच्चा विहार करने वाले भगवान् अरिष्टनेमि और राजेमती अन्त तक हृदय में बने रहें तो कल्याण है।

राजकोट, 12–7–36 का व्याख्यान

8 : आत्म विभ्रम

"जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द..."

यह तेईसवें तीर्थंकर भगवान श्री पार्श्वनाथ की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में यह बात बताई गई है कि आत्म अपना निज स्वरूप किस प्रकार भूल गया है और पुनः उसे कैसे जान सकता है? इस पर यह प्रश्न उठता है जब कि आत्मा चिदानंद स्वरूप है तब अपने रूप को क्यों भूल गया? पुनः स्वरूप का भान किस प्रकार हो सकता है? यह प्रश्न बड़ा कठिन जान पड़ता है किन्तु हृदय के कपाट खोलकर विचार करने से सरल बन जाता है।

आत्मा भ्रम में पड़ा हुआ है, यह बात सत्य है मगर उस भ्रम को वह स्वयं ही मिटा सकता है। यदि आत्मा उद्योग करे तो भ्रम मिटाकर अपने स्वरूप को आसानी से जान सकता है। आत्मा भ्रम में किस प्रकार पड़ा हुआ है, इसके लिए इस प्रार्थना में कहा गया है–

सर्प अन्धेरे में रासड़ी रे, सुने घर बेताल।
त्यों मूरख आतम विषे, मान्यो जग भ्रम जाल।।

अंधेरे में पड़े हुए रस्से के टुकड़े को देखकर सांप का भान हो जाता है। इस काल्पनिक सांप को देखकर लोग डर भी जाते हैं। यद्यपि वह सांप नहीं है, रस्सी है, फिर भी मनुष्य अपनी कल्पना में उसे सांप मान कर कल्पना से ही भयभीत भी होता है। किसी के भ्रमवश किसी वस्तु को अन्यथा रूप में मान लेने से वह वस्तु बदल नहीं जाती। वस्तु तो जैसी होगी वैसी ही रहेगी। किसी ने कल्पना से रस्सी को सांप मान लिया, इससे रस्सी सांप नहीं बन जाती है। केवल कल्पना से मनुष्य अन्यथा मानता है और कल्पना से ही भय भी पाता है। कल्पना भ्रम से पैदा होती है। जब बुद्धि में फितूर होता है तब वास्तविक पदार्थ उल्टा मालूम होने लगता है। यह भ्रम ज्ञानरूपी प्रकाश से मिट सकता है। ज्ञान प्रकाश है, अज्ञान अंधकार है।

कल्पना से भय किस प्रकार पैदा कर लिया जाता है और वापस किस प्रकार दूर किया जाता है, इस बात का मुझे खुद को भी अनुभव है। एकदा दक्षिण देश में घोड़नदी नामक ग्राम में रात के समय बैठा हुआ था। अन्य लोग भी बैठे थे। मैं छाया में बैठा हुआ था। कुछ लोग खुले में भी बैठे थे। हम सब ज्ञान की बातें कर रहे थे। छत पर चांदनी से कुछ छाया पड़ रही थी। उस छत में एक दरार पड़ी हुई थी। उस छाया में वह ऐसी मालूम हुई मानों सांप हो। उपस्थित लोगों ने विचार किया कि यदि यह सांप रात को यहीं पर पड़ा रह गया तो संभव है किसी को हानि पहुंचाये? यह सोचकर सब लोग उस सांप को पकड़ने का प्रबन्ध करने लगे। कोई सांप पकड़ने का लकड़ी का चिंपिया ले आया तो कोई प्रकाश के लिए दीपक। जब दीपक लेकर उसके पास आये तो सब लोग खिलखिला कर हंसने लगे और एक दूसरे को कहने लगे कि किसने इसे सांप बताया? यह तो छत में पड़ी हुई दरार है।

इस प्रकार उस दरार (लम्बा छेद) के विषय में जो भ्रम पैदा हुआ था, वह प्रकाश के लाने से दूर हो गया। यदि प्रकाश न लाया जाता तो वह भ्रम दूर नहीं होता। जिस प्रकार सांप के विषय में झूठा ज्ञान हो गया था, भ्रम हो गया था, इसी प्रकार संसार के विषय में भ्रम फैल रहा है। हमारे भ्रम से न तो आत्मा जड़ हो सकता है और न जड़ पदार्थ चैतन्य। लेकिन आत्मा भ्रम से गड़बड़ में पड़ा हुआ है और इसी कारण जन्म–मरण के चक्कर में फंसा हुआ है।

मैंने श्री शंकराचार्य कृत वेदान्त भाष्य देखा है। उसमें मुझे जैन तत्त्व का ही प्रतिपादन मालूम पड़ा। मैं यह देख कर इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि जैन दर्शन के गहरे अध्ययन की सहायता के बिना वस्तु ठीक प्रतिपादन हो ही नहीं सकता। यदि कोई शांति से मेरे पास बैठ कर यह बात समझना चाहे कि किस प्रकार वेदान्त भाष्य में जैन दर्शन का समावेश है, तो मैं बड़ी खुशी से समझा सकता हूं।

वेदान्ती कहते हैं कि– 'एको ब्रह्मः द्वितीयो नास्ति' अर्थात् एक ब्रह्म ही है दूसरा कुछ नहीं है। किन्तु भाष्य में कहा है कि–

युष्मदस्मत्प्रत्यय गोचरयोः विषयविषयिणोः।
तमः प्रकाश विरुद्धस्वभावयोः।।शंकर भाष्यः।

अर्थात् युष्मत् और अस्मद् प्रत्यय के विषयीभूत विषय और विषयी में अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर विरोध है। पदार्थ और पदार्थ को

जानने वाले में परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। संसार के सब पदार्थ विषय है और इन को जानने वाला आत्मा विषयी है। इन दोनों में परस्पर विरोध है। भाष्यकार का कथन है कि न तो युष्मद् अस्मद हो सकता है और न अस्मद् युष्मद्। दोनों को अंधकार और प्रकाशवत् भिन्न माना है। दोनों एक नहीं हो सकते। जैन धर्म भी ठीक यही बात कहता है कि जड़ और चैतन्य का स्वभाव और धर्म जुदा–जुदा है। न तो जड़ चैतन्य हो सकता है और न चैतन्य जड़। इस प्रकार भाष्य का कथन जैन शास्त्र और जैन दर्शन के प्रतिकूल नहीं है किन्तु अनुकूल है–समर्थन है। इसके विपरीत वेदान्त प्रतिपादित 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' के सिद्धांत के प्रतिकूल पड़ता है। यदि ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ नहीं है तो युष्मद् और अस्मद् अंधकार और प्रकाश, पदार्थ और पदार्थ को जानने वाला, एक हो जाएंगे। ब्रह्म चैतन्य स्वरूप माना गया है। यदि दोनों पदार्थ चैतन्य रूप हों, तब तो एक में मिल सकते हैं। किन्तु यदि दोनों तमः प्रकाशवत् भिन्न गुण वाले हों, तब एक में कैसे मिल सकते हैं? अगर दोनों अलग अलग रहते हैं "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" सिद्धांत कहां रहा? इस प्रकार विचार करने से सभी जगह जैन तत्व और जैन दर्शन की स्याद्वाद शैली मिलेगी। स्याद्वाद शैली बिना वस्तु तत्व विवेचन ठीक नहीं हो सकता।

मतलब यह है कि आत्मा ने अपने भ्रम से ही जगत् पैदा कर रखा है। जिस तरह रस्सी में सांप की कल्पना हुई उसी प्रकार मैं दुबला हूं, मैं लंगड़ा लूला हूं आदि अनेक कल्पनाएं की जाती हैं। विचार करने पर मालूम होगा कि आत्मा न दुबला है और न लंगड़ा लूला। दुबला और लंगड़ा लूला शरीर है मगर भ्रमवश शरीर के धर्म आत्मा में मानकर मनुष्य भयभीत या दुःखी होता है। आत्मा और शरीर के गुण स्वभाव भिन्न–भिन्न हैं। अज्ञानवश जीव दोनों को एक मानता है और अनेक प्रकार का जाल रचता है। इस भ्रम को मिटाने के लिए तथा काल्पनिक जगत् बनाने से बचने के लिए प्रार्थना में कहा गया है "जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वंद"। भगवद्भक्ति से सब प्रकार के भ्रम मिट जाते हैं। भ्रम मिटने पर दुःख कभी नहीं हो सकता।

इसी बात को जैन सिद्धांत के अनुसार देखें कि यह संसार भ्रम कल्पना से ही बना हुआ है अथवा वास्तविक है? शास्त्र कहते हैं, व्यवहार दृष्टि से जगत् वास्तविक है और निश्चय दृष्टि से काल्पनिक। इस विषय का विशेष खुलासा उत्तराध्ययन सूत्र के वीसवें अध्ययन में किया गया है।

महानिर्ग्रन्थ अध्ययन में नाथ–अनाथ की व्याख्या की गई है और बताया गया है कि जीव भ्रमवश अपने को अनाथ मानता है और अभिमान से

नाथ समझता है। वास्तव में वह न नाथ है और न अनाथ है। नाथ अनाथ का सच्चा स्वरूप बताकर राजा श्रेणिक का भ्रम मिटाया गया है। इसी को समझकर किसी बात का त्याग न करने पर भी केवल सच्ची समझ पैदा हो जाने के कारण राजा श्रेणिक ने तीर्थंकर गोत्र बांध लिया था। महानिर्ग्रन्थ और श्रेणिक का संवाद ध्यानपूर्वक सुनने से उसका रहस्य ध्यान में आयेगा। मैं अनाथी मुनि के चरण रज के समान भी नहीं हूं और आप भी श्रेणिक राजा के समान नहीं है। फिर भी उन मुनि की बातचीत कहने के लिए मुझे जैसे अपने आत्मा को तैयार करना होगा वैसे आपको भी कुछ तैयारी करनी होगी। जैसे उस चोर ने मुर्दे का पार्ट पूरा अदा किया था, वैसे आप को भी श्रेणिक का पार्ट अदा करना चाहिए। ऐसा करने पर ही इस कथा का रहस्य समझ में आयेगा।

राजा श्रेणिक के परिचय के लिए इस कथा में कहा गया है–

प्रभूयरणो राया सेणिओ मगहाहिवो।
विहारजत्तं निज्जाओ मंडिकुच्छिसिचेइये। 2।

पहले पात्र का परिचय कराना आवश्यक होता है। श्रेणिक इस कथा में प्रधान पात्र है। वह अनेक रत्नों का स्वामी था। श्रेणिक साधारण राजा नहीं था किन्तु मगध देश का अधिपति था।

शास्त्र में श्रेणिक को बिम्बसार भी कहा गया है। श्रेणिक की बुद्धिमत्ता के लिये कथा प्रसिद्ध है। श्रेणिक के पिता प्रसन्नचन्द्र के सौ पुत्र थे। पिता यह जानना चाहता था कि उसके पुत्रों में सबसे अधिक बुद्धिमंता कौन है? परीक्षा करने के लिये प्रसन्नचन्द्र ने एक दिन कृत्रिम आग लगा दी और अपने पुत्रों से कहा कि आग लगी है, अतः महलों में से सार भूत चीजें हो, उन्हें बाहर निकाल डालो। पिता की आज्ञा पाते ही सब लड़के अपनी अपनी रूची के अनुसार जिसे जो वस्तु अच्छी लगी, वह निकालने लगा। श्रेणिक ने घर में से दुन्दुभी निकाली। दुन्दुभी को निकालते देख कर उसके सब भाई हंसने लगे और कहने लगे कि यह कैसा आदमी है जो ऐसे अवसर पर ऐसी वस्तु बाहर निकाल रहा है? नगारे के सिवा इसे कोई अच्छी वस्तु घर में नहीं दिखाई दी, जो इसे निकालना पसन्द किया है। अब यह नगारा बजाया करेगा। मालूम होता है, यह ढोली है। खजाने से रत्नादि न निकाल कर इसने यह दुन्दुभी निकाली है।

ऊपर की नजर से श्रेणिक का यह काम बड़ा हल्का मालूम पड़ता था मगर उसके मर्म को कौन जाने? राजा प्रसन्नचन्द्र इसका मर्म समझते थे।

समझते और जानते हुए भी उस समय प्रसन्नचन्द्र ने श्रेणिक की प्रशंसा करना उचित नहीं समझा, कारण निन्यानवे भाई एक तरफ थे और अकेला श्रेणिक एक तरफ। क्लेश हो जाने की संभावना थी। प्रसन्नचन्द्र ने पुत्रों से पूछा कि क्या बात है? सबने कहा कि हमने अमुक अमुक चीज निकाली हैं पर पिताजी, हम सब बड़े हैरान है कि आप के बुद्धिमान पुत्र श्रेणिक ने नगारा निकाला है। इससे बढ़कर कोई बहुमूल्य वस्तु आपके खजाने में इसे नहीं मिली। वाद्य की क्या कमी है? दस पांच रुपयों में वाद्य मिल सकता है। यह निरा मूर्ख मालूम पड़ता है। प्रसन्नचन्द्र ने श्रेणिक की ओर नजर कर के कहा कि ये लोग तुम्हारे लिए क्या कह रहे हैं, सुनते हो? श्रेणिक ने उत्तर दिया कि पिताजी! राजाओं को रत्नों की क्या कमी है? यह नगारा राज्यचिन्ह है। यदि यह जल जाय तो राज्यचिन्ह जल जाता है और यदि यह बच जाय तो सब कुछ बच गया समझना चाहिए। राज्यचिन्ह के रह जाने से अनेक रत्न पैदा किये जा सकते हैं।

आजकल भी नगारे की बहुत रक्षा की जाती है। नगारे पर होशियार अंगरक्षक रखे जाते हैं। यदि किसी राजा का नगाड़ा चला जाय तो उसकी हार मानी जाती है। उसका राज्यचिन्ह चला जाता है।

श्रेणिक ने कहा कि राज्यचिन्ह समझ कर इसकी रक्षा करना, मैंने सब से जरूरी समझा है। श्रेणिक के भाई कहने लगे, यह मूर्खता है। युद्ध के समय यदि नगारा बजाया तो हमारी समझ में आ सकता है कि मौके पर राज्यचिन्ह बचा लिया किन्तु शांतिकाल में आग में जलती वस्तुओं की रक्षा के वक्त नगाड़ा निकालना कोई बुद्धिमत्ता पूर्ण काम नहीं।

प्रसन्नचन्द्र श्रेणिक पर बहुत प्रसन्न हुए किन्तु प्रसन्नता बाहर न दिखाई। श्रेणिक को आंख के इशारे से समझा दिया कि इस समय तू यहा से चला जा। श्रेणिक चला गया। बाहर रहकर उसने बहुत रत्न प्राप्त किये। प्रसन्नचन्द्र ने अन्त में उसकी बुद्धिमत्ता से खुश हो कर उसी को राज्यभार सौंपा। श्रेणिक भेरी (दुन्दुभी एक वाद्य विशेष) निकाल कर लाया था। भेरी शब्द का मागधी में भम्बा या बिम्ब हो जाता है। श्रेणिक ने बिम्ब को ही सार माना था, अतः उसका नाम बिम्बसार भी है। घर से निकाल दिये जाने पर वह बहुत रत्न लाया था, अतः वह बहुत रत्नों का स्वामी कहा गया।

अब श्रेणिक शब्द का अर्थ देख लें। कहते हैं, वह घर से निकाल दिये जाने पर भी राजकुमार ही रहा, ऊंचे ओहदे पर ही रहा, नीचे नहीं गिरा।

विपत्ति में पड़ जाने पर भी वह सम्पन्न ही रहा, श्रेष्ठ ही रहा, अतः श्रेणिक कहलाया।

श्रेणिक संसार की सब सम्पदाओं से युक्त था मगर उसके पास ज्ञान सम्पदा नहीं। आप लोगों को अन्य सब सम्पदाएं प्रदान करने वाले और ज्ञान सम्पदा प्रदान करने वाले में बड़ा कौन मालूम होता है? एक आदमी आपको बल देता है, धन देता है, सब कुछ देता है, और दूसरा आपको आत्मा की पहिचान कराता है। इन दोनों में आपको कौन बड़ा लगता है? जो आत्मा की पहिचान कराता है और यह श्रद्धा पैदा करा देता है कि आत्मा और शरीर, तलवार और म्यान अलग–अलग हैं, ऐसे महात्मा जगत् में बहुत हैं। सम्पदा देने वालों से ये महात्मा कम उपकारक नहीं हैं, बहुत अधिक उपकारक हैं।

यदि आप लोगों को आत्मा और शरीर का तलवार और म्यान के समान पृथक्–पृथक् भान हो जाय तो क्या चाहिए? इस बात पर दृढ़ श्रद्धा न हो जाए तो बेड़ा पार है। किन्तु दुःख है कि व्यवहार के समय ऐसा विश्वास कायम नहीं रहता। यदि कभी किसी वीर योद्धा के पास तलवार हो और उस समय यदि शत्रु उसके सामने आ जाय तो वह वीर तलवार को सम्हालेगा या म्यान को? यदि उसने उस समय तलवार न संभाल कर म्यान संभाला तो क्या वह वीर कहलायेगा और शत्रु से अपनी रक्षा कर सकेगा? इसी प्रकार आप लोगों पर भी मान लो कोई आपत् आ जाय तो उस समय आप म्यान के समान शरीर का बचाव करोगे अथवा तलवार के समान आत्मा का? शरीर को संभाला जाय पर उसमें निवास करने वाले आत्मदेव को न संभाला जाय तो यह कितनी मूर्खता की बात होगी?

कामदेव श्रावक की परीक्षा करने के लिये एक देव पिशाच का रूप धारण कर हाथ में तलवार लेकर आया और कहने लगा कि तू तेरा धर्म छोड़ दे, नही तो मैं तेरे शरीर के टुकड़े–टुकड़े कर डालूंगा। यह सुनकर कामदेव किंचित् भी भयभीत न हुआ। शास्त्र कहते हैं कि पिशाच के शब्द सुनकर कामदेव श्रावक का एक रोम भी नहीं डिगा। उसे जरा भी भय का त्रास न हुआ। जरा विचार कीजिये कि कामदेव को भय नहीं हुआ? क्या उसके पास सम्पत्ति नहीं थी, जिसका उसे मोह न था? शास्त्र कहता है, उसके पास अठारह करोड़ सोनैया और साठ हजार गायें थीं। पिशाच के शब्द सुनकर वह श्रीमन्त और ठाठ–बाठ वाला कामदेव हंसता हुआ विचार कर रहा था कि हे भगवान्! यदि मैंने धर्म और आत्मा को न जाना होता तथा तेरी शरण न पकड़ी होती तो आज मेरी क्या दशा होती? इस कठोर परीक्षा में मैं टिक सकता या

नहीं? परीक्षा उसी की होती है जो पाठशाला में पढ़ने जाता है। जो पाठशाला नहीं जाता, उसकी कौन परीक्षा करे? कामदेव भगवान् का भक्त और श्रावक था, अतः उसकी परीक्षा हुई है। वह भगवान् महावीर का धर्म अंगीकार किया हुआ था, अतः परीक्षा हुई। उसने ऐसा न सोचा कि महावीर का धर्म स्वीकार करने से मुझ पर आफत आई है, अतः हे महावीर, मेरी रक्षा करो, बचाओ।

आज तो भ्रम से उत्पन्न डाकिन भूतों का भी भय होता है लेकिन कामदेव सामने खड़े हुए भूत को देखकर भी नहीं डरा। पिशाच बड़ा भयानक रूप धारण किए हुए था। हाथ में तलवार लिए हुए था। टुकड़े करने की बात कह रहा था। फिर भी कामदेव का एक रोम भी विचलित न हुआ, यह कितने आश्चर्य की बात है? कदाचित् आप लोग यों दलील दें कि हम गृहस्थ हैं, अतः इतने मजबूत नहीं रह सकते। क्या कामदेव गृहस्थ नहीं थे? वे नहीं डरते थे तो आप क्यों डरते हो? यह कहो कि हमें अभी आत्मा और शरीर के तलवार म्यान के समान पृथक्–पृथक् होने में पूरा विश्वास नहीं है, कुछ संदेह है।

यह पिशाच मेरे शरीर के टुकड़े करना चाहता है किन्तु अनन्त इन्द्र भी मेरे टुकड़े नहीं कर सकते हैं, आत्मा हूं और मानता हूं कि टुकड़े शरीर के हो सकते हैं, आत्मा के नहीं। शरीर के टुकड़े होने से आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता। शरीर तो पहले से ही टुकड़ों से जुड़ा है।

मैं सब सन्त और सतियों से यह बात कहना चाहता हूं कि यदि हमारे श्रावकों में भूत पिशाच आदि का भय रहा तो यह हमारी कमजोरी होगी। विद्यार्थी के परीक्षा में फेल होने पर जैसे अध्यापक को शर्मिंदा होना पड़ता है, वैसे ही श्रावक श्राविकाओं में भय होने पर साधुओं को शर्मिन्दा होना चाहिए। भगवान् महावीर का धर्म प्राप्त करने के बाद भय खाने की बात नहीं रहती।

कामदेव ने हंसते हुए कहा– ले, शरीर के टुकड़े कर डाल। कामदेव मन में विचार करता है कि इस पिशाच ने धर्म नहीं पाया है, अतः यह ऐसा काम करना चाहता है। मैंने धर्म प्राप्त किया है। अतः इस अग्नि परीक्षा में उतर कर अपने धर्म को शुद्ध स्वच्छ बना लूं। जैसे इसने मुझ पर निष्कारण वैर भाव लाना अपना धर्म मान रखा है वैसे मैंने भी निष्कारण वैरियों पर क्रोध न करना अपना धर्म मान रखा है। अधर्म वैर करना सिखाता है और धर्म प्रेम करना। यदि मैं शान्त स्वभाव छोड़ कर अशान्त बन जाऊं तो इसमें और मुझ में क्या अन्तर होगा?

दैवी और आसुरी दो प्रकार की आकृतियां होती हैं। यहां इन दोनों की परस्पर लड़ाई हो रही है। गीता में इन दोनों प्रकृतियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है–

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ! संपदमासुरीम्।

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निर्दयता और अज्ञान ये छः आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं। जिसमें ये बातें पाई जाती हों, वह असुर है। दैवी प्रकृति के लक्षण निम्न प्रकार हैं।

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमकोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलु मार्दवं ह्रीरचापलम्।
तेजः क्षमा घृघृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
मवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य मारत।।

दैवी प्रकृति का पहला लक्षण अभय है। जो स्वयं निर्भय होता है, वही दूसरों को अभयदान दे सकता है। भय से कांपने वाला व्यक्ति दूसरों को क्या अभयदान देगा? कामदेव के समान आत्मा और शरीर को जुदा मानने और विश्वास करने वाले ही दूसरों को निर्भय बना सकते हैं। कामदेव ने अपना अक्रोध रूप धर्म नहीं छोड़ा। अक्रोध धर्म को छोड़ना ऐसा समझा जैसे कोढ़ रोग को लेकर अपना स्वास्थ्य दान करना, अथवा चिन्तामणि रत्न देकर बदले में कंकड़ लेना। कामदेव में ऐसी दृढ़ता थी लेकिन आज आप लोग दर–दर के भिखारी बन रहे हो। कहीं किसी देव को पूजते हो और कहीं किसी को। स्त्रियों में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। यदि हम साधु लोग भी मंत्र तंत्रादि का ढोंग करने लगें तो बहुत लोग हमारे पास उमड़ पड़ें किन्तु यह साधु का मार्ग नहीं है। हम तो भगवान् महावीर का धर्म सुनाते हैं। जिसे पसन्द पड़े, वह ले और जिसे पसन्द न पड़े वह न ले।

पिशाच ने मौखिक भय से कामदेव को डिगते न देख कर उसके शरीर के टुकड़े–टुकड़े कर डाले। कामदेव इस अवस्था में भी यह मानता रहा कि मुझे वेदना नहीं हो रही है किन्तु जन्म जन्म की वेदना जा रही है।

ऑपरेशन करते समय शरीर में वेदना होती है किन्तु जो लोग दृढ़चित्त होते हैं, वे उस समय भी प्रसन्न रहते हैं। जब डाक्टर ने मेरे हाथ का ऑपरेशन करने के लिए कहा तब मैंने अपना हाथ उसके सामने लम्बा कर

दिया। उसने क्लोरोफार्म सुंघाने के लिये कहा लेकिन मैंने सूंघने से इन्कार कर दिया। बिना क्लोरोफार्म के ही मेरा ऑपरेशन हुआ और जो वेदना हुई उसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक सहन किया। सुना है, फ्रांस में एक आदमी ने यह देखने के लिए कि नसें काटने पर कैसी वेदना होती है, अपनी नसें काट डालीं। नसें काटते–काटते वह मर गया मगर अन्त तक वह हंसता ही रहा।

कामदेव श्रावक भी शरीर के टुकड़े होते समय हंसता ही रहा। आखिर देव हार गया और पिशाच रूप छोड़ कर दैवी रूप प्रगट किया। कामदेव ने अपने अक्रोध धर्म के जरिये पिशाच को देव बना लिया। भगवान् महावीर देवाधिदेव हैं। अनन्त इन्द्र मिलकर भी उनका एक रोम नहीं डिगा सकते। आप ऐसे भगवान् के शिष्य हैं। अतः कुछ तो दृढ़ता रखिये। जो बात सागर में होती है, थोड़े बहुत रूप में वह गागर में भी होनी चाहिए, भगवान् का किंचित् गुण भी हम में आये तो हम निर्भय बन सकते हैं।

देवता कामदेव से कहने लगा कि इन्द्र ने आपके विषय में जो कुछ कहा था, वह ठीक निकला। मैंने आपके शरीर के टुकड़े क्या किये, मेरे पाप के ही टुकड़े कर डाले। जिस प्रकार लोहे की छुरी पारस के टुकड़े करते हुए स्वयं सोने की बन जाती है, उसी प्रकार आपकी धर्म दृढ़ता देख कर मेरे पाप विनष्ट हो गये हैं। मैं अब ऐसे काम कभी नहीं करूंगा।

कहने का सारांश यह है कि श्रेणिक राजा अनेक रत्न का स्वामी था मगर एक धर्मरूप रत्न की उसमें कमी थी। वह जलतारिणी, उपद्रवादिनाशिनी विद्याएं जानता था किन्तु धर्मरूप रत्न उसके पास न था और इसी से वह अनाथ था।

आज अनाथ उसे कहा जाता है जिसका कोई रक्षक न हो, जिसे कोई खाने पीने की वस्तुएं देने वाला न हो। और जिसका कोई रक्षक हो तथा खाने पीने की वस्तुएं देने वाला हो, वह सनाथ गिना जाता है। किन्तु महानिर्ग्रंथ अध्ययन नाथ और अनाथ की व्याख्या कुछ और प्रकार से करता है, यह बात अवसर होने पर बताई जायेगी। सुदर्शन चरित्र––

तिनपुर सेठ श्रावक दृढ़ धर्मी, यथा नाम जिनदास।
अर्हद्दासी नारी खासी रूप शील गुणवान रे।।धन0।। 5।।
दास सुभग बालक अति सुन्दर गौएं चरावनहार।
सेठ प्रेम से रखे नेम से करे साल संभाल रे।।धन0।। 6।

कथा में सुदर्शन का जो पूर्व भव का चरित्र बताया गया है, उससे अपने चरित्र को सुधारने की शिक्षा लेनी चाहिए। सुदर्शन के परिचय के साथ

उसके मां बाप का भी परिचय दिया गया सो तो अच्छी बात है मगर उसके पूर्व भव का परिचय देना आजकल के तरुण युवकों को अच्छा नहीं लगता। आज के बहुत से युवकों को पूर्वभव की बातों पर विश्वास नहीं बैठता। उन्हें विश्वास हो या न हो किन्तु यह बात निश्चित है कि पूर्वभव है, पुनर्जन्म है। शास्त्रीय पुराणों के साथ साथ पुनर्भव की पुष्टि के लिए कई प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिले हैं कई बच्चों को जातिस्मरण ज्ञान हुआ है और उन्होंने अपने पूर्वजन्म के हालात बताये हैं।

चम्पा नगरी में जिनदास नाम का एक सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम अर्हद्दासी था। दोनों की जोड़ी कैसी थी, इसका वर्णन है मगर अभी कहने का समय नहीं है। जहां एक अंग में धर्म हो और दूसरे में न हो, वहां जीवन अधूरा रहता है। आपके दोनों हाथ हैं और इनकी सहायता से आप सब काम कर सकते है, फिर भी आपने विवाह किया है, दो हाथ के चार हाथ बनाये हैं। विवाह करके आप चतुर्भुज भगवान् बन गये हैं। चतुर्भुज भगवान् को भी कहते हैं। अर्थात् विवाह करके आदमी अपूर्ण से पूर्ण बन जाता है। गृहस्थ जीवन विवाह करने से पूर्ण बनता है। यदि कोई विवाह करके चतुर्भुज के बजाय चतुष्पद बन जाय तो कैसा रहे? बहुत से लोग विवाह करके जो काम अकेले से शक्य न था उसमें पत्नी की सहायता से सफल हो गये। भगवान् में लीन हो जाओ, यह चतुर्भुज बनना है और यदि ऐसा न करके संसार के विषय विकार या भोगविलास में ही फंसे रहे तो चतुष्पद बन जायेंगे।

जिनदास और अर्हद्दासी धर्म के काम इस प्रकार करते थे मानों ईश्वर के अवतार हों। एक दिन अर्हद्दासी के मन में विचार हुआ कि आज हम दोनों इस घर में धर्म करने वाले हैं, मगर भविष्य में हमारे पश्चात् कौन धर्म करेगा? हमारे धर्म का उत्तराधिकारी कोई होना चाहिए। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में धर्म की लगन और श्रद्धा अधिक होती है। अर्हद्दासी इस चिन्ता में डूब गई। चिन्तावस्था में सब कुछ बुरा लगने लगता है। बाहर से सेठ आये और सेठानी से पूछा कि आज उदास क्यों बैठी हो? सेठानी ने चिन्ता का कारण व्यक्त नहीं किया। अपने भावों को छिपाये रही। सेठ उसकी चिन्ता मिटाने और प्रसन्न करने के लिए उसे बाग बगीचे में ले गये, खेल तमाशे दिखाये किन्तु कोई परिणाम न निकला। सेठानी की चिन्ता न मिटी।

बुद्धिमान लोगों का कहना है कि स्त्री को मुर्झाई हुई न रखना चाहिए। स्त्री को मुर्झाई हुई रखना अपना अंग को ही मूर्झित रखना है। सेठ ने सेठानी को राजी रखने के अनेक प्रयत्न किए मगर सब व्यर्थ गये। अंत में

सेठ ने सोचा कि दर्द कुछ और है और इलाज कुछ और हो रहा है। सेठानी से चिन्ता का कारण पूछा। सेठानी से अब न रहा गया। विचार करने लगी कि मेरे पति मेरे सुख दुःख के साथी हैं, अतः इनके सामने अपनी चिन्ता प्रकट करनी चाहिए। सेठानी ने कहा, मुझे कपड़े लत्ते और गहने आभूषण की चिन्ता नहीं है। जो स्त्रियां ऐसी चिन्ता करती हैं, वे जीवन का अर्थ नहीं समझतीं। मुझे तो यह चिन्ता है कि आपके जैसे योग्य पति के होते हुए भी हमारे घर में हमारा उत्तराधिकारी घर का रखवाला नहीं है। मैं अपना कर्त्तव्य पूरा न कर सकी। कुलदीपक के बिना सर्वत्र अंधेरा है।

सेठानी का कथन सुनकर सेठ विचार करने लगे कि मैं जिनभक्त हूं। संतान प्राप्ति के लिए नहीं करने योग्य काम मैं नहीं कर सकता। योग्य उपाय करना बुद्धिमानों का काम है। सेठानी से कहा—प्रिये! हम लोग जिनेश्वर देव के भक्त हैं। पुत्र होना, न होना हमारे हाथ की बात नहीं है। यह बात भाग्य के अधीन है। ऐसी चिन्ता करना अपने नाम को लजाना है। अतः चिन्ता छोड़ कर अपनी संपत्ति दान आदि कामों में लगाओ, जिससे संतान विषयक अन्तराय टूटनी होगी तो टूट जायेगी। हमारा धन किसी अयोग्य हाथ में न चला जाय, अतः अपने हाथों से ही पात्र कुपात्र का ख्याल रख कर दान दें। सेठ ने सेठानी की चिन्ता मिटा दी और दोनों पहले की अपेक्षा अधिक धर्मकरणी करने लगे। इनके घर में रहने वाला सुभगदास ही भावी सुदर्शन है। दास क्या करके सुदर्शन बनता है, इसका विचार आगे।

राजकोट, 8–7–36 का व्याख्यान

9 : श्रेणिक को धर्म प्राप्ति

"श्री महावीर नमूं वरनाणी.......।"

यह चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की प्रार्थना है। एक एक तार को सुलझाते सुलझाते सारा गुच्छा सुलझ जाता है और एक एक के उलझते सारी वस्तु उलझ जाती है। यह आत्मा इस संसार में उलझ रहा है। इसको सुलझाने तथा सत्य सरल बनाने का मार्ग परमात्मा की प्रार्थना करना है। भक्तिमार्ग आत्मा की उलझन मिटा देता है।

अब हम यह देखें कि आत्मा की उलझन कौन सी है? आत्मा द्रव्य को भूल कर पर्याय की कद्र करता है, यही इस की उलझन है। आत्मा घाट तो देखता है मगर जिस सोने का वह घाट बना है उसको नहीं देखता। सोने की कद्र नहीं करता, सोने के बने हुए विविध प्रकार के घाट (रचनाविशेष) की कद्र करता है। संसार व्यवहार में भी यदि कोई सोने को न देख कर केवल घाट को ही देखे और बनावट के आधार से ही क्रय विक्रय कर ले तो उसका दिवाला निकल जायेगा। चतुर व्यक्ति घाट की तरफ गौण रूप से देखेगा। उसकी नजर सोने की तरफ होगी कि यह सोना कितना शुद्ध है। आप लोग भी दागीने खरीदते वक्त केवल डिजाइन (घाट) की तरफ नहीं देखेंगे किन्तु सोने के टंच देखोगे। द्रव्य की तरफ नजर रखोगे। वस्तु का मूल्य द्रव्य के आधार पर होता है। बनावट मुख्य आधार नहीं होती, जबकि बनावट भी देखनी पड़ती है। बनावट का ख्याल न रखने से घर की श्रीमती जी के नापसन्द करने पर वापस बाजार का चक्कर लगाना पड़ता है।

ज्यों कंचन तिहुं काल कहिजे, भूषण नाम अनेक।
त्यों जग जीव चराचर योनि, है चेतन गुण एक।।

ज्ञानी कहते हैं कि केवल पर्याय की तरफ मत ख्याल रखो मगर द्रव्य को भी देखो। कहा है–

जिस प्रकार सुवर्ण हर समय सुवर्ण ही कहा जाता है चाहे उसके बने आभूषणों के कितने ही नाम क्यों न रख लिये गये हों, उसी प्रकार चाहे जिस योनि का जीव हो किन्तु आत्मा सब में समान है। जीव की पर्याय कोई भी हो, चाहे देव हो, मनुष्य हो, तिर्यंच हो, नारक हो, सब में आत्म समान है। आपने देव और नारक जीवों को आंखों से नहीं देखा है, शास्त्र में सुना है। किन्तु मनुष्य और तिर्यंच जीवों को प्रत्यक्ष देख रहे हो। ये सब पर्याय है। आत्मा की यही भूल है कि वह इन पर्यायों को देखता है मगर इन में जो चेतन द्रव्य रहा है, उसकी तरफ लक्ष्य नहीं देता। स्त्री जैसे पीतल के दागिने खरीद कर अपनी भूल कर पछताती है, उसी प्रकार पर्याय का ख्याल करने वाला द्रव्य की कद्र नहीं करके पछताता है।

आत्मा इस प्रकार की भूल न करे, अतः ज्ञानियों ने अहिंसा व्रत बतलाया है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रत इसी के लिए हैं। अहिंसा व्रत में यही बात है कि अपनी आत्मा के समान सब जीवों को मानो। 'अप्पसम मनिज्जा छप्पि कायं" छहों काया के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानो। पर्याय के कारण भेद मत करो। जब तक अपनी आत्मा के समान सब जीवों का नहीं माना जाता, तब तक अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। जिसे पूर्ण अहिंसा का पालन करना होगा, उसे पर्याय की तरफ कतई ख्याल न रख कर केवल शुद्ध चेतन रूप द्रव्य का ख्याल रखना होगा। भगवद्गीता में भी कहा है कि–

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः।।

पंडित अर्थात् ज्ञानी, ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल सब पर नजर रखते हैं। सब में शुद्ध चेतन द्रव्य को देखते हैं। उनकी विविध प्रकार की शुद्ध अशुद्ध खोलियों का ख्याल नहीं करते। सब जीवों की समान रूप से सेवा करते हैं। पर्याय की तरफ देखने की अपील को मिटाने से आत्मा परमात्मा बन जायेगी। जो भगवान् महावीर को मानता है, उसे मनुष्य, स्त्री, बालक, वृद्ध, रोगी, निरोगी, पशु–पक्षी, सांप, बिच्छू, कीड़ी, मकोड़ी आदि योनियों का ख्याल किये बिना सब की समान रूप से रक्षा करनी चाहिए। जो ऐसा नहीं मानता वह भगवान् महावीर को भी नहीं मानता। महावीर को मानना उनकी वाणी को न मानना, यह नहीं हो सकता। भगवान् स्वयं कहते हैं कि चाहे कोई व्यक्ति मेरा नाम न ले किन्तु वह यदि मेरी वाणी को मानता है मेरे कथनानुसार अपनी आत्मा के समान सब जीवों को मानता है तो वह मुझे

प्रिय है। वह मेरा ही है। जो छः काय के जीवों को आत्मतुल्य नहीं मानता, वह मेरा नाम लेने का भी अधिकारी नहीं है।

आप से अधिक न बन सके तो कम से कम छहों कायों के जीवों को खुद की आत्मा के समान मानिये। पर्याय दृष्टि गौण करके द्रव्य दृष्टि को मुख्य बनाइये। सब की आत्मा समान है और आत्मा तथा शरीर अलग अलग हैं। गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपड़े उतार कर नये पहन लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़ कर नया शरीर धारण करता है। शरीर रूप पर्याय बदलता रहता है मगर आत्मा सब अवस्थाओं में कायम रहता है। कपड़े बदल लेने मात्र से मनुष्य नहीं बदल जाता। इसी प्रकार शरीर के बदल जाने से आत्मा नहीं बदल जाती। नाटक में पुरुष स्त्री का सांग बनाता है और स्त्री पुरुष का किन्तु सांग बदल लेने से न तो पुरुष स्त्री बन जाती है और न स्त्री पुरुष ही। साधारण मति वाले लोग सांग बदल जाने से भ्रम में पड़ जाते हैं किन्तु समझदार सूत्रधार ऐसे भ्रम में नहीं फंसता। सूत्रधार स्त्री वेषधारी पुरुष को उनके मूल नाम से ही पुकारता है। पोशाक के कारण उसकी असलियत को नहीं भुलाता। इसी प्रकार ज्ञानीजन पर्याय की तरफ न देख कर उसके भीतर रहे हुए द्रव्य को देखते हैं। पुट्ठा बदल लेने से पुस्तक नहीं बदलती। 'एगे आया' के सिद्धातानुसार सब आत्माएं समान हैं। अन्तर केवल पर्यायों और शरीरों का है। हमारी भूल का मूल कारण यही है कि शरीर के अनित्य होने से हम आत्मा को भी अनित्य मानने लग जाते हैं। आत्मा नित्य है। शरीर अनित्य है। आत्मा को नित्य मानने पर पर्यायें अपने आप जुदा मालूम होंगी और अनित्य भी मालूम होंगी।

उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन में यही बात बताई गई है। कल कहा था कि राजा श्रेणिक मगध देश का अधिपति था और प्रभूत रत्नों का स्वामी था। आगे कहा है कि–

प्रभूयरयणोराया सेणिओ मगहाहिवा।
विहार जत्तं निज्जाओ मंडिकुच्छिसि चेइये।। 2।।
नाणा दुम लयाइण्णा नाणा पक्खि निसेवियं।
नाणा कुसुम संच्छिन्नं उज्जाण नदणोवन।। 3।।

महाराजा श्रेणिक को सब रत्न मिले हैं मगर एक समकित रूप रत्न नहीं मिला है। तत्वज्ञान नहीं हुआ है। वे इसकी खोज में हैं।

आप लोग समकित रत्न को बड़ा मानते हो या मिट्टी के बने रत्न को? एक पैसा खो जाने पर आपको जितनी चिन्ता होती है, उतनी क्या समकित रत्न के खो जाने पर होती है? आप लोग 'हम गृहस्थ हैं' कहकर गिरने के स्थान पर भी चले जाते हैं। यह बात प्रत्यक्ष जानते हुये कि अमुक स्थान पर निरा ढोंग है, आप लोग अर्थ लाभ या कीर्ति लाभ की कामना से चले जाते हैं। क्या कामदेव श्रावक गृहस्थ नहीं था? वह भी गृहस्थ ही था। किन्तु उसके मन में समकित की कीमत इन रत्नों की अपेक्षा अधिक थी। आपके एक खीसे में रत्न हो और एक में कौड़ी। आप किस खीसे की अधिक संभाल करेंगे? यदि कोई कौड़ी वाले खीसे की अधिक संभाल करे तो आप उसे महामूर्ख समझोगे। आप लोगों में यदि यह समझ आ जाय कि समकित के रहते धन-धान्यादि रहे तो भले रहे किन्तु समकित के जाते इनका रहना बेकार है, तो कितना अच्छा हो। धन-धान्यादि और समकित दोनों में से यदि किसी एक के जाने का समय आवे तो धन-धान्यादि को जाने देना चाहिए मगर समकित को न जाने देना चाहिये। शास्त्र में कहा है- 'सदा परम दुल्लहा' श्रद्धा परम दुर्लभ है। दुःख इस बात का है कि ऐसे समय पर कमजोरी आ जाती है और मनुष्य बाह्य सम्पत्ति की रक्षा का विशेष ध्यान रखता है। कामदेव श्रावक में यही विशेषता थी कि वह शरीर तक के जाने पर भी अपने धर्म से न डिगा और अडोल रहा।

श्रेणिक राजा को समकित रत्न मिल गया था, अतः शास्त्र में उसकी भावी गति का वर्णन है। यदि समकित प्राप्त न होता तो न मालूम क्या गति लिखी जाती और लिखी जाती या न लिखी जाती, इसका भी पता नहीं क्योंकि शास्त्रकार धर्ममार्ग पर आये हुए या आने वालों का ही शास्त्र में जिक्र किया करते हैं। प्रसंग में दूसरों का वर्णन आये, यह दूसरी बात है। श्रेणिक को केवल समकित रत्न ही मिला था, श्रावकपन प्राप्त नहीं हुआ। फिर भी वह भविष्य में पद्मनाथ नामक तीर्थंकर होगा। आप लोग धर्म क्रियाएं करते हैं किन्तु यदि दृढ़ श्रद्धा विश्वास के साथ करो तो मोक्ष के लिए उपयोगी ेगी। बिना समकित या श्रद्धा से की हुई क्रियाएं ऐसी ही हैं, जैसे कि बिना ंक वाली बिंदिया। बिना अंक वाली बिंदी किस काम की? क्रोध, मान और लो को हल्का बनाकर अन्तरात्मा में जागृति लाओ और धर्म-क्रियाएं करो तो आनन्द ही आनन्द है।

श्रेणिक राजा यद्यपि धर्म क्रियाएं न कर सका मगर वह तत्व का जिज्ञासु था। उसकी रानी चेलना राजा चेडा की पुत्री थी। चेडा राजा के सात पुत्रियां थी। सातों ही सतियां हुई हैं। चेलना के रग-रग में धर्म भावना भरी हुई थी। चेलना इस बात की फिक्र में लगी रहती थी कि मेरे पति को कब और किस प्रकार समकित रत्न प्राप्त हो? मैं कब समकितधारी धर्मात्मा राजा की रानी कहाऊं? इधर श्रणिक राजा यह सोचा करता था कि मेरी रानी यह धर्म का ढोंग छोड़ कर कब मेरे मनमाने मौज मजा उड़ाये। दोनों की अलग अलग इच्छाएं थीं। कभी कभी श्रेणिक की तरफ से चेलना के कर्म की मोटी परीक्षा भी हुआ करती थी। जो धर्म पर दृढ़ रहता है, वह अपना सिर तक दे देता है मगर धर्म को नहीं छोड़त्ता। दोनों में धर्म संबंधी चर्चा भी हुआ करती थी किन्तु वह चर्चा कभी क्लेश या मनमुटाव का रूप धारण न करती। दूसरे पर अपने धर्म का प्रभाव डालने के लिए बहुत नम्रता और सरलता की जरूरत होती है। झगड़े टंटे से दूसरे पर हमारे धर्म का प्रभाव न पड़ेगा। हमारे आचरण ही ऐसे होने चाहिएं कि जिन्हें देख कर सामने वाला हमारे धर्म को अपना ले। हमारे आचरण धर्म विरुद्ध हों और हम धर्म की बातें बघारते रहें तो कोई भी हमारे फन्दे में न फंसेगा। हमारा चरित्र ही जीता जागता धर्म का नमूना होना चाहिए।

चेलना के धर्म की परीक्षा करते-करते एक बार श्रेणिक जिद्द पर चढ़ गया। एक महात्मा को देखकर चेलना से कहने लगा, देखो तुम्हारे गुरु कैसे है, जो नीची नजर रख कर चलते हैं। कोई मार पीट दे तो भी कुछ नहीं बोलते। मेरे राज्य में यह कानून है कि कोई किसी को मार-पीट दे तो उसे सजा दी जाती है किन्तु ये तुम्हारे धर्म-गुरू तो फरियाद ही नहीं करते। गुरु के कायर होने से उसके अनुयायी में भी कायरता आती है। हमारे गुरु तो वीर होने चाहियें। ढाल तलवार बांध कर घोड़े पर सवार होने वाले बहादुर व्यक्ति हमारे गुरु होने चाहिएं।

चेलना ने उत्तर दिया कि मेरे गुरु कायर नहीं हैं किन्तु महान् वीर है। मै कायर की चेली नहीं हूं, वीर की चेली हूं। मेरे गुरु की वीरता के सामने आप जैसे सौ वीर भी नहीं टिक सकते। आपके बड़े-बड़े सेनापतियों को भी कामदेव जीत लेता है किन्तु हमारे गुरु ने इस कामदेव को भी अपने काबू में कर रखा है। जो लाखों को जीतने वाला है, उसको जीतने में कितनी वीरता की आवश्यकता होती है, इसका जरा विचार कीजिये। इनके सामने अप्सरा भी आ जाय तो ये विचलित नहीं होते। यह बात तो एक बच्चा भी समझ

सकता है जो लाखों को जीतने वाले को भी जीत लेता है वह कितना बहादुर होगा।

श्रेणिक राजा ने सोचा कि यह ऐसे मानने वाली नहीं है। इसके गुरु के पास एक वेश्या को भेजूं और वह उन्हें भ्रष्ट कर दे तब मानेगी। चेलना यह बात समझ गई कि इस वक्त धर्म की कठिन परीक्षा होने वाली है। वह परमात्मा से प्रार्थना करने लगी कि हे प्रभो! मेरी लाज तुम्हारे हाथ में है। प्रार्थना करके वह ध्यान में बैठ गई।

राजा ने वेश्या को बुला कर हुक्म दिया कि उस साधु के स्थान पर जाकर उसे आचरण भ्रष्ट कर आ। तुझे मुंह मांगा इनाम दिया जायेगा। वेश्या बन ठन कर साथ में कामोदीपक सामग्री लेकर साधु के स्थान पर गई। साधु ने स्त्री को अपने धर्म–स्थान पर देख कर कहा कि खबरदार, यहां रात के समय स्त्रियां नहीं आ सकतीं, ठहर भी नहीं सकतीं। यह गृहस्थ का घर नहीं है, धर्मस्थान है।

वेश्या ने उत्तर दिया महाराज, आपकी बात वह मान सकती है, जो आपकी भक्त हो। मैं किसी और ही मतलब से आई हूं। मैं आपको आनन्द देने आई हूं। यह कह कर वेश्या साधु के स्थान में घुस गई। साधु समझ गए कि यह मुझे भ्रष्ट करने आई है। यद्यपि मैं अपने शील–धर्म पर दृढ़ हूं तथापि लोकापवाद का ख्याल रखना जरूरी है। बाहर जाकर कहीं यह यों न कह दे कि मैं साधु को भ्रष्ट कर आई हूं। कथा में यह भी कहा है कि चेलना रानी ने इस बात की परीक्षा कर ली थी कि वह साधु लब्धिधारी है। उसने सब से यह कह रखा था कि कोई कच्चा साधु यहां न आये। ये साधु यहां आये थे, अतः उसे विश्वास था कि ये लब्धिधारी हैं।

महात्मा ने अपने प्रभाव से विकराल रूप धारण कर लिया। यह देखकर वेश्या घबराई। वह कहने लगी, महाराज, क्षमा करो। मैं अपनी इच्छा से नहीं आई हूं। मुझे तो श्रेणिक राजा ने भेजा है। मैं अभी यहां से भाग जाती मगर बाहर ताला लगा है, अतः विवशता है। आप तो चींटी पर भी दया करने वाले हो। मुझ पर दया करो।

उन महात्मा ने अपना वेष दूसरा ही बना लिया था। शास्त्र में कारणवश वेष बदलने का लिखा है। साधु लिंग को बदलना अपवाद मार्ग में `। चरित्र की रक्षा तो उस समय भी की जाती है।

इधर यह कांड हुआ, उधर श्रेणिक ने चेलना से कहा कि जिन गुरु की प्रशंसा के तुम पुल बांध रही थी, जरा, मेरे साथ चल कर उन के हाल तो

देखो। वे एक वेश्या को लिए बैठे हैं। रानी ने कहा, बिना आंखों से देखे मैं इस बात को नहीं मान सकती। अगर सचमुच मेरे गुरु वेश्या को लिये बैठे मिलेंगे तो मैं उन्हें गुरु नहीं मानूंगी। मैं सत्य की उपासिका हूं। राजा चेलना को साधु के स्थान पर आया और किवाड़ खोले। किवाड़ खोलते ही, वह वेश्या इस प्रकार भागी जैसे पिंजड़े का द्वार खुलने पर पक्षी भागता है। भागते हुए वह वेश्या कह गई कि महाराज! आप मुझ से दूसरे काम ले सकते हैं मगर ऐसे तपधारी महात्मा के पास कभी मत भेजिएगा। मैं इनकी दया के प्रभाव से ही अपने प्राण बचा पाई हूं।

रानी ने यह बात सुनकर राजा श्रेणिक से कहा कि महाराज, यह तो आपकी करतूत मालूम पड़ती है। मैं तो पहले ही कह चुकी हूं कि मेरे धर्मगुरु ऐसा कभी नहीं कर सकते। चलिए, उनके दर्शन करें। अन्दर सुविहित जैन वेष धारी साधु न थे किन्तु दूसरा वेष पहने हुए साधु थे। रानी ने कहा, मैं द्रव्य भाव दोनों दृष्टि से जो साधु होता है उसे सच्चा साधु मानती हूं। ये रजोहरण मुखवस्त्रिकाधारी नहीं हैं, अतः मेरे धर्म गुरु नहीं हैं। राजा बड़ा लज्जित हुआ। मन में विचार किया कि रानी ठीक कहती है। अब मुझे इस धर्म के तत्त्व जानने चाहिये। यहीं से राजा को जैन धर्म के तत्त्वों को जानने की रुचि जागृत हुई।

यद्यपि राजा श्रेणिक राजमहल में रहता था फिर भी वह जंगल की खुशनुमा हवा लेने के लिए जाया करता। वह यह बात समझता था कि ताजा हवा के बिना ताजा जीवन नहीं बनता। शास्त्र में विहार यात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसी यात्रा होती है, वैसा ही उसका फल भी होता है। धर्म यात्रा, धन यात्रा, शरीर यात्रा आदि जुदी जुदी यात्राओं का फल जुदा जुदा है। धर्म की यात्रा में धर्म की और धन की यात्रा में धन की रक्षा की जाती है। इसी प्रकार शरीर यात्रा का अर्थ शरीर की रक्षा करना है।

आज शरीर यात्रा के नाम से ऐसे काम किये जाते हैं कि जिन से शरीर अधिक बिगड़ता है। आप लोग बाहर घूमने जाते हो मगर आपकी यह यात्रा निकम्मी और व्यर्थ होती है। इसका जरा विचार करो। आज शहरों में बिना पाखाने के कोई मकान नजर नहीं आता, जब कि पुराने जमाने में अच्छे-अच्छे घरों में भी पाखाने नहीं होते थे। शक्ति की कमी के कारण मैं यहां गोचरी के लिये नहीं निकला हूं मगर दिल्ली में मैं गोचरी के लिये घूमा करता था। मैं जहां कहीं भी गया, पहले प्रवेश करते ही पाखाने के दर्शन होते थे। बम्बई, कलकत्ता की इस विषय में क्या दशा होगी, कहा नहीं जा सकता। एक मारवाड़ी भाई को यह गाते सुना है कि-

कलकत्ता नहीं जाना यारो, कलकत्ता नहीं जाना।
जहर खाय मर जाना यारो, कलकत्ता नहीं जाना।।
कल का आटा ,नल का पानी, चर्बी का घी खाना।यारो कल.।

यह भाई कलकत्ते जाने का इतना विरोधी क्यों बन गया, इसका कारण सोचिये। आज वेजिटेबल घी चला है। गाय रखने में कई लोग पाप मानते हैं मगर वेजिटेबल घी खाने में पाप नहीं मानते। जीवन यात्रा को लोग भूल गये हैं। जीवन नष्ट करने की सामग्री बढ़ रही है।

राजा श्रेणिक जीवन यात्रा के कामों को नहीं भूला था, अतः वह विहार यात्रा के लिए निकला। बहुत से लोग कहते हैं, हम शास्त्र क्या सुनें, उसमें तो तप करके शरीर सुखाने की बातें लिखी हैं। मगर यह बात नहीं है। शास्त्रों में इह लोक और परलोक तथा शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति की बातें है। किसी शास्त्र-विशारद गुरु से शास्त्र सुने जायं तब उनके कान खुलें। यद्यपि शास्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मुक्ति है, तथापि मुक्ति के लिए उपयोगी जिन जिन बातों की आवश्यकता होती है उनका विशद वर्णन शास्त्रों में है। आप लोग आम के फल खाते हो किन्तु बिना वृक्ष के फल नहीं होता। फल के लिए वृक्ष, डाली, पत्ती आदि पर भी ध्यान देना होगा। संवर और निर्जरा से ही आत्मा का कल्याण होता है, यह बात ठीक है किन्तु इन से संबंधित बातों पर भी शास्त्रकारों ने विचार किया है। शरीर धर्मकरणी करने में मुख्य साधन है और इसलिए राजा श्रेणिक विहार यात्रा घूमने के लिए निकला। ग्राम और और शहर के भीतरी भाग की अपेक्षा उनके बाहर निकलने पर हवा बदल जाती है। ग्राम शहर की गन्दगी बाहर नहीं होती। शास्त्र में हवा के सात लाख भेद बताये गये हैं प्रत्येक भेद के साथ प्रकृति का जुदा-जुदा संबंध है। समुद्री हवा और द्वीप की हवा का गुण अलग-अलग है। इसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधोदिशा की हवाओं के गुण-धर्म जुदा-जुदा हैं और मनुष्य पशु पक्षियों पर उनका असर भी जुदा-जुदा होता है। जो वायु विशारद होता है वह हवा का रुख देखकर भविष्य की बातें कह सकता है। बिना सोचे यह कभी न कह डालना चाहिए कि शास्त्रों में तो केवल मुक्ति का ही वर्णन है।

श्रेणिक राजा नगर से निकल कर विहार यात्रा के लिए मंडिकुक्षि बाग में आया। शास्त्र के कथनानुसार वह बाग नन्दनवन के समान था। में उसके वृक्ष, फल, फूल, पत्तों आदि का वर्णन है जो यथावसर बताया । सुदर्शन चरित्र-

दास सुभग बालब अति सुन्दर गौएं चरावन हार।
सेठ प्रेम से रखे नेम से करे साल–संभाल।।धन।।।। 6।।
एक दिन जंगल में मुनि देखे, तन मन उपज्यो प्यार।
खड़ा सामने ध्यान मुनि में, बिसर गया संसार रे।।धन।।

कल बताया गया था कि सेठानी को पुत्र की चाहना थी। किन्तु पुत्र प्राप्ति के लिए उन्होंने अपना धर्म कर्म नहीं छोड़ा था। धर्म पर कलंक लगे ऐसे काम नहीं किये। अरणक श्रावक को धन की जरूरत थी, अतः वह जहाज लेकर विदेश गया। समुद्र में एक देव ने आकर उसे कहा कि अपना धर्म छोड़ दे अन्यथा जहाज डुबो दूंगा। अरणक ने जहाज डूब जाना मंजूर किया मगर धर्म को न छोड़ा। पहले के श्रावक धर्म पर बहुत दृढ़ रहते थे।

जिनदास सेठ के यहां गौएं भी थीं। वह उनकी रक्षा और पालन–पोषण, अपने शरीर के रक्षण–पोषण की तरह करता था। गायों के लिए प्राचीन भारतीयों की कैसी दृष्टि थी, यह बात सब जानते हैं। कृष्ण महापुरुष थे, यह बात सब को मंजूर है। कृष्ण स्वयं हाथ में डंडा लेकर गायें चराया करते थे। गायों का महत्त्व समझने के लिए यह बात बड़े महत्त्व की है।

श्री उपासकदशांग सूत्र में वर्णित दशों श्रावकों के यहां हजारों की तादाद में गायें थीं। उसका जीवन गौओं की सहायता के बिना नहीं चल सकता था। विवाह में भी गो–दान दिया जाता था। गौ के बिना जीवन पवित्र नहीं रह सकता। अमेरिका निवासी लोग गौ की उपयोगिता समझ गये हैं। गौ शब्द का अर्थ पृथ्वी भी होता है। पृथ्वी जैसे सब का आधार है, वैसे गाय भी मनुष्य जीवन का आधार है। यह बात ध्यान में रखकर पृथ्वी का नाम भी गौ रखा गया है। पुष्टिकारक खाध गाय से ही मिलता है। आज हम कितने पतित हो गए हैं कि ऐसे महान् उपकारक पशु की रक्षा करने में भी असमर्थ बन गये हैं।

जिनदास ने अपनी गायों की देखभाल करने के लिए सुभग नामक एक ग्वाल पुत्र को रखा। सुभग को जिनदास आत्म तुल्य मानता था। सुभग प्रतिदिन गायों को जंगल में चराने ले जाता और संध्या को वापस ले आया करता था।

आज गायों के लिए गोचर भूमि की चिन्ता कौन करे? वकील लोग अन्य कामों के लिए तैयार हो जाते हैं मगर इस काम के लिए कौन तैयार हो?

वकील लोग गायें रखते ही नहीं। अतः उन्हें क्यों चिन्ता होने लगी? जो लोग गायें रखते हैं, उन्हें फरियाद करना नहीं आता और जिन्हें अपने हकों की रक्षा के लिए फरियाद करना आता हैं, वे गायें ही नहीं रखते। आज गोचर भूमि की बहुत तंगी हो रही है और इससे गो–धन कमजोर हो रहा है। कुछ समय पहिले तक जंगल प्रजा की चीज माना जाता था। प्रजा को उसमें पशु चराने और लकड़ी आदि लाने का अधिकार था। अब तो जंगलात कानून लागू हो गया है, अतः गायों को खड़ी रहने के लिए भी जगह नहीं है।

सेठ जिनदास सुभग के खाने–पीने, ओढ़ने–बिछाने आदि का ख्याल रखते थे। उसे शीत, ताप और वर्षा से बचाने का भी प्रबन्ध करते थे। मुसलमानी मजहब में कहा गया है कि जिस गृहस्थ के घर में मनुष्य या पशु पक्षी दुःखी हों वह गृहस्थ पापी है। अनेक आश्रित प्राणियों के सुख दुःख का ख्याल रखना परम कर्त्तव्य है। आजकल पोशाक, फर्नीचर, मोटर, घोड़ा, गाड़ी आदि की जितनी संभाल रखी जाती है, उतनी अपने आश्रित मनुष्यों और पशुओं की नहीं रखी जाती। आश्रितजनों को क्या–क्या कष्ट हैं, उनके कुटुम्ब का भरण पोषण ठीक तरह से होता है या नहीं आदि बातों का ध्यान यदि मालिक लोग रखा करें तो आपसी संबंध मीठा हो जाय।

प्रेम के जरिये किसी से काम लेना अच्छा तरीका है। मार–पीट कर जबर्दस्ती काम लेना बेहूदा तरीका है। मारपीट कर किसी को नहीं सुधारा जा सकता। खुद के लड़के को भी मारपीट कर नहीं सुधारा जा सकता, यह बात अब लोग समझने लग गये हैं। पढ़ाने लिखाने के लिये लड़कों को मारना–पीटना अब अच्छा नहीं माना जाता। स्कूलों और पाठशालाओं में इसकी मुमानियत होती जा रही है।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज कहा करते थे कि मनुष्य को न तो पानी की तरह अति नम्र होना चाहिये और न पत्थर के समान कठोर ही। किन्तु बीकानेरी मिश्री के कुंजे के समान होना चाहिये। मिश्री को यदि कोई सिर में मारे तो उसे चोट लगेगी और खून आ जाएगा। लेकिन यदि कोई मिश्री को मुख में रखेगा तो वह पानी–पानी होकर मिठास देगी। मनुष्य को व्यवहार में ऐसा ही बनना चाहिये।

जिनदास सुभग के साथ इसी प्रकार का वर्ताव करता था। वह उसे सुधारने का प्रयत्न करता था। सुभग भी उसे अपने पिता के समान मानता

था और कभी–कभी जिनदास को धर्म क्रियाएं करते हुए देखा करता था। वह अभी धर्म के समीप नहीं आया है। एक दिन वह जंगल में गायें चरा रहा था कि वहां एक महात्मा को वृक्ष के नीचे ध्यान लगा कर बैठे हुए देखा। महात्मा और सुभग का संगम किस प्रकार हुआ यह बात अवसर आने पर बताई जायेगी। अभी तो यह ध्यान में रखा जाय कि महात्माओं के दर्शन से कैसा चमत्कारिक अवसर होता है। मनुष्य कुछ का कुछ बन जाता है।

राजकोट, 14–7–36 का व्याख्यान

धर्म और धर्मनायक

धर्म और धर्म नायक

किसी भी मकान या महल की मजबूती उसकी पुख्ता नींव पर अवलंबित है। इसीलिए मकान बनाते समय गहरी से गहरी और पुख्ता से पुख्ता नींव डाली जाती है।

मानव–जीवन यदि मकान के समान है, तो धर्म उसकी नींव है। बिना धर्म के मानव जीवन टिक नहीं सकता। अर्थात् धर्म के अभाव में जीवन, मानव जीवन न रहकर पाशविक जीवन बन जाता है। अतः जीवन को उत्तम मानवीय जीवन बनाने के लिए धर्म रूपी नींव गहरी और सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता है। धर्म रूपी नींव यदि कच्ची रहेगी तो मानव जीवन रूपी मकान शंका, कुतर्क, अज्ञान, अनाचार और अधर्म आदि के तूफानों से हिल जाएगा और उसका पतन हुए बिना न रहेगा।

मकान की नींव मजबूत बनाने के लिए जैसे पानी की, चूने की, रेत की, सीमेंट की आवश्यकता है, उसी प्रकार पलस्तर की और रंग रोगन आदि की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार मानव–जीवन रूप मकान की नींव की मजबूती के लिए सभ्यता, संस्कृति, नागरिकता, राष्ट्रीय भावना, धार्मिकता, कुलीनता, सामूहिकता तथा एकता आदि लौकिक धर्मों के पालन की सर्वप्रथम आवश्यकता है। तत् पश्चात् धर्म को जीवन धर्म बनाने के लिए विचारशीलता, क्रियाशीलता आदि लोकोत्तर धर्मों के पालन की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार जब लौकिक और लोकोत्तर धर्मों का ठीक तरह समन्वय करके पालन किया जाता है तब मानव जीवन का असली उद्देश्य मोक्ष सिद्ध होता है।

लौकिक धर्मों का भलीभांति पालन किये बिना लोकोत्तर धर्मों का पालन करना ऐसा ही है, जैसे सीढ़ियों के बिना ऊंचे महल में प्रवेश करने का

निष्फल प्रयास करना। लौकिक धर्म से शरीर की और विचार की शुद्धि होती है और लोकोत्तर धर्म से अन्तःकरण एवं आत्मा की शुद्धि होती है। इस प्रकार मनुष्य लौकिक और लोकोत्तर धर्म का पालन करके अपने जीवनधर्म, आत्मिक धर्म की शुद्धि और अन्त में सिद्धि का लाभ प्राप्त करता है।

जीवन–धर्म की शुद्धि और सिद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से शास्त्रकारों ने लौकिक और लोकोत्तर धर्म रूपी दस प्रकार के धर्मों की योजना की है। यही नहीं, चूंकि धर्मनायकों के बिना धर्म टिक नहीं सकता, अतएव दस धर्मों के अनुरूप दस प्रकार के धर्मनायकों की भी सुन्दर योजना की गई है।

जैन सूत्र स्थानांग ✡ (ठाणांग सुत्त) नामक तीसरे अंगसूत्र में निम्नलिखित दस धर्मों का विधान किया गया है:–

(1) ग्राम धर्म (2) नगरधर्म (3) राष्ट्रधर्म (4) व्रतधर्म (5) कुलधर्म (6) गणधर्म (7)संघधर्म (8) सूत्रधर्म (9) चारित्रधर्म (10) अस्तिकाय धर्म।

इन दस धर्मों का यथावत् पालन करने के लिए तथा अन्य प्रकार की नैतिक एवं धार्मिक व्यवस्था की रक्षा करने के लिए दस प्रकार के धर्मनायकों की योजना की गई है। धर्मनायकों के नाम इस प्रकार हैं–

(1) ग्रामस्थविर (2) नगरस्थविर (3) राष्ट्रस्थविर (4) प्रशास्ता स्थविर (5) कुलस्थविर (6) गणस्थविर (7)संघ स्थविर (8) जाति रथविर (9) सूत्र स्थविर (10) दीक्षा स्थविर।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं दस धर्मों और धर्मनायकों की व्याख्या की जायेगी।

✡ देखो ठाणांगसुत्र, दसवा ठाणा

1 : ग्राम धर्म

(गाम धम्मे)

धर्म का बीजारोपण करने के लिए मानव जाति को ग्रामधर्म रूपी भूमि की जोत करनी चाहिए। ग्रामधर्म की भूमिका में से ही सभ्यता, नागरिकता और राष्ट्रीयता आदि अनेक धर्मांकुर फूटते हैं।

जहां साधारण जन–समूह संगठित होकर अमुक मर्यादित संख्या में वसता हो, उस बस्ती को सामान्यतया 'ग्राम' कहा जाता है। ग्राम का जनसमूह जब अधिक संख्या में बढ़ जाता है और साथ ही उसमें कुछ और ऊपरी विशेषताएं आ जाती हैं, तब वह ग्राम, ग्राम न रहकर 'नगर' बन जाता है। ग्रामों को लक्ष्य करके ग्राम धर्म का विधान किया गया है। नगरों के लिए एक जुदे 'नगर धर्म' की योजना की गई है।

जिस धर्म का पालन करने से ग्राम्य जीवन की रक्षा होती है तथा उसका विकास होता है, वह साधारणतया ग्राम धर्म कहलाता है।

ग्राम में अगर चोरी होती हो, तो उसे रोकना, वेश्यागमन आदि दुराचार न होने देना, विद्वान पुरुषों के अनादर को रोकना, पशुहिंसा न होने देना, मुकदमेबाजी से होने वाली सम्पत्ति की हानि एवं पारस्परिक वैमनस्य का निवारण करना, गांव के मुखिया की आज्ञा शिरोधार्य करना, यह गांव का मुख्य धर्म है।

ग्रामधर्म मोक्ष की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, फिर भी वह जिस धर्म से मोक्ष प्राप्ति होती है, उस धर्म का आधार अवश्य है। अगर ग्रामधर्म व्यवस्थित न हो और इस कारण गांव में चोरी, लूटमार, वेश्यागमन, पशुहिंसा, अत्याचार, अनाचार आदि का दौर दौरा हो जाय तो ऐसे गांव में जाकर आत्मशोधक, आत्म साधना कैसे कर सकेगा? कदाचित् कोई आत्मशोधक

भूल से ऐसे गांव में जा पहुंचा हो और वहां चोर के अथवा ऐसे ही किसी अनाचारी पुरुष के घर का अन्न खा ले तो मानसशास्त्र के नियमानुसार उस दूषित अन्न का प्रभाव उसके मस्तिष्क पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

इसके अतिरिक्त जिस ग्राम में ग्रामधर्म का पालन नहीं होता, उसमें कोई सज्जन या साधु पुरुष निवास करके अपनी सज्जनता या साधुता की पूरी तरह रक्षा नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में कोई भी सज्जन पुरुष ऐसे दूषित ग्राम में स्थिर वास नहीं कर सकेगा और जब तक प्रत्येक गांव में कम से कम एक सन्मार्ग–प्रदर्शक–ग्रामनायक न होगा तब तक गांव वासियों में सद्धर्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न न हो सकेगी।

जहां सद्धर्म के प्रति अभिरुचि नहीं, वहां सभ्यता या संस्कृति की रक्षा भी नहीं होती। सभ्यता की रक्षा के लिए ग्राम धर्म की आवश्यकता होती है। क्योंकि सभ्यता का उद्‌भवस्थान ग्रामधर्म ही है। अतएव जहां ग्रामधर्म की रक्षा नहीं की जाती, वहां सभ्यता या संस्कृति की भी सुरक्षा नहीं हो सकती। अनार्य देशों में ग्रामधर्म के अभाव के कारण सभ्यता भी नहीं होती और इसी कारण असभ्य, अनार्य देश में साधु संतों के विहार का भगवान् ने निषेध किया है।

प्रत्येक गांव में सन्मार्गदर्शक अथवा मुखिया की मुख्यतया अत्यधिक आवश्यकता होती है। मुखिया पुरुष ही ग्राम निवासियों को धर्म अधर्म का, सत्य असत्य का, सुख दुःख का सच्चा ज्ञान कराता है और वही उन्हें सद्‌धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर चलाता है।

केशी श्रमण जैसे चार ज्ञान के स्वामी ने चित प्रधान जैसे सन्मार्गदर्शक की प्रेरणा से प्रदेशी राजा को सद्‌धर्म का उपदेश देकर धर्म का अनुरागी बनाया था।

आज हमारी दशा इसके बिल्कुल विपरीत है। आज हम लोग साधु–पुरुषों को, सद्‌धर्म का उपदेश देने की प्रेरणा देने के बदले, उनकी प्रशंसात्मक स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं और जब चित प्रधान के समान सन्मार्गदर्शक बनने का काम सिर पर आ पड़ता है तब उससे दूर दूर भागते हैं। यह हमारी अकर्मण्यता का सूचक है। सन्मार्गदर्शक बनने के योग्य व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए, सच्चे कर्मठ व्यक्ति बनने की परम आवश्यकता है।

जहां ग्रामधर्म जाग्रत होता है, वहां जीवनधर्म की भूमिका तैयार होती है। बीज बोने से पहले खेत जोतना जैसे आवश्यक होता है, उसी प्रकार

धर्म–बीज बोने के लिए मनुष्य को ग्रामधर्म की भूमिका तैयार करनी चाहिये। क्योंकि ग्रामधर्म की भूमिका से ही सभ्यता, नागरिकता और राष्ट्रीयता आदि धर्म के अंकुर फूटते हैं।

जैसे खेती का मूल खेत को जोतना है, उसी प्रकार धर्म का मूल ग्रामधर्म है। जब तक धर्मवृक्ष के ग्रामधर्म रूपी मूल को नीति के जल से सींचा नहीं जायेगा; तब तक सूत्रधर्म और चारित्रधर्म रूपी मधुर फल की आशा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार मधुर फल पाने से पूर्व माली को प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसी प्रकार धर्म वृक्ष में से सूत्रचरित्र धर्म रूपी मधुर फल पाने के लिए मानव समाज को प्रबल पुरुषार्थ करने की भी परम आवश्यकता होती है।

धर्मवृक्ष के ग्रामधर्म रूपी मूल को, नीति जल से नियमित सिंचन करके सुदृढ़ बना लेने के पश्चात् सूत्र चारित्र रूपी मधुर फल अवश्य प्राप्त किए जा सकते हैं।

2 : नगर धर्म

(नगर धम्मे)

नगरधर्म का यथोचित रूप से पालन करने के साथ ही साथ अपने आश्रित ग्रामधर्म की भी रक्षा करना नागरिकों का परम कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्यपालन करने में ही नागरिकों की नागरिकता की प्रतिष्ठा है।

जब ग्राम का विस्तार बढ़ जाता है, तब वह नगर के रूप में परिणत हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्राम नगर का ही एक भाग है। अतएव ग्राम का धर्म भी नगरधर्म गिना जाता है।

ग्राम और नगर का आपस में अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। नगर का प्रधान आधार ग्राम है। ग्राम के बिना नगर का जीवन नहीं टिक सकता। साथ ही नगर के बिना ग्राम की रक्षा भी नहीं हो सकती। अगर ग्राम अपने धर्म--ग्रामधर्म को भूल जाय और नगर अपने नगरधर्म का विस्मरण कर दे, तो दोनों का ही पतन अवश्यम्भावी है।

शरीर और मस्तिष्क का आपस में जितना घनिष्ठ संबंध है, उतना ही घनिष्ठ संबंध ग्रामधर्म और नगरधर्म दोनों का आपस में है। ग्राम–जन अगर शरीर के स्थान पर हैं तो नागरिक जन मस्तिष्क की जगह। जब शरीर स्वस्थ होता है तभी मस्तिष्क स्वस्थ रह सकता है, यह बात कौन नहीं जानता? यद्यपि मस्तिष्क शरीर के प्रमाण में छोटा है फिर भी समस्त शारीरिक कार्यो का संचालन मस्तिष्क से ही होता है। दैवयोग से अगर मस्तिष्क विक्षिप्त हो जाता है तो वह अपने साथ साथ सम्पूर्ण शरीर को भी हानि पहुंचाता है।

वर्तमान काल में नागरिकों की अवस्था–व्यवस्था बड़ी विकृत हो रही है। उन्हें अपनी रक्षा का भी भान नहीं है। उनका धार्मिक जीवन प्राय: नष्ट

भ्रष्ट हो रहा है। ग्रामधर्म को अपना आधार न मानकर ग्रामों की ओर अक्षम्य उपेक्षा का भाव धारण करके आज के नागरिक अपने समय, शक्ति और संपत्ति का, नाटक, सिनेमा, नाचरंग, फैशन आदि में दुरुपयोग कर रहे हैं। इससे अधिक और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो अपने धर्म कर्त्तव्य का पालन करने का बोध तक नहीं रहा।

आज के नागरिकों की स्थिति बहुत खराब है। इस स्थिति में उनसे ग्राम्यजनों की रक्षा की क्या आशा की जा सकती है? मस्तिष्क के अस्थिर हो जाने से जिस प्रकार शरीर को अवश्य ही हानि पहुंचती है, उसी प्रकार नागरिकों द्वारा अपना नगरधर्म भुला देने के कारण ग्राम्यजन अपना ग्रामधर्म भूलते जाते हैं।

नगरधर्म का यथोचित रूप से पालन करने के साथ ही साथ अपने आश्रित ग्रामधर्म की भी रक्षा करना नागरिकों का परम कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य पालन में ही नागरिकों की नागरिकता की प्रतिष्ठा है।

वर्त्तमान स्थिति में नागरिकों का मूल धर्म क्या है? इस प्रश्न का समाधान अपने ही दृष्टांत के द्वारा करता हूं।

आप लोगों ने मुझे आचार्य पद पर आसीन किया है। अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं आप लोगों को धर्मोपदेश देकर आचार में स्थिर करूं। अगर मैं निष्क्रिय होकर एक ओर बैठ जाऊं और आचार धर्म का उपदेश न प्रदान करूं तो आप मुझे क्या कहेंगे?

आप कहेंगे—आचार्य महाराज, आप आचारधर्म का उपदेश न देकर बैठे रहेंगे तो आचारधर्म का पालन किस प्रकार होगा? आपको आचारधर्म का उपदेश तो अवश्य देना ही चाहिये।

आपका यह कथन न्याययुक्त ही होगा। आप सबने मिलकर मुझे धर्म का आचार्य नियत किया है, अतएव आचारधर्म का उपदेश देकर मुझे अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिये। इसी कर्त्तव्यपालन में आचार्य पद का महत्व समाया हुआ है।

इसी प्रकार श्रावक के धर्म की रक्षा करना जैसे आचार्य का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार अपने आश्रित ग्राम्यजनों की रक्षा करना भी नागरिकों का परम कर्त्तव्य है।

आचार्य अगर लापरवाह एवं निष्क्रिय बना बैठा रहेगा तो श्रावकों और साधुओं के धर्म की रक्षा एवं वृद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार अगर नागरिक

लापरवाह और निकम्मे बन जाते हैं तो ग्राम्यजनों के कल्याण की बहुत ही कम संभावना हो सकती है।

आज राजनीतिक नेताओं में नागरिकों की ही संख्या अधिक है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक राजनीति नगर के हाथों में है। मगर नगरधर्म को भूल जाने के कारण, जो नागरिक धारासभाओं में या इसी प्रकार की किसी अन्य राजनीतिक सभा में चुने जाते हैं, वे अपने कर्त्तव्य का यथाविधि पालन करते हों यह बहुत कम देखा जाता है। जो सभ्य प्रजा के मत से चुने जाते हैं वे चुनाव से पहले तो बड़ी उदार और हितकर आदि प्रतिज्ञाएं करते हैं, परन्तु चुने जाने के बाद, उनमें से अधिकांश व्यक्ति कीर्ति, लोभ एवं स्वार्थ से प्रेरित होकर; प्रजाहित का घात करने वाले अनेक कानूनों का निःसंकोच समर्थन करते देखे जाते हैं। ऐसे लोग प्रजा के हित का संरक्षण करने के बदले प्रजाहित का भक्षण करने में अपनी सम्मति देकर प्रजाहित के विरोधी कानून बनाने में सरकार का साथ देते हैं।

प्रजाहित के प्रतिकूल कानून बनाते समय, जहां तक सम्भव हो, तीव्र से तीव्र विरोध करना, प्रजापक्ष के सदस्यों का नगरधर्म है। मगर आज इस नगरधर्म की ओर बहुत थोड़े लोगों का ही ध्यान है। यही कारण है कि नागरिक लोग अपने ही हाथ से प्रजाहित का घोर विघात कर रहे हैं।

कुछ नागरिकों में आज एक भ्रान्त धारणा घुसी हुई है। वे समझते हैं—'सरकार—राजा द्वारा घड़े हुए कानूनों का विरोध करना राजा—सरकार का विरोध करना है और शास्त्र की यही आज्ञा है कि राजा के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये।

जो लोग ऐसा तर्क उपस्थित करते हैं वे शास्त्र के वास्तविक रहस्य को नहीं समझते। शास्त्रकारों ने — **विरुद्धरज्जाइक्कम्मे** को दोष बतलाया है। इसका तात्पर्य है—राज्य के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये। अर्थात् राज्य द्वारा की हुई सुव्यवस्था का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इस सूत्र के विषय में सामान्य जनता में जो भ्रम फैला हुआ है वह 'राज्य' और 'राजा' शब्द के अर्थ में अन्तर न समझने के कारण है।

जो सामान्य ज्ञान के लोग हैं, वे राज्य और राजा को एक ही समझ बैठते हैं। यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। राज्य का अर्थ—देश की सुव्यवस्था है। राज्य अर्थात् देश की सुव्यवस्था का विरोध न करना, यह शास्त्र का है। मगर यदि राजा अनीति, अनाचार या स्वार्थ से राज्य व्यवस्था को करता है तो उसके विरुद्ध आन्दोलन करना जैन शास्त्रों के विरुद्ध नहीं

है। जैनशास्त्र ऐसे पवित्र नीति पूर्ण जन हितैषी आन्दोलनों का निषेध नहीं करते।

आज शराब, गांजा, भांग, अफीम आदि मादक पदार्थों पर सरकार अपना आधिपत्य रखती है। कल्पना कीजिए प्रजा ने मादक द्रव्यों से होने वाली हानियां समझ लीं और उनका त्याग किया तो प्रजा के इस त्याग से सरकार की आमदनी को धक्का पहुंचा। सरकार ने अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए एक नियम जारी किया कि प्रतिदिन प्रत्येक पुरुष को शराब का एक प्याला पीना अनिवार्य होगा। ऐसी स्थिति में प्रजा का कर्त्तव्य क्या होगा? सरकार का विरोध करना उचित नहीं है, ऐसा मानकर प्रजा क्या चुप बैठी रहेगी? क्या वह सरकार के इस अनीतिमय नियम को शिरोधार्य कर लेगी? कदापि नहीं। अगर प्रजा में नैतिकता की भावना विद्यमान है, अगर प्रजा में जीवन है, बल है, तो वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर सरकार का विरोध करेगी और उसका यह विरोध धर्म एवं नीति से संगत समझा जायेगा।

राज्य अथवा सरकार की ऐसी अनुचित आज्ञा का विरोध करना प्रजा तथा नागरिकों का विशेष कर्त्तव्य है। इतना ही नहीं, एक अनुचित कानून को हटाने के लिए, आवश्यकता पड़ने पर दूसरे कानूनों का विरोध करना भी प्रजा का कर्त्तव्य हो जाता है। क्योंकि प्रजाहित के विघातक कानून को स्वीकार कर लेने से प्रजा की भौतिक हानि ही नहीं होती वरन् प्रजा में नैतिक पतन का भी प्रवेश हो जाता है।

'विरुद्धरज्जाइक्कमे' अर्थात् 'राज्य के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये' जैनशास्त्र के इस आदेश का उल्लिखित अर्थ समझा गया होता तो आज जो लोग जैनधर्म को कायरों का धर्म कहते हैं, उनके मुंह पर सील लग गई होती। उन्हें ऐसा कहने का साहस ही न हुआ होता।

जैनधर्म का मुख्य सिद्धांत अहिंसावाद है। जैन अहिंसावादी होता है। अहिंसावादी कायर नहीं, वीर होता है। सच्चा अहिंसावादी एक ही पुरुष, अहिंसा की असीम शक्ति द्वारा रक्त की एक भी बूंद गिराये बिना, बड़ी से बड़ी पाशविक शक्तियों को परास्त करने की क्षमता रखता है। अहिंसा में ऐसी असीम और अमोघ शक्ति है।

इस अन्धानुकरणशील युग में अज्ञानी ग्राम्यजन, नागरिकों की भांति नाटक, सिनेमा, नाचरंग, फैशन आदि में समय, शक्ति और संपत्ति का अपव्यय करना सीख रहे है। उसका नतीजा हमारे सम्मुख यह है कि ग्रामों में भी विलासिता ने गरीबों को आमन्त्रित किया है और गरीबी के कारण जीवनदायक

घी, दूध आदि पदार्थ मिलना कठिन हो रहा है। यह अन्धनुकरणजन्य विलासिता का दुष्परिणाम ही है।

व्यक्ति समष्टि का एक अंग है। समष्टि अगर एक मशीन है तो व्यक्ति उसका एक पुर्जा है। समष्टि के हित में ही व्यक्ति का हित निहित है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह समष्टि के हित को सामने रखकर सत्प्रवृत्ति करे। इस प्रकार सत्प्रवृत्ति करने में ही मानव जाति का कल्याण है।

जो मनुष्य अपने और अपने माने हुए कुटुम्ब के हितसाधन में ही तत्पर रहता है और प्राणीमात्र के हित का विचार नहीं करता, वह नीतिज्ञ नहीं, नीतिघ्न है।

मानव स्वभाव सदा अनुकरणशील है। जैसे बालक अपने माता–पिता आदि का अनुकरण करता है, उसी प्रकार अशिक्षित या अर्धशिक्षित ग्राम्यजन, शिक्षित नागरिकों का अनुकरण करते हैं। माता पिता का भला या बुरा प्रभाव बालक पर पड़े बिना नहीं रहता है, उसी प्रकार नागरिकों की अच्छाइयों और बुराइयों का असर ग्राम्यजनों पर पड़े बिना नहीं रहता।

नगर निवासी जन यदि ग्राम्यजनों के हित को सामने रखते हुए नगरधर्म का यथावत् पालन करेंगे तो राष्ट्र का अधिक हित होने की सम्भावना की जा सकती है।
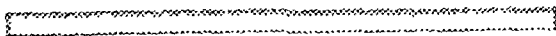
3 : राष्ट्रधर्म

(रट्ठ धम्मे)

जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी।

जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी हैं।

जब ग्रामों में ग्रामधर्म का और नगरों में नगर धर्म का यथोचित पालन होता है तब राष्ट्रधर्म की उत्पत्ति होती है। ग्राम में यदि प्रामाणिक मनुष्यों का निवास होगा तो नगर निवासियों को भी प्रामाणिक बनना पड़ेगा और नगर निवासी प्रामाणिक बनेंगे तो उनका प्रभाव सम्पूर्ण राष्ट्र पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

भारतवर्ष के अधोपतन का कलंक आज ग्रामीण जनता पर नहीं किन्तु नागरिकों के सिर पर थोपा जाता है। वास्तव में बात सच्ची भी है।

जब से भारतवर्ष का अधःपतन आरम्भ हुआ है, तब से अब तक का इतिहास देखने से मालूम होता है कि कुछ नागरिकों ने अपने नगरधर्म का पालन नहीं किया और इसी कारण राष्ट्रधर्म का लोप हो गया।

जयचन्द के जमाने से लेकर, मीरजाफर तथा उसके बाद, आज तक हम ऐसी ही दुरवस्था देखते आ रहे हैं।

बंगाल में 'ईष्ट इंडिया कम्पनी' के कार्यकर्त्ता अपनी कुटिलता से देश को दुःख दे रहे थे और नमक जैसी सर्वसाधारणोपयोगी वस्तु के ठेकेदार बनकर ऐसा अत्याचार कर रहे थे कि जिस किसी के घर में पांच सेर नमक निकल आता उसकी समस्त सम्पति जब्त कर ली जाती थी। यही नहीं, वे अपना व्यापार बढ़ाने के लिए तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए प्रसिद्ध एवं कुशल बुनकरों के हाथ के अंगूठे तक काट लेते थे ✡।

✡ देखो 'प्लासी का युद्ध' बंगाल बेहाल, नामक पुस्तकें।

जरा उस जमाने की ओर ध्यान दीजिए। उस समय अत्याचारों का प्रतीकार करना असंभव सा हो गया था। इसका प्रधान कारण यही था कि जगतसेठ अमीचन्द तथा महाराज नन्दकुमार जैसे प्रसिद्ध नागरिक अपने स्वार्थ के खातिर देशद्रोही बन गये थे।

भारत की बात जाने दीजिये। किसी दूसरे राष्ट्र के पतन के कारणों की खोज कीजिए। आपको मालूम होगा कि उस राष्ट्र के नागरिकों ने अपना नगरधर्म यथोचित रूप से पालन नहीं किया और इसी कारण उस राष्ट्र का अधःपतन हो गया।

आज मुट्ठीभर विदेशी चालीस करोड़ भारतवासियों पर शासन कर रहे हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि भारत के नागरिक नगरधर्म का पालन नहीं करते।

याद रखना चाहिये, जो नागरिक नगर धर्म का ठीक तरह से पालन नहीं करता वह, अपने राष्ट्र का अपमान करता है और दूसरे शब्दों में कहा जाय तो देशद्रोह करता है।

जब तक ग्राम्यजन ग्रामधर्म और नागरिक जन नगरधर्म के पालन करने का दृढ निश्चय नहीं कर लेंगे तब तक राष्ट्र का उत्थान होना असंभव प्रतीत होता है।

राष्ट्र शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रकारों ने बतलाया है कि जो प्राकृतिक मर्यादा से मर्यादित हो, एक ही जाति तथा एक ही सभ्यता के लोग जहां रहते हों, उस देश को राष्ट्र कहते हैं।

ग्रामों और नगरों का समूह भी राष्ट्र कहलाता है।

जिस कार्य से राष्ट्र सुव्यवस्थित होता है, राष्ट्र की उन्नति प्रगति होती है, मानव समाज अपने धर्म का ठीक ठीक पालन करना सीखता है, राष्ट्र की सम्पति का संरक्षण होता है, सुखशांति का प्रसार होता है, प्रजा सुखी बनती है, राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढ़ती है और कोई अत्याचारी परराष्ट्र, स्वराष्ट्र के किसी भाग पर अत्याचार नहीं कर सकता, वह कार्य राष्ट्रधर्म कहलाता है।

राष्ट्र के प्रत्येक निवासी पर राष्ट्रधर्म के पालन करने का उत्तरदायित्व है, क्योंकि एक ही व्यक्ति के भले या बुरे काम से राष्ट्र विख्यात या कुख्यात (बदनाम) हो सकता है। इसे स्पष्ट करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

उसको नजर आया। वह चित्र उसे बहुत पसन्द आया। उन्होंने चोरी से उसे फाड़ लिया। संयोगवश लाइब्रेरियन को पता चल गया। उसने जांच पड़ताल की। उस भारतीय को पकड़ा और दण्ड दिलाया। इस भारतीय के दुष्कृत्य का नतीजा सारे देश को भोगना पड़ा। उस लाइब्ररी में यह नियम बना दिया गया कि इस लाइब्रेरी में कोई भी भारतीय बिना आज्ञा के प्रवेश न करे।

सैकड़ों भारतीय विद्यार्थी उस ग्रन्थालय में जाकर लाभ उठाते थे। एक व्यक्ति के दुष्कृत्य से वह लाभ मिलना बन्द हो गया। विद्यार्थियों के ज्ञानाभ्यास में बाधा पड़ी। यही नहीं, समाचार–पत्रों में इस घटना की खूब चर्चा की गई और भारतीयों को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया गया। तात्पर्य यह है कि राष्टधर्म का पालन न करने से समूचे राष्ट्र को अप्रतिष्ठा और हानि का शिकार होना पड़ता है।

इसके विपरीत विश्वकवि रविन्द्रनाथ ठाकुर, डा. जगदीशचन्द्र बोस, स्वामी विवेकानन्दजी, महात्मा गांधीजी जैसे राष्ट्रहितैषियों ने योरोप आदि देशों की यात्रा द्वारा राष्ट्र धर्म का पालन करते हुए अपनी राष्ट्रीयता की उन्नत राष्ट्रीय भावना का परिचय देकर, भारतमाता की गुणगाथा गाकर उसकी महत्ता प्रकाशित करके स्वदेश का मस्तक ऊंचा उठाया है। इसलिए कहा गया है कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति पर राष्ट्र का आधार है।

कुछ लोग कहते हैं, आत्मकल्याण में तत्पर रहने वालों को ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्र धर्म आदि की क्या आवश्यकता है? मगर वास्तव में यह कथन सही नहीं है। आत्मशोधकों को भी ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्र धर्म के साथ थोड़ा बहुत संबंध रखना ही पड़ता है। क्योंकि साधुओं को ग्राम, नगर और राष्ट्र के अन्दर ही रहना, विचरना और वहीं से आहार पानी ग्रहण करना पड़ता है। ग्रामनिवासी अगर अधर्मी, चोर या अत्याचारी होंगे तो उनका अन्न खाने वाला साधु धर्मात्मा, स्वतन्त्र विचार करने वाला, महात्मा और आत्मशोधक कैसे बन सकेगा? कहावत प्रचलित है–'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन।' मानसशास्त्र में बतलाया गया है कि जैसे विचार रखने वाले का आहार खाया जायेगा, प्रायः वैसा ही विचार खाने वाले का हो जायेगा।

जहां तक गृहस्थ उपासकों का जीवन पवित्र नीतिमय नहीं बनता, वहां तक साधुओं का जीवन पवित्र रहना कठिन है। अगर गृहस्थ–उपासक अपने धर्म का पालन करने में दृढ़ रहें तो साधुओं को भी संयम पालन में दृढ़ रहना ही पड़ेगा। यह एक ध्रुव सत्य है।

श्री दशवैकालिक सूत्र की पहले अध्ययन की पहली गाथा की टीका में, नीतिमान पुरुषों का न्यायोपार्जित अन्न ही साधुजनों को ग्राह्य बतलाया है।

जब तक राष्ट्र का प्रत्येक सभ्य व्यक्ति राष्ट्र धर्म का भली भांति पालन नहीं करता तब तक सूत्र चारित्र धर्म सदैव खतरे में रहता है। क्योंकि राष्ट्र धर्म आधार है और सूत्रचारित्र धर्म आधेय है। आधार के अभाव में आधेय किसके सहारे टिक सकता है? जैसे पात्र के अभाव में घी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार राष्ट्रधर्म के बिना सूत्र–चारित्र धर्म नहीं टिक सकता।

यह बात नीचे लिखे उदाहरण से विशेष स्पष्ट हो जायेगी:–

मनुष्यों से भरा हुआ एक जहाज सागर के बीचोंबीच जा रहा है। मार्ग में एक मूढ़ मनुष्य, किसी एक मनुष्य, को उठाकर सागर में फेंकने को तैयार होता है और दूसरा मूढ़ तेज धार वाले शस्त्र से जहाज में छेद करने का प्रयत्न कर रहा है। इस स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनों में से पहले किसे रोका जाय? अगर बुद्धिमान पुरुषों से इस प्रश्न का उत्तर मांगा जाय तो वह यह कहेगा कि जहाज में छेद करने वाले को पहले रोकना उचित है।

इस उत्तर से सामान्य मनुष्य के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जहाज में छेद करने वाले को पहले और सागर में फेंकने वाले मनुष्य को बाद में क्यों रोका जाय? क्या जहाज का मूल्य मनुष्य के मूल्य से अधिक है?

ऐसी शंका करने वाले को समझना चाहिये कि अगर जहाज में कोई मुसाफिर न होता, जहाज सागर के किनारे पड़ा होता और उस समय उसमें छेद किया जाय तो विशेष हानि नहीं थी। पर जब जहाज सागर के बीच जा रहा है, उस समय उसमें छेद हो जाय तो तमाम यात्री सागर में डूब मरेंगे। अतएव ऐसी स्थिति में जहाज के मूल्य का अर्थ होता है, बहुसंख्यक मनुष्यों के जीवन का मूल्य।

आत्मधर्म की बातें करने वाले और संसार से संबंध रखने वाले लोग बहुत से काम करते हैं, परन्तु जब आचारधर्म के पालन का प्रश्न उपस्थित होता है, तब वे कहने लगते हैं कि हमें–दुनियादारी की बातों से क्या सरोकार है? ऐसे लोग आत्मधर्म की ओट में राष्ट्र के उपकार से विमुख रहते हैं।

भगवान महावीर जैसे महापुरुष ने केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी, केवल समष्टि–जगत् के हित के उद्देश्य से धर्म का उपदेश दिया था और देश देशान्तर में भ्रमण करके मोक्ष का राजमार्ग बतलाया था। जब जीवन मुक्त केवलज्ञानी ऐसा व्यवहार करते हैं, तब संसार में रहने वाले जो लोग कहते हैं कि हमें ग्राम, नगर या राष्ट्र से क्या मतलब है, उन पामर पुरुषों की यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है?

पतित का उद्धार करना व डूबते को उबारना, यही धर्म है। इस सामान्य वस्तु को समझते हुए भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो राष्ट्ररक्षा के कामों से कोसों दूर रहते हैं। राष्ट्र के प्रति इस प्रकार की उदासीनता होने का कारण राष्ट्रधर्म की महत्ता का अज्ञान है। जिन्होंने राष्ट्रधर्म का महत्व नहीं समझा वे ही लोग राष्ट्रहित के प्रति उदासीन रहते हैं।

जिसके हृदय में आत्म सम्मान का भाव होगा वह मनुष्य अपना अथवा अपनी माता का अपमान कभी सहन नहीं कर सकता। वह अपना या अपनी माता का अपमान देखकर विचलित हो उठता है।

हम लोगों को जन्म देने वाली पाल पोसकर बड़ा करने वाली माता तो माता है ही, मगर अपने पेट में से पानी निकाल कर पिलाने वाली, अपने उदर में से अन्न निकाल कर देने वाली, स्वयं वस्त्रहीन रहकर हमें वस्त्र देने वाली और माता की भी माता हमारी मातृभूमि है। माता और मातृभूमि का जितना उपकार माना जाय, उतना ही कम है।

'जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी' अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी है। यह कथन सोलह आने अर्थात् सौ प्रतिशत सत्य है। यह भारतवर्ष अपना देश है। अपनी मातृभूमि है। हम सब उसकी संतान हैं। माता का सम्मान करना माता की प्रतिष्ठा की रक्षा करना, प्रत्येक संतान का कर्त्तव्य है।

जिन कानूनों एवं विदेशी वस्तुओं के व्यवहार के कारण मातृभूमि की इज्जत मिट्टी में मिलती हो, राष्ट्रधर्म को धक्का लगता हो और स्वाधीनता बिक जाती हो, उन कानूनों को, विदेशी वस्तुओं के व्यवहार को बन्द कर देने के बदले, विलास की सामग्री बढ़ाकर राष्ट्रीय सम्पति और शारीरिक सम्पत्ति को

स्वाहा करना और इस प्रकार राष्ट्र के बन्धनों को ढीला करने के बदले और अधिक मजबूत बनाना मनुष्यत्व के विरुद्ध है। मातृभूमि के प्रति पुत्र की जैसी भावना होनी चाहिए वैसी भावना इस व्यवहार में नहीं है।

माता की मुक्ति के लिए पुत्र को स्वदेशाभिमान, स्वार्पण और सेवा के सूत्र स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने चाहिएं।

निम्नलिखित स्वर्णक्षर अपने हृदयपटल पर अंकित कर लो—

'राष्ट्र की रक्षा में हमारी रक्षा है। राष्ट्र के विनाश में ही हमारा विनाश है।'

शास्त्रों का अवलोकन करने से एक बात स्पष्ट रूप से ध्यान में आ जाती है। वह यह कि राष्ट्रधर्म के बिना सूत्र चारित्रधर्म नहीं टिक सकता। इस बात की पुष्टि के लिए शास्त्रों के अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं।

श्री ऋषभदेव भगवान ने अवतरित होकर ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म की स्थापना की थी। उन्होंने अपने जीवन के बीस भाग कुमार अवस्था में व्यतीत किये थे और सरसठ भाग राष्ट्र धर्म के संशोधन और प्रचार में लगाये थे। उन्होंने अपने जीवन का एक भाग सूत्र चारित्रधर्म के प्रचार में लगाया था।

इसके अतिरिक्त 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' नामक सूत्र में उल्लेख है—पहले सूत्र—चारित्र धर्म का नाश होगा, फिर राष्ट्र धर्म का नाश होगा। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि जब तक सूत्र चारित्रधर्म है, तब तक राष्ट्रधर्म का अस्तित्व अनिवार्य है। इसी कारण सूत्र—चारित्रधर्म का प्रचार करने के लिए सर्व प्रथम, श्री ऋषभदेव ने राष्ट्र धर्म का प्रचार किया था।

उल्लेखित प्रमाणों के अनुसार सूत्रचारित्रधर्म का नाश होने के पश्चात् भी राष्ट्र का अस्तित्व बना रहेगा। अर्थात् सूत्रचारित्रधर्म की उत्पत्ति से पहले और उसके विनाश के बाद भी राष्ट्र धर्म प्रचलित रहता है।

जो लोग कहते हैं—'राष्ट्र धर्म से हमें क्या लेना देना है?' उनसे पूछना चाहिए तुम्हारा सूत्र चारित्रधर्म के साथ संबंध है या नहीं? अगर संबंध है तो सूत्र चारित्रधर्म बिना राष्ट्रधर्म के टिक नहीं सकता, अतएव सूत्र चारित्रधर्म का पालन करने के लिए राष्ट्र धर्म का भी पालन करना परम आवश्यक है। इस प्रकार किसी भी अवस्था में राष्ट्र धर्म का निषेध नहीं किया जा सकता।

स्थानांग सूत्र में कहा है:—

धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्सा ठाणा पण्णत्ता।
तं जहा– छक्काए, गणे, राया, गिहवई सरीरं।।

–ठाण 5, सूत्र 448

अर्थात्–सूत्र–चारित्रधर्म को अंगीकार करने वाले साधुओं को भी पांच वस्तुओं का आधार लेना पड़ता है। वे इस प्रकार हैं– (1) षट्काय (2) गच्छ (3) राजा (4) गृहपति (5) शरीर।

ऊपर अंकित किये गये शास्त्रोल्लेख से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन पांच वस्तुओं का आश्रय लिये बिना सूत्र–चारित्र–धर्म का टिकाव नहीं हो सकता।

ऊपर के सूत्र में प्रयुक्त 'राजा' शब्द या राज्य या राष्ट्र अर्थ का वाचक है। अगर राष्ट्रीय व्यवस्था अर्थात् राज्य प्रबन्ध अच्छा न हो तो चोरी, हिंसा, अत्याचार, अनाचार आदि कुकर्म फैल जाएंगे और तब सूत्र चारित्रधर्म का समुचित रूप से पालन नहीं हो सकेगा।

इसका कारण स्पष्ट है। जो लोग अपनी रक्षा के लिए अस्त्र–शस्त्र रखते हैं, उनकी भी रक्षा राज्य की सुव्यवस्था के बिना नहीं हो सकती। वे दुष्ट लोगों से भलीभांति अपनी रक्षा नहीं कर सकते। ऐसी हालत में मुनिजन, जो दूसरों को मारने के लिए लकड़ी का एक टुकड़ा भी नहीं रखते, राज्य की सुव्यवस्था के बिना दुष्टों की दुष्टता से बचकर शान्तिपूर्वक धर्म का पालन कैसे कर सकते हैं? इसी उद्देश्य से शास्त्रकारों ने राजा को धर्म का रक्षक और पालक माना है। राष्ट्रधर्म, सूत्र चारित्रधर्म की रक्षा करता है, इसी कारण शास्त्रकारों ने राष्ट्र धर्म की अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की है।

जो लोग एक तरफ तो धर्म का रक्षण करते हैं, और दूसरी तरफ धर्म का नाश होने देते हैं, क्या वे वास्तव में धर्म की रक्षा कर सकते हैं? नहीं। केवल सूत्र–चारित्रधर्म को धर्म समझना और राष्ट्र धर्म को न मानना, मकान की नींव खोद कर उसे स्थिर बनाने के समान अथवा वृक्ष की जड़ उखाड़ कर उसे हरा–भरा बनाने का प्रयत्न करने के समान है।

सूत्र चारित्रधर्म, मकान अथवा वृक्ष के समान है, जबकि राष्ट्र धर्म नींव अथवा वृक्ष के मूल के समान है।

जो लोग ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्र धर्म का मूलोच्छेदन करते हैं, वे परोक्षरूप से सूत्र चारित्रधर्म का भी निषेध कर रहे हैं। अतएव चारित्रधर्म के नाम पर जो लोग राष्ट्र धर्म आदि की अवहेलना करते हैं, उन्हें शास्त्र धर्म और संयमधर्म का गहन चिन्तन और मनन करना चाहिए। बिना सोचे–विचारे

अथवा शास्त्रों का गहराई के साथ अध्ययन–मनन किये विना किसी की भली बुरी बात को मान लेने से, आगे चलकर पश्चात्ताप करने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार काल्पनिक, भ्रमपूर्ण विचार धारण करने से आज नहीं तो भविष्य में राष्ट्र, समाज और धर्म को भयंकर हानि पहुंचने की संभावना है। इसलिए मैं जोर देकर बार बार कहता हूं कि–प्रत्येक बात पर विवेकपूर्वक विचार करो। दूसरे लोग जो कुछ कहते हैं, उसे ध्यानपूर्वक सुनो और सात्विक दृष्टि से शास्त्रों का अवलोकन करो। केवल अन्धविश्वास से प्रेरित होकर या संकुचित मनोवृत्ति से अपनी मनः कल्पित बात को मत पकड़े रखो। दुराग्रह या स्वमताग्रह के फेर में मत पड़ो।

राष्ट्र–धर्म की महता समझने और समझाने वालों की संख्या कम हो जाने के कारण, आज राष्ट्र धर्म का आचरण करना कठिन हो रहा है और राष्ट्र धर्म का यथोचित परिणाम में आचरण न होने से लोग जैनधर्म को संकीर्ण और अव्यवहार्य धर्म कहकर उसकी भर्त्सना करते हैं।

राष्ट्र धर्म की व्याख्या करने से पहले भगवान् ऋषभदेव का उदाहरण इसलिये दिया गया है कि आप लोग भगवान् ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट राष्ट्र धर्म को ठीक–ठीक समझ जाएं।

शास्त्र में कहा है :–

'पयाहियट्ठयाए–प्रजाहितार्थाय।'

अर्थात् प्रजा के हित के लिए भगवान् ऋषभदेव ने राष्ट्र धर्म आदि की स्थापना की थी। उन्हीं के द्वारा स्थापित की हुई राजनीति से आज हमारा व्यवहार चल रहा है। भगवान् के द्वारा स्थापित की हुई नीतियां प्रजा का कितना अधिक हित–साधन करने वाली हैं, इस बात को समझने के लिए उनके द्वारा स्थापित नीतियां में से केवल एक विवाहनीति को समझ लेना ही पर्याप्त होगा।

मर्यादा नहीं है, तो अगर विवाह प्रथा न होती तो मानव समाज किस स्थिति में होता, यह कल्पना ही भयंकर मालूम होती है।

इस बात पर विशेष विचार करने से भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित की हुई राजनीति का तथा उनके द्वारा प्ररूपित राष्ट्रधर्म का महत्त्व समझ में आ सकता है।

राष्ट्र धर्म का मुख्य सार यह है:-

ऐक्य, राज्य, स्वातन्त्र्य, यही तो राष्ट्र अंग है।
सिर, धड़, टांगों सदृश, जुड़े हैं अंग-संग हैं।।
व्यक्ति कुटुम्ब समाज सब, मिले एक ही धार में।
मिला शान्ति सुख राष्ट्र के, पावन पारावार में।।

x x x

अंग राष्ट्र का बना हुआ प्रत्येक व्यक्ति हो।
केन्द्रित नियमित किये सभी को राज्य शक्ति हो।।
भरा हृदय में राष्ट्र गर्व हो, देशभक्ति हो।
समता में अनुरक्ति विषमता से विरक्ति हो।।

x x x

राष्ट्र पताका पर लिखा रहे-'न्याय-स्वाधीनता'।
पराधीनता से नहीं, बढ़कर कोई दीनता।।

-त्रिशूल

4 : व्रतधर्म

(पाखंड धम्मे)

अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अस्तेयव्रत, अभयव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत स्वादेन्द्रिय निग्रहव्रत, अपरिग्रहव्रत आदि आदि जो व्रत तुमने धारण किये हों, उनमें दृढ़ रहना, उनसे महात्मा गांधी की तरह चिपटे रहना। यही सब प्रकार की विजय की चाबी है। यही अपना धर्म है।

धर्म का पालन करने के लिए दृढ़ निश्चय अर्थात् व्रतधर्म की खास आवश्यकता है। इस बात को लक्ष्य में रखकर शास्त्रकारों ने ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म का समुचित पालन करने के लिए दृढ़ निश्चय–व्रतधर्म की आवश्यकता स्वीकार की है।

व्रतधर्म का अर्थ क्या है? जीवन में व्रतधर्म का क्या और कितना स्थान है? व्रतधर्म के पालन से धर्म का पालन किस प्रकार होता है? इन प्रश्नों पर यहां थोड़ा–सा प्रकाश डाला जाएगा।

शास्त्रकारों ने व्रतधर्म का 'पाखण्डधर्म' के नाम से वर्णन किया है। यहां 'पाखण्ड' शब्द जरा अटपटासा मालूम होता है, पर यह समझ लेना चाहिए कि सामान्यतया 'दंभ' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला 'पाखण्ड' शब्द यह नहीं है यहां पाखण्ड शब्द 'व्रत' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।* अतएव 'पाखण्ड' शब्द मात्र से घबराने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहां प्रयोग किया गया 'पाखण्ड' शब्द निर्भय बनाने वाला और व्रत–पालन में दृढ़ निश्चय उत्पन्न

Praising of heterodix teachers and intimacy with heterodix teachers, In yog 11, 17, mithya-dristi-prashamsanam. The Word 'पाखण्ड' *has, with the Jains, no bad sense. It means generally the adherent of any religion, especially of their own house with the Brahmins, it came to mean 'an adherent of a false or heterodox religion, with them* पाखण्ड *is equal to the jains* परपाखण्ड *See also Bhag. P.P. 2/3/2/4 and Ind. St. val XVII P.75.*

पाखण्ड शब्द प्राचीन बौद्ध साहित्य में और जैनागमों में मिलता है और उसका मूल अर्थ है–किसी प्रकार का मत। अपने मत में स्थिर होकर रहने से ही मनुष्य की मानसिक स्थिरता टिक सकती है और श्रद्धा में विचलितता नहीं आती। जान पड़ता है इसी आशय से परपाखण्ड की प्रशंसा का निषेध किया गया है।

साधारण मनुष्य से अगर 'पाखण्डधर्म' का अर्थ पूछा जाय तो वह एकाएक विचार में पड़ जायगा। वह सोचेगा–'पाखण्ड' धर्म कैसे हो सकता है? और धर्म पाखण्ड कैसे हो सकता है?

पाखण्ड शब्द का प्रयोग अशोक के शिलालेखों में भी पाया जाता है। शिलाखण्ड में यह भी कहा गया है कि– किसी भी मनुष्य को किसी के 'पाखण्ड' की निन्दा करके उसे दुःखी नहीं करना चाहिए, ऐसी महाराज अशोक की आज्ञा है।

एक व्यक्ति जवाहरात का धन्धा करता है। उसे उसमें दिलचस्पी है, कमाई है। अगर वह अपने पुत्र को इस धन्धे में निपुण बनाना चाहता है, तो उसे चाहिये कि वह अपने पुत्र के सामने किसी दूसरे व्यवसाय की प्रशंसा न करे। ऐसा करने से वह भी जवाहरात के व्यवसाय में निपुण हो जायेगा और दिलचस्पी लेने लगेगा। अन्यथा अस्थिर चित्त होकर असफल रहेगा।

गीता में भी कहा है:–

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

अर्थात् स्वधर्म में स्थिर रहते हुए मर जाना अच्छा है पर, परधर्म भयानक होता है।

पर–पाखण्ड शब्द का अर्थ यह नहीं है कि किसी को मिथ्यात्वी कहना अथवा उसकी निन्दा करना, वरन् परम्परागत सदाचार का पालन करना, उसी में बुद्धिपूर्वक अनुरक्त रहना, उसका लपारवाही से त्याग न

करना। हां, अगर परम्परागत आचार, सदाचार न होकर दुराचार हो तो उसे उसी समय त्याग देना चाहिये।

मगर इसमें साधारण आदमी का कोई दोष नहीं है, क्योंकि साधारण व्यवहार में, बोलचाल में 'पाखण्ड' शब्द, दंभ के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। फिर भी शास्त्रीय भाषा में 'पाखण्ड' व्रत पालन या दृढ़ निश्चय अर्थ में व्यवहृत किया गया है।

'पाखण्ड' शब्द अनेकार्थक है। उसका अर्थ दंभ भी है और व्रत भी है।

श्री दशवैकालिक सूत्र के द्वितीय अध्ययन की (निर्युक्ति 158 की) टीका में 'पाखण्ड' शब्द का अर्थ 'व्रत' किया गया है। उल्लेख इस प्रकार हैः–

पाखण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि।
स पाखण्डी वदन्त्यन्ये, कर्मपाशाद्विनिर्गतः।।

अर्थात्–पाखण्ड व्रत को कहते हैं। व्रत जिसका निर्मल होता है, ऐसा कर्म–बंधन से मुक्त पुरुष पाखण्डी अर्थात् सुव्रती कहलाता है।

गृहस्थ के आवश्यक कर्त्तव्यों में 'प्रतिक्रमण' भी एक आवश्यक कर्त्तव्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जो अतिचार लगे हों, उनका प्रतिक्रमण किया जाता है। अर्थात् कृत पापों का प्रायश्चित्त तथा आलोचन किया जाता है।

सम्यक्दर्शन अर्थात् विशुद्ध श्रद्धा, में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाखण्ड प्रशंसा, परपाखण्ड संस्तव यह पांच अतिचार लगते हैं। इन पाच अतिचारों में आये हुए अन्तिम दो अतिचार परपाखण्ड प्रशंसा तथा परपाखण्ड संस्तव पर यहां विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

'पाखण्ड' का अर्थ यदि सिर्फ दंभ या कपट ही माना जाय तो उससे पहले 'पर' विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता थी?

अगर मैंने 'पाखण्ड' की प्रशंसा की हो, तो मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, इतना कहने से पाखण्ड प्रशंसा के दोष से रहित हो सकते हैं। ऐसा न कहकर 'पाखण्ड प्रशंसा' किस उद्देश्य से कहा गया है? पाखण्ड शब्द का एक अर्थ

मगर पाखण्ड शब्द का अर्थ सभी जगह 'दंभ—कपट' करना शास्त्र सम्मत नहीं है। पापों का नाश करने वाला व्रत भी पाखण्ड कहलाता है। जैन शास्त्र में ऐसा उल्लेख मिलता है।

स्थानांगसूत्र में पाखण्डधर्म का उल्लेख मिलता है, जिसमें व्रतधारियों का धर्म भी प्रतिपादित किया गया है।

प्रश्नव्याकरण—सूत्र के द्वितीय संवरद्वार में भी इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है:—

'अणेगपाखंडिय परिग्गहियं।' ❁

(टीका— ❁ अनेकपाखंडिपरिगृहीतं—नानाविधव्रतिभिरंगीकृतम्।)

अर्थात् अनेक व्रतधारियों द्वारा स्वीकार किया हुआ व्रत पाखण्ड कहलाता है। जिन्होंने उस व्रत को अंगीकार किया हो, वे पाखण्डी कहलाते हैं। इन पाखण्डियों अर्थात् व्रतधारियों के द्वारा सत्यव्रत ग्रहण किया गया है अतएव वह 'अनेकपाखण्डी परिगृहीत' कहलाता है।

पाखण्ड शब्द का अर्थ सिर्फ 'दम्भ' होता तो श्रावक के विशेषण के रूप में 'पाखण्डी' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता।

श्री दशवैकालिक सूत्र में 'समण—श्रमण शब्द की व्याख्या करते हुए 'पाखण्डी' शब्द व्रतधारी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। गाथा यह है:—

पव्वइए अणगारे, पासण्डे चरग तावसे भिक्खू।
परिवाइए य समणे निग्गंथे संजए मुक्के।।

अर्थात्—श्रमण—साधु को प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, निर्ग्रन्थ, संयति और मुक्त आदि अनेक नामों से संबोधित किया जाता है।

इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्थानांग, प्रश्नव्याकरण और दशवैकालिक आदि सूत्रों में 'पाखण्ड' शब्द व्रत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अतएव पाखण्ड का अर्थ हुआ व्रत। व्रत—पाप से रक्षा करता है और पाप का खण्डन करता है जिसमें इतना व्रताचार होता है, उसे पाखण्ड या व्रती कहते हैं। यह पाखण्डीधर्म अर्थात् व्रतधर्म ग्राम धर्म, नगर धर्म और राष्ट्र में फैलने वाले दंभ—अधर्म को रोकता है और धर्म भावना जाग्रत करता है। अगर पाखण्डधर्म से धर्मप्रचार के बदले अधर्म फैलता है तो उसे धर्म कैसे कहा जा सकता था? वास्तव में पाखण्डधर्म, धर्म की रक्षा और अधर्म का नाश करता है। अतएव पाखण्ड, दंभ का द्योतक नहीं वरन् धर्मव्रत या व्रतधर्म का सूचक है।

पाखण्ड शब्द के अर्थ में लौकिक और लोकोत्तर–दोनों प्रकार के व्रतों के पालन का समावेश हो जाता है। साधु अवस्था में जैसे व्रतों का पालन होता है, गृहस्थावस्था में भी व्रतों का पालन हो सकता है और होता भी है। शास्त्र में कहा है–

'गिहिवासे वि सुव्वया'–उत्तराध्ययनसूत्र।

अर्थात् गृहस्थ–अवस्था में रहकर भी जो पुरुष सुव्रत का पालन करता है वह सुव्रती✸ कहलाता है।

धैर्य, क्षमा, सद्भाव आदि सद्गुणों का सेवन करना भी एक प्रकार का सुव्रत है कहा भी हैः– **'सत्पुरुषाः धृतसुव्रताः'**

अर्थात्–सज्जन–सत्पुरुष आदि सद्गुणों का सेवन करते हैं–सुव्रती कहलाते हैं।

विपदाओं के पहाड़ टूट पड़े, खाने पीने के फाके पड़ते हों, तब भी जो धीरवीर पुरुष अपनी उदार प्रकृति को स्थिर रखता हुआ, अपने सदाचार से तिल भी भर नहीं डिगता, वह सच्चा सुव्रती कहलाता है। जहां सुव्रतियों की संख्या जितनी अधिक होती है, वह ग्राम, नगर और देश उतना ही सुरक्षित रहता है। सुव्रतियों के सदाचार रूपी प्रबल बल की अपेक्षा शत्रुओं का दलबल निर्बल व निस्तेज बन जाता है।

नीतिकारों ने ठीक ही कहा हैः–

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरम्,
स्वसन्तो नार्म्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्।।

भृतहरि नीति–28

आपत्ति आने पर भी अपना मस्तक ऊंचा रखना, महान् पुरुषों के चरण चिन्हों पर चलना, न्याययुक्त अजीविका में अनुराग रखना, प्राण जाने का

✸ आदर्श गृहस्थाश्रम की मर्यादा में रहकर धर्म के नियमों का समुचित रूप में पालन किया जाय तो आगे जाकर वह त्यागी गृहस्थ आदर्श त्यागी जीवन व्यतीत करके कूर्मापुत्र केवली के समान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता है। गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को निभाते हुए त्यागी जीवन बिताना सरल नहीं है। ऐसा करना तलवार की धार पर चलना है। इस दृष्टि से पापश्रमणों की अपेक्षा त्यागमय जीवन पालन करने वाले सुश्रावक सुव्रती होते हैं। साधुता प्रकट करने की पहली मंजिल सुश्रावक बनना है।

प्रसंग उपस्थित होने पर भी पाप कर्म में प्रवृत्त न होना, दुर्जनों से किसी वस्तु की याचना न करना, निर्धन मित्रों के सामने हाथ न फैलाना, यह असिधारा व्रत (तलवार की धार पर चलने के समान कठोर व्रत) सज्जनों को किसने सिखाया है? अर्थात् ये सद्गुण सज्जन पुरुषों में स्वाभाविक ही पाये जाते हैं।

जब ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म, इन तीनों धर्मों का यथोचित पालन होता है तब व्रत रूपी पाखण्ड धर्म का उदय स्वतः हो जाता है और पाखण्डधर्म के उदय से धर्मशील मनुष्यों में रही हुई शक्ति और स्फूर्ति का विकास होता है। शक्ति और स्फूर्ति का विकास होने पर धर्मप्रिय व्यक्ति कठिन व्रतधर्म का भी पालन कर सकता है और अपनी धर्मप्रियता का जगत को परिचय देकर जन समाज के समक्ष उच्च आदर्श उपस्थित कर सकता है। ऐसे व्रतधारी कष्टों और संकटों के आने पर मेरु पर्वत के समान निष्कंप बने रहते हैं। प्राण जाते हों तो भले ही चले जायें, परन्तु धर्म न जाए, इस प्रकार सुदृढ़ संकल्प करने वाला और उस पर अडिग रहने वाला धीर पुरुष सच्चा व्रतधारी है। ऐसे सुव्रती के सदाचार के प्रसाद से देश, समाज और धर्म उन्नत बनते हैं।

महापुरुषों ने धर्म की जो मर्यादा स्थिर की है, उस मर्यादा का घोर संकट के समय भी उल्लंघन न करना व्रतधारी का महान व्रत है।

"न्यायवृति रखना और प्रामाणिक रहना" यह सुव्रतियों का मुद्रालेख है। यह मुद्रालेख उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। सुव्रत अन्याय के खिलाफ अलख जगाता है। वह न स्वयं अन्याय करता है और न सामने होने वाले अन्याय को बैठकर टुकुर–टुकुर देख सकता है। वह अन्याय का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध रहता है। अन्याय का प्रतिकार करने में वह अपने प्राणों को हंसते हंसते निछावर कर देता है। वह समाज और देश के चरणों में अपने जीवन का बलिदान देकर भी न्याय की रक्षा करता है। सुव्रतियों का सुव्रत ऐसा कठोर होता है।

पर आजकल के व्रतधारी कहलाने वालों की मनोदशा एकदम विपरीत जान पड़ती है। आज तो ऐसी दशा है कि फूटी कौड़ी के लिए, अपने तुच्छ–स्वार्थ की सिद्धि के लिए, सत्य को असत्य, न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म कहते हुए भी अनेक व्रतधारी कहलाने वाले लोग, तनिक भी नहीं झिझकते। पर उन्हें इतना जान लेना चाहिए कि नाम से व्रतधारी होने से कुछ बनता नहीं है। व्रतधारी बनना तलवार की धार पर चलना है।

पाखण्ड शब्द के अर्थ में लौकिक और लोकोत्तर—दोनों प्रकार के व्रतों के पालन का समावेश हो जाता है। साधु अवस्था में जैसे व्रतों का पालन होता है, गृहस्थावस्था में भी व्रतों का पालन हो सकता है और होता भी है। शास्त्र में कहा है—

'गिहिवासे वि सुव्वया'—उत्तराध्ययनसूत्र।

अर्थात् गृहस्थ—अवस्था में रहकर भी जो पुरुष सुव्रत का पालन करता है वह सुव्रती* कहलाता है।

धैर्य, क्षमा, सद्भाव आदि सद्गुणों का सेवन करना भी एक प्रकार का सुव्रत है कहा भी हैः— **'सत्पुरुषाः धृतसुव्रताः'**

अर्थात्—सज्जन—सत्पुरुष आदि सद्गुणों का सेवन करते हैं—सुव्रती कहलाते हैं।

विपदाओं के पहाड़ टूट पड़े, खाने पीने के फाके पड़ते हों, तब भी जो धीरवीर पुरुष अपनी उदार प्रकृति को स्थिर रखता हुआ, अपने सदाचार से तिल भी भर नहीं डिगता, वह सच्चा सुव्रती कहलाता है। जहां सुव्रतियों की संख्या जितनी अधिक होती है, वह ग्राम, नगर और देश उतना ही सुरक्षित रहता है। सुव्रतियों के सदाचार रूपी प्रवल बल की अपेक्षा शत्रुओं का दलवल निर्वल व निस्तेज बन जाता है।

नीतिकारों ने ठीक ही कहा हैः—

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरम्,
स्वसन्तो नार्म्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्।।

भृतहरि नीति—28

आपत्ति आने पर भी अपना मस्तक ऊंचा रखना, महान् पुरुषों के चरण चिन्हों पर चलना, न्याययुक्त अजीविका में अनुराग रखना, प्राण जाने का

---

* आदर्श गृहस्थाश्रम की मर्यादा में रहकर धर्म के नियमों का समुचित रूप में पालन किया जाय तो आगे जाकर वह त्यागी गृहस्थ आदर्श त्यागी जीवन व्यतीत करके कूर्मापुत्र केवली के समान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त वन सकता है। गृहस्थाश्रन के उत्तरदायित्व को निभाते हुए त्यागी जीवन विताना सरल नहीं है। ऐसा करना तलवार की धार पर चलना है। इस दृष्टि से पापश्रमणों की अपेक्षा त्यागमय जीवन यापन करने वाले सुश्रावक सुव्रती होते हैं। साधुता प्रकट करने की पहली मंजिल सुश्रावक वनना है।

प्रसंग उपस्थित होने पर भी पाप कर्म में प्रवृत्त न होना, दुर्जनों से किसी वस्तु की याचना न करना, निर्धन मित्रों के सामने हाथ न फैलाना, यह असिधारा व्रत (तलवार की धार पर चलने के समान कठोर व्रत) सज्जनों को किसने सिखाया है? अर्थात् ये सद्गुण सज्जन पुरुषों में स्वाभाविक ही पाये जाते हैं।

जब ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म, इन तीनों धर्मों का यथोचित पालन होता है तब व्रत रूपी पाखण्ड धर्म का उदय स्वतः हो जाता है और पाखण्डधर्म के उदय से धर्मशील मनुष्यों में रही हुई शक्ति और स्फूर्ति का विकास होता है। शक्ति और स्फूर्ति का विकास होने पर धर्मप्रिय व्यक्ति कठिन व्रतधर्म का भी पालन कर सकता है और अपनी धर्मप्रियता का जगत को परिचय देकर जन समाज के समक्ष उच्च आदर्श उपस्थित कर सकता है। ऐसे व्रतधारी कष्टों और संकटों के आने पर मेरु पर्वत के समान निष्कंप बने रहते हैं। प्राण जाते हों तो भले ही चले जायें, परन्तु धर्म न जाए, इस प्रकार सुदृढ़ सकल्प करने वाला और उस पर अडिग रहने वाला धीर पुरुष सच्चा व्रतधारी है। ऐसे सुव्रती के सदाचार के प्रसाद से देश, समाज और धर्म उन्नत बनते हैं।

महापुरुषों ने धर्म की जो मर्यादा स्थिर की है, उस मर्यादा का घोर सकट के समय भी उल्लंघन न करना व्रतधारी का महान व्रत है।

"न्यायवृति रखना और प्रामाणिक रहना" यह सुव्रतियों का मुद्रालेख है। यह मुद्रालेख उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। सुव्रत अन्याय के खिलाफ अलख जगाता है। वह न स्वयं अन्याय करता है और न सामने होने वाले अन्याय को बैठकर टुकुर–टुकुर देख सकता है। वह अन्याय का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध रहता है। अन्याय का प्रतिकार करने में वह अपने प्राणों को हंसते हंसते निछावर कर देता है। वह समाज और देश के चरणों में अपने जीवन का बलिदान देकर भी न्याय की रक्षा करता है। सुव्रतियों का सुव्रत ऐसा कठोर होता है।

पर आजकल के व्रतधारी कहलाने वालों की मनोदशा एकदम विपरीत जान पड़ती है। आज तो ऐसी दशा है कि फूटी कौड़ी के लिए, अपने तुच्छ–स्वार्थ की सिद्धि के लिए, सत्य को असत्य, न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म कहते हुए भी अनेक व्रतधारी कहलाने वाले लोग, तनिक भी नहीं झिझकते। पर उन्हें इतना जान लेना चाहिए कि नाम से व्रतधारी होने से कुछ बनता नही है। व्रतधारी बनना तलवार की धार पर चलना है।

आज धर्म–अधर्म का विवेक नष्ट प्रायः हो रहा है। इसी कारण जैनसमाज में ऐसी मिथ्या धारणा घुस गई है कि जितनी देर सामायिक में बैठा जाय, बस उतना ही समय धर्म में व्यतीत करना आवश्यक है। सामायिक समाप्त की, दूकान पर पैर रखा और धर्म भी समाप्त हुआ। दूकान पर तो पाप ही पाप करना होता है। वास्तव में यह धारणा भ्रमपूर्ण है। सामायिक में बैठ जाने मात्र से धर्म नहीं होता। रात–दिन की शुभाशुभ प्रवृत्तियों से ही पुण्य–पाप का हिसाब होता है।

फिर सामायिक में भी शुद्ध धर्मक्रिया कहां की जाती है? बहुत बार सामायिक के समय भी चुगली, परनिन्दा, क्रोध आदि दुष्ट मनोवृत्तियां का सेवन करके, पुण्योपार्जन के बदले पाप की कमाई की जाती है। सामायिक समभाव सीखने का अमोघ और अतिशय प्रशस्त साधन है। समभाव सीखने के बदले, अगर सामायिक में भी निन्दा–विकथा, क्रोध, लोभ आदि विभावों का मैल संचित किया तो सामायिक व्रत का पालन ही नहीं किया और न वैसी मनोवृत्ति रहते उसका पालन ही हो सकता। व्रत का उचित रूप से पालन न होने से शुभ परिणाम के बदले प्रायः अशुभ परिणाम होता है। सामायिक जैसा पावन व्रत समभाव का पोषक और आत्मोन्नति का साधक होना चाहिए। ऐसा करने में ही व्रतधारी की शोभा है।

सामायिक व्रत का दुरुपयोग करने के बदले अगर सदुपयोग किया जाय तो अपने घर में, समाज में, देश में सदैव उठ खड़े होने वाले अनेक रगड़े–झगड़े और क्लेश अपने आप ही समाप्त हो सकते हैं। इतना ही नहीं, सामायिकव्रत का पालन करने से कचहरी में जाकर अनेक झूठे सच्चे दाव खेलने के प्रपंच भी निश्चित रूप से नष्ट हो सकते हैं। धर्मशास्त्र एक प्रकार का आध्यात्मिक 'पिनल कोड' है। धर्मसूत्रों के धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक कायदे कानून इतने सुन्दर और न्याय संगत है कि अगर हम निर्दोष भाव से उनका अनुकरण करें तो देश, समाज या कुटुम्ब में घुसे हुए अनेक प्रकार के पारस्परिक वैर भाव स्वतः शान्त हो सकते हैं। मगर धर्म शास्त्रों के कानूनों का पालन न करना सामान्य जनता के लिए सरल नहीं है। जो पुरुष सुव्रती हैं, जिनकी आत्मा धर्म के रंग में रंगी हुई है, वही धर्मवीर, धर्मव्रत का भलीभांति पालन कर सकता है।

सच्चा व्रतधारी, सधर्मी पुरुष, प्राणों का नाश होने पर भी धर्म का नाश नहीं होने देता।

दृढ़ता पूर्वक धर्म का पालन किस प्रकार किया जाता है, इस प्रश्न का अच्छा उत्तर सुदर्शन श्रावक के जीवन चरित्र से मिलता है।

सुदर्शन श्रावक ने शूली पर चढ़कर प्रसन्नता पूर्वक प्राणोत्सर्ग करना स्वीकार किया, पर अभया रानी की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। क्या उसे अपने प्राण प्यारे नहीं थे? हम इस प्रश्न का उत्तर दें, उससे पहले ही सुदर्शन सेठ की आत्मा बोल उठेगी—मुझे प्राण प्यारे थे, पर धर्म प्राणों से भी अधिक प्यारा था। मेरी अन्तरात्मा धर्मरक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करने की प्रेरणा प्रदान करती थी।

इसी प्रकार का एक और उदाहरण व्रतपालन की कठिनता और महत्ता समझाता है। वरुण नामक बारह व्रतों को धारण करने वाला श्रावक राज्याधिकारी था। वह व्रतपालन के साथ ही साथ अपने कर्त्तव्य के अनुसार राज्यकार्य—संचालन भी करता था।

एक बार किसी राजा ने वरुण के स्वामी राजा पर अचानक हमला बोल दिया। राजा ने अपने राज्याधिकारियों को शस्त्रास्त्र से सेना सजाने की आज्ञा दी। सेना तैयार हुई। अधिकारी गण सेना के साथ चले। सेना युद्ध भूमि में आ डटी।

दोनों तरफ की सेनाओं का आमना सामना हुआ और थोड़ी ही देर में घोर संग्राम छिड़ गया। आपस में शस्त्रों का प्रहार होने लगा। वरुण को भी युद्ध में सम्मिलित होने का आदेश दिया गया। वरुण ने कहा—

जो कोई अत्याचारी, अन्यायी मुझ पर शस्त्र उठाएगा, मैं भी उसके विरुद्ध शस्त्र का प्रयोग करूंगा। अलबत्ता निरपराध जीवों को न मारने की मेरी प्रतिज्ञा है। मैं अपने प्राणों का खतरा उठा कर के भी प्रतिज्ञा का पालन करूंगा। युद्ध में सम्मिलित होने के राजकीय आदेश को शिरोधार्य करना मेरा पहला कर्त्तव्य है, साथ ही निरपराधों पर हाथ न उठाने की प्रतिज्ञा का पालन करना ही मेरा कर्त्तव्य है।

वरुण युद्ध में शामिल हुआ। अन्त में सनसनाता हुआ एक तीर आया और वरुण का हृदय बिंध गया। वरुण उसी समय जमीन पर गिर गया। अपराधी जीव को अपराध के बदले दण्ड देने में व्रत भंग नहीं होता, यह जानकर उसने संभल कर हाथ में अस्त्र—शस्त्र लिये और एक शूर वीर की भांति अपने व्रत की रक्षा करता हुआ दिलोजान से लड़ा। उसने राजाज्ञा और व्रत प्रतिज्ञा दोनों का पालन करके अपने पवित्र कर्त्तव्य का निर्वाह किया। राष्ट्ररक्षा और व्रत प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए, अपने प्राणों का बलिदान देकर वीर वरुण मृत्यु का आलिंगन करके अमर बन गया। ❖

❖ देखो भगवती सूत्र

शास्त्र में वर्णित यह दृष्टान्त क्या शिक्षा देता है? यही कि अशाश्वत शरीर की रक्षा के निमित्त शाश्वत धर्म का नाश मत करो। मनुजी का यह धर्म सूत्र हमें धर्म रक्षा का कर्त्तव्य समझाता है :–

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

अर्थात् अगर हम धर्म का नाश करेंगे, तो धर्म हमारा नाश करेगा और यदि हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म हमारी रक्षा करेगा।

धर्म पालन करना कितना कठिन है, इस वात को समझने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण और लीजिये।

जोधपुर के राठौड़ वीर दुर्गादास का नाम शायद ही किसी ने न सुना हो। वह सच्चा राजपूत नर वीर था। वह दृढ़ धर्मी और स्वामीभक्त सेवक था।

एक वार दुर्गादास औरंगजेव वादशाह के पंजे में पड़ गया। वहां वादशाह की वेगम गुलनार इस नर वीर का तेज देखकर पागल हो गई। वह दुर्गादास के पास एकान्त में मिलने आई और अपने आपको अपनाने के लिए प्रार्थना करने लगी। उसने दुर्गादास को कई प्रलोभन भी दिये। वह कहने लगी–हे नर वीर! अगर तुम मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लोगे तो मैं आज ही इस वादशाह का काम तमाम करके तुम्हें दिल्ली का सम्राट वना दूंगी।

दुर्गादास–वेगम की प्रार्थना सुनकर अवाक् रह गया। वह सोचने लगा–वेगम यह क्या कह रही है?

दुर्गादास दृढ़ धर्मी था। वह नरवीर था। उसने सिर्फ इतना ही कहा–मां, तुम यह क्या कह रही हो? तुम मेरी माता हो। वेगम 'मां' शव्द सुनते ही आग ववूला हो गई। उसने कहा–दुर्गादास! जरा होश में आओ। 'मां' शव्द वोलते हुए जरा तो विचार करो, पुनः सोच लो। विना विचारे कोई शव्द मत कहना।

अव दुर्गादास चुप था। वह समझता है–मैंने जो कुछ भी कहा है, उसमें विना विचारा एक शव्द भी नहीं है। उसे अपने शव्दों पर पूरा पूरा विश्वास था। वह स्वयं निर्भय था। उसे किसी का भय नहीं था। प्राणों का भी भय नहीं था। भय था तो सिर्फ पाप का। अतएव जव वेगम कह चुकी तो दुर्गादास ने कहा मां, मैं जो कुछ कह रहा हूं, विचार पूर्वक ही कह रहा हूं। जान पड़ता है कि तुम स्वयं वेभान हो रही हो?

वेगम गुलनार को दुर्गादास के ये शव्द ऐसे मालूम हुए जैसे तीखा तीर हृदय में चुभ रहा हो। वह नागिन की भांति फुंफकार उठी। वोली–जानते हो, मेरे वचनों की अवहेलना करने वाले की क्या दुर्गति होती है? अच्छी तरह समझ लो, मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने वालों को इस तलवार का शिकार होना पड़ता है। खूव समझ–वूझ लो और अन्तिम निर्णय कर लो। एक ओर

तो दिल्ली का रत्नजड़ित सिंहासन, हिन्दुस्तान की बादशाहत और गुलनार है, तथा दूसरी ओर यह सनसनाती तलवार है। बोलो, क्या इरादा है?

गुलनार आगे कुछ और कहना ही चाहती थी कि इतने में ही दुर्गादास निर्भय सिंह की तरह गरज उठा–मां, मैं तुम्हारे मुख से इस प्रकार के अभद्र शब्द सुनना नहीं चाहता। मेरे प्राण सदाचार की बलिदेवी पर चढ़ने को तड़फ रहे हैं। मुझे प्राणों की परवाह नहीं है। मुझे सदाचार की चिन्ता है। मैं प्राणों की अपेक्षा सदाचार को अधिक प्यार करता हूं।

दुर्गादास का यह सदाचार धर्म हमारे सामने क्या आदर्श उपस्थित करता है? वह सदाचार की महिमा का प्रकाश करता है। सदाचार–धर्म ही मनुष्य का सच्चा मित्र है। इस सच्चे मित्र की जिस दिन अवगणना करोगे उसी दिन से तुम्हारे धार्मिक जीवन का अधःपतन आरम्भ हो जायेगा, यह निश्चित समझ लेना।

अगर तुम अपना जीवन सफल बनाना चाहते हो तो व्रत पालन में दृढ़ रहना। जिस व्रत को अंगीकार कर लो उससे चिपटे रहो। उसे पूर्ण रूप से निभाने के लिए सतत प्रयास करो।

कुछ लोग कहते हैं–व्रत संबंधी प्रतिज्ञा लेने की आवश्यकता ही क्या है? उन्हें समझाना चाहिए कि व्रतपालन की प्रतिज्ञा संकट के समय एक सबल मित्र के समान साथ देती है। प्रतिज्ञा अधःपतन से बचाती है और धर्म का सच्चा मार्ग बताती है। महात्माजी (गांधीजी) आज महात्मा बन सके इसका अधिकांश श्रेय उनकी मातजी द्वारा दी हुई प्रतिज्ञा को प्राप्त है। उसी प्रतिज्ञा की बदौलत आज महात्माजी महान् बन सके हैं। संकट के समय व्रत पालन का स्मरण कराने वाली, व्रत पालन के लिए बारम्बार प्रेरित करने वाली और प्रलोभनों के समय संयम का मर्म समझाने वाली प्रतिज्ञा ही है। प्रतिज्ञा हमारा सच्चा मित्र है। ऐसे सच्चे मित्र की अवहेलना कैसे की जा सकती है?

व्रत के विषय में अब तक जो विचार किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पाखण्ड का अर्थ व्रत है, और लौकिक एवं लोकात्तर धर्मव्रत को अंगीकार करने वाला 'पाखण्डी' (व्रती) कहलाता है।

ग्राम धर्म, नगरधर्म तथा राष्ट्रधर्म को जीवन में मूर्तिमान रूप देने के लिए व्रत–धर्म को अंगीकार करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म के बाद पाखण्ड धर्म का वर्णन किया गया है।

5 : कुल धर्म

(कुल धम्मे)

बसे गुरुकुले णिच्चं

आज लोग कुलधर्म–कुलीनता को भूलकर केवल कुल शब्द से चिपटकर ऊंच नीच की व्याख्या करते हैं। इस कारण देश और समाज में घोर विषमता और अव्यवस्था फैल रही है। कुलीनता की तराजू पर जिस दिन उच्चता नीचता तोली जायेगी, उसी दिन लोगों की भ्रान्ति भाग जायेगी। उस समय यह स्पष्ट होगा कि यह संकीर्ण जातिवाद समाज की बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है।

संस्कारिता, नागरिकता, राष्ट्रीयता और धर्मशीलता के पारस्परिक संबंध के विषय में विचार किया जा चुका है। अब यह विचार करना है कि इन सब सद्गुणों का विकास मानव समाज में कब, किस प्रकार होता है? जरा गहराई से विचार किया जाय तो स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि उपर्युक्त सद्गुणों का उद्भव स्थान गृहसंस्कार हैं। माता–पिता के सद्व्यवहार से गृह–संस्कार सुधरते हैं। यही गृह संस्कार सुधरते सुधरते कुटुम्ब संस्कार का रूप धारण करते हैं और जब उन कौटुम्बिक संस्कारों का क्षेत्र कुछ विस्तीर्ण होता है, तब वे संस्कार सम्पूर्ण कुल के संस्कार बन जाते हैं। इस प्रकार कुल के संस्कार, गृह और कुटुम्ब के संस्कारों में से घड़े हुए विस्तीर्ण संस्कार मात्र हैं।

कुल की संस्कृति से जिस कुलीनता का उद्भव होता है, वही कुलीनता मानव–समाज मे सुख–शांति का बीजारोपण करती है। कुल के आचार–विचार विकसित होते होते जाति के आचार विचार बनते हैं। जाति

के आचार–विचार संघ के आचार–विचार के रूप में परिणत हो जाते हैं और संघ के आचार–विचार का प्रभाव समूचे राष्ट्र पर पड़े बिना नहीं रहता।

भलीभांति विचार करो तो जान पड़ेगा कि मानव समाज की, सुख–शांति की वृद्धि करने में कुलधर्म का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज विश्वशांति खतरे में पड़ी हुई है। इसके अनेक कारणों में से एक कारण कुलधर्म की अवहेलना भी है।

कुल–धर्म क्या है? कुलधर्म मानव समाज का कितना कल्याण साधन कर सकता है? कुलधर्म के पुनरुद्धार से समाज, धर्म और राष्ट्र का कल्याण किस प्रकार हो सकता है? इन प्रश्नों पर यहां संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा।

परिजनों का समूह कुल कहलाता है। धर्म का अर्थ कर्त्तव्य है। परिजनों के समूह का आचार विचार कुलाचार कहलाता है।

जिस आचार–विचार, व्यवहार और कार्यपद्धति से कुल की प्रतिष्ठा, खानदानी, मानमर्यादा बढ़ती है, कुल ऊंचा उठता है, अर्थात् कुल में 'कुलीनता' आती है, वह आचार विचार, व्यवहार और कार्य पद्धति 'कुलधर्म' है।

कुल का क्षेत्र काफी विस्तीर्ण है। कुल की मर्यादा में कुटुम्ब का और घर की मर्यादा का समावेश हो जाता है।

कुल के संस्कारों को विशुद्ध बनाने के लिए सबसे पहले घर के और कुटुम्ब के संस्कार सुधारने की आवश्यकता होती है, क्योंकि घर संस्कृति का सृजन करने की सजीव शाला है। नन्हे–नन्हे बालक उस शाला के शिष्य हैं और माता पिता उनके शिक्षक हैं।

ज्यों–ज्यों बालक की संस्कृति का क्षेत्र बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसके गृहसंस्कार, कुटुम्बसंस्कार के रूप में परिणत होते जाते हैं। बालक जब थोड़ा बड़ा होता है, तब वह घर का आंगन छोड़कर, कुटुम्ब के आंगन में पैर धरता है और वहां के संस्कार ग्रहण करता है। अपने घर में ही मिले हुए संस्कारों को और पड़ोसी कुटुम्बी के घर में मिले हुए संस्कारों का बालक में समिश्रण होता रहता है। पर जैसे–जैसे बालक की बुद्धि का विकास होता जाता है, वह गृहसंस्कारों और कुटुम्ब संस्कारों का पृथक्करण करता चला जाता है। फिर भी गृहसंस्कार और कुटुम्ब के संस्कार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में मुख्य रूप से भाग लेते हैं।

बालक जब कुछ और बड़ा होता है, तब वह घर और कुटुम्ब का भी आंगन छोड़कर गलियों में खेलना सीखता है और फिर गलियों में से कुल के

घरों तक जा पहुंचता है। वहां उसे नवीन संस्कार मिलते हैं। और वह उन्हें अपनाता जाता है। अन्त में वह कुलधर्म को समझने लगता है और उसी के अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न भी करता है।

जब बालक की बुद्धि कुलधर्म को समझने के योग्य परिपक्व हो जाती है, तब वह यह भी समझले लगता है कि उसका कुलधर्म मुख्य रूप से दो भागों में बंटा हुआ है। एक कुलधर्म लौकिक है, जो माता पिता, सगेसंबंधी तथा अन्य गुरुजनों की आज्ञा पालन करते हुए वंशवृद्धि का, वंश के पालन का, वंश की व्यवस्था का और लोक जीवन की समुचित शिक्षा–दीक्षा का उपदेश देता है। दूसरा कुलधर्म लोकोत्तर है, जो लौकिक जीवन को सफल बनाने का उपदेश देकर मुक्तिमार्ग की ओर अग्रसर होने की शिक्षा देता है।

लौकिक कुलधर्म और लोकोत्तर कुलधर्म, दोनों की शिक्षा दीक्षा देने की प्रणाली भले ही भिन्न जान पड़ती हो, मगर दोनों का आदर्श एक ही है। मानव समाज में शाश्वत सुख शांति की स्थापना करना। लौकिक कुलधर्म इस आदर्श पर पहुंचने के लिए शुभ प्रवृत्ति मार्ग का विधान करता है और लोकोत्तर कुलधर्म शुभ निवृत्ति मार्ग का। और यह शुभ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति ही धर्म का परिपूर्ण रूप है।

शाश्वत सुख–शांति प्राप्त करने के कुलधर्म के मूल आदर्श को प्राप्त करने के लिए निवृत्तिमार्ग, प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा अधिक सीधा है, परन्तु आचरण में वह कठिन है। जबकि प्रवृत्तिमार्ग विकृत होने पर भी सुगम है।

साधारण मनुष्यों के लिए निवृत्तिमार्ग सरल नहीं है। यह मार्ग उन मुनि महात्माओं के लिए है, जो सांसारिक भोग तृष्णा से विमुख होकर केवल मोक्ष की सिद्धि के लिए ही सदा प्रयत्नशील रहते हैं। और यह शुभ प्रवृत्ति के चक्करदार मार्ग से जाने वाले बहुत हैं। उनमें से जो लोग कुलधर्म के ध्येय के अनुसार सदाचार और सद्‌विचार (सूत्र चारित्र धर्म) का सेवन करेंगे, वे धीरे–धीरे निवृत्ति मार्ग द्वारा मोक्षमार्ग में पहुंच सकेंगे।

लोकोत्तर कुलधर्म के मार्ग पर चलने वालों को भी लोकोत्तर गुरु की पाठशाला में समभाव, सहिष्णुता, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र आदि की विधिपूर्वक दीक्षा लेनी पड़ती है। गुरु के समीप समुचित रूप से शिक्षा दीक्षा लेने वाला मोक्षार्थी शिष्य लोकोत्तर कुलधर्म का पालन कर सकता है और शनैः शनैः अन्त में मुक्ति लाभ कर सकता है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि निवृत्तिमार्ग पर चलकर सूत्र—चारित्र धर्म का आराधना करना ही धर्म है। इसके अतिरिक्त प्रवृत्तिमार्ग एकान्त पापमार्ग है। यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। जो ऐसी मान्यता रखते हैं उनसे पूछना चाहिए कि सत्यवृत्ति द्वारा कुल को आदर्श उन्नत बनाना भी क्या पाप है? अगर कुल को आदर्श उन्नत बनाना पापमय प्रवृत्ति है तो कुल को अधोगति में गिराना क्या धर्म है?

लौकिक कुलधर्म का सम्यक् प्रकार से पालन करना सरल नहीं है। सच्ची कुलीनता प्राप्त करने के लिए निरन्तर अध्यवसाय करने की आवश्यकता रहती है। प्राण भले ही चले जाएं, मगर सच्चा कुलधर्मी अपने पूर्वजों से चले आये सद्व्यवहार का त्याग नहीं कर सकता। कुलधर्मी भूखा मर जायेगा, परन्तु पेट की आग बुझाने के लिए वह चोरी या असत्य का आचरण करना वज्रपात के समान दुःख मानेगा।

राणा प्रताप ने केवल कुलधर्म की टेक रखने के लिए, कुलधर्म की रक्षा के लिए स्वेच्छापूर्वक अनेक दुःखों की परम्परा स्वीकार की थी। उन्होंने अपना वश चलते अपने कुल की स्वतन्त्रता नहीं बिकने दी। मनुष्य की कुलीनता की कसौटी दुःख के प्रसंग पर ही होती है। जो पुरुष संकट के समय अपनी कुलीनता की रक्षा करता है, वही कुलधर्म का पालन करके कुलीन बनता है।

आज सर्व साधारण में यह मान्यता प्रचलित हो गई है कि उच्च कहलाने वाले कुल में जन्म लेने से ही कुलीनता आ जाती है। किन्तु वास्तव मे ऐसी बात नहीं है। मनुष्य की कुलीनता उसकी कुलमर्यादा के अनुसार सत्प्रवृत्तियो पर अवलंबित है।

भगवान महावीर ने जातिवाद के बदले गुणवाद को बहुत महत्त्व दिया है। ❑ शास्त्र में कहा है—

❑ जातिवाद और गुणवाद में युग—युगान्तर से तीव्र संघर्ष होता आया है। जातिवाद को बर्बाद करने के लिए गुणवाद ने और गुणवाद को मटियामेट करने के लिए जातिवाद ने अपना अपना बल आजमाया है। मगर मानव शक्ति के मुकाबले पाशविक शक्ति सदा ही परास्त हुई। गुणवाद का प्रचार करने के लिए भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध तथा अनेक महर्षियों ने प्रबल प्रयत्न किये हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा उपदिष्ट श्री आचारांग, उत्तराध्ययन आदि जैन सूत्रों में धम्मपद और सुत्तनिपात, संयुत्तनिकाय आदि बौद्ध ग्रन्थों में तथा भगवद् गीता, उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थों में गुणवाद से संबंध रखने वाली प्रचुर सामग्री आज भी उपलब्ध होती है।

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वेइसो होइ, कम्मुणा होइ सुद्दओ।। उत्त.

अर्थात्–कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

वास्तव में कोई मनुष्य उच्च कुल में जन्म लेने मात्र से उच्च नहीं हो जाता। इसी प्रकार नीच कुल में जन्म लेने मात्र से कोई नीच नहीं होता। उच्चता और नीचता मनुष्य की अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों पर अवलंबित है। मनुष्य सत्प्रवृति के द्वारा अपना चरित्र उच्च बनाएगा तो वह उच्च बन सकेगा। जो दुष्प्रवृत्ति करेगा वह नीच कहलाएगा। इसी प्रकार नीच कुल में जन्म लेने पर भी सत्प्रवृत्ति करने वाला पुरुष उच्च बन सकता है। नीच कुल में जन्म लेकर सत्प्रवृत्ति द्वारा ऊंचे दर्जे के महात्मा बने हुए हरिकेशी और मातंग जैसे धर्मगुरुओं का बखान धर्मशास्त्रों में पाया जाता है।

आज कुलीनता के आधार पर ऊंच नीच, स्पृश्य–अस्पृश्य का विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञान होगा कि जातिवाद समाज की एक बड़ी बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है। इसीलिए भगवान् महावीर स्वामी ने गुणवाद का आदर्श जगत के सामने प्रस्तुत करके जातिवाद की बुराई दूर करने का अथक प्रयास किया था। उन्होंने गुणवाद द्वारा मानव जीवन के विकास द्वारा, विश्वशांति का संदेश जगत को सुनाया था। भगवान् महावीर का वह दिव्य संदेश आज हम लोगों को फिर से एक बार सुनने की आवश्यकता है। अगर हम उस दिव्य संदेश को सुनें और समझ सकें तो देश में आज ऊंच नीच की, स्पृश्य अस्पृश्य की जो जटिल समस्या उत्पन्न हो गई है, उसका सहज ही समाधान हो सकता है।

आज लोग कुलधर्म–कुलीनता को भूलकर केवल 'कुल' से चिपट कर ऊंच नीच की व्याख्या करते हैं। इस कारण देश और समाज में घोर विषमता और अव्यवस्था फैल रही है। कुलीनता की तराजू पर जिस दिन उच्चता नीचता तोली जायेगी, उसी दिन लोगों की भ्रान्ति भाग जायेगी। उस समय साफ मालूम होगा कि यह संकीर्ण जातिवाद, समाज की बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है।

कुलीनता धर्मसाधन का एक अंग है। जब तक मनुष्य अपने कुलधर्म का भलीभांति पालन न करे तब तक वह श्रुत–चारित्रधर्म और आत्मिक धर्म का आचरण करने में समर्थ नहीं हो सकता। श्रुत चारित्रधर्म का आधार कुलधर्म है। जहां कुलधर्म न होगा वहां आत्मिक धर्म कैसे रह सकता है?

कुछ लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि कुलधर्म सांसारिक कर्त्तव्य की शिक्षा देता है, ऐसी स्थिति में उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है? यह तर्क भ्रमपूर्ण है। तर्क करने वाले को जानना चाहिए कि कुल धर्म जैसे लौकिकधर्म की शिक्षा देता है, उसी प्रकार लोकोत्तर धर्म की भी शिक्षा देता है। इसके अतिरिक्त लोकोत्तर धर्म का आधार लौकिक धर्म है। अतएव अगर लौकिक धर्म व्यवस्थित रूप से नहीं चले तो लोकोत्तर धर्म भी खतरे में पड़ जाता है। इसीलिए भगवान महावीर ने लौकिक और लोकोत्तर धर्म का समन्वय किया है। श्रावक श्राविका लौकिक धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं और साधु तथा साध्वी लोकोत्तर धर्म का। चतुर्विध संघ के यह चार प्रतिनिधि आपस की सहमति पूर्वक संबंध न रक्खें तो जैनधर्म जोखिम में पड़ जाय। भगवान् महावीर के द्वारा की हुई संघशासन की योजना इतनी सुन्दर और सुव्यवस्थित है कि इसी योजना के कारण आज जिनशासन निर्विघ्न रूप से प्रवृत्त रहा है।

लौकिक धर्म के प्रतिनिधियों–श्रावक श्राविकाओं–को लौकिक धर्म का यथावत् पालन करना चाहिए और लोकोत्तर धर्म के प्रतिनिधियों–साधु–साध्वियों– को लोकात्तर धर्म का यथायोग्य पालन करना चाहिए। इस प्रकार भगवान् के अनुयायी जब लौकिक और लोकोत्तर कुल धर्म का भलीभांति पालन करेंगे तब भगवान के ही शब्दों में 'जाइसम्पण्णे'– जातिसम्पन्न और 'कुल सम्पण्णे' अर्थात् कुल सम्पन्न बनेंगे। तभी कुलीनता रूप धर्मगुण प्रकट होगा। यही धर्मगुण समाज और देश में सुख शान्ति का बीजारोपण करेगा।

6 : गण धर्म

(गण धम्मे)

गणतन्त्र, प्रजातन्त्र भारतवासियों की पुरानी वसीयत है। अगर हमारे अन्दर अन्याय मात्र का सामना करने का नैतिक बल मौजूद हो तथा निस्सार मतभेदों एवं स्वार्थों को तिलांजलि देकर राष्ट्र, समाज और गणधर्म की रक्षा करने के लिए वलिदान करने की क्षमता आ जाय तो किसका सामर्थ्य है जो हमें अपने पूर्वजों की सम्पत्ति के अधिकार या उपयोग से वंचित कर सके? गणधर्म में जो असीम शक्ति विद्यमान है, उसका अगर हम लोग सदुपयोग करना सीख लें तो जैनधर्म विश्व में सूर्य की भांति चमक उठे।

गण अर्थात् समूह। गण का प्रत्येक सभ्य राष्ट्र की प्रतिष्ठा तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी रहे, उसे कहते हैं गणतन्त्र। सवल के द्वारा निर्वल का सताया जाना या इसी प्रकार का कोई दूसरा अत्याचार गणतन्त्र कभी सहन नहीं कर सकता। निर्वल की सहायता करना, निर्वल को न्याय दिलाने के लिए सर्वस्व का भोग देना पड़े तो भी पैर पीछे न हटाना, यह गणधर्म पालने वालों का महान् व्रत होता है।

गणतन्त्र की यह व्यवस्था आधुनिक प्रजासत्तात्मक राज्य प्रणाली से तनिक भी उतरती श्रेणी की नहीं थी। जैनधर्म में नवलिच्छी और नवमल्ली जाति के अठारह गण राज्यों का गणतन्त्र इतिहास में प्रसिद्ध है। अठारह गणराज्यों का वह गणतन्त्र सवलों द्वारा सताई जाने वाली निर्वल प्रजा को पीड़ा से मुक्त कराने के लिए और उनकी सुख–शांति की व्यवस्था करने के लिए तन, मन, धन का व्यय करने में नहीं झिझकता था। असहायों की सहायता करने में ही गौरव मानता था।

गणतन्त्र की इस पद्धति में गणधर्म का पालन करने वाली प्रजा को कितना सहना पड़ता था उसका इतिहास प्रसिद्ध उल्लेख▲ जैन शास्त्रों के श्री निरावलिका तथा भगवती सूत्र।) में देखने को मिलता है।

कहते हैं, जब बड़े भाई कोणिक को मगध का महाराज्य मिला तो विहल्लकुमार कोणिक का छोटा भाई अपने मातामह राजा चेटक के पास आकर रहने लगा। राजा कोणिक ने वैशाली में जा निवास करने वाले विहल्लकुमार से हाथी और हार की मांग की। मगध सम्राट कोणिक को हाथी और हार मांगने का कोई अधिकार नहीं था। कोणिक को मगध का राजसिंहासन मिला था और अन्य भाइयों को भी अपना अपना हिस्सा मिला था। पर कोणिक को अपनी सत्ता और शक्ति का मद था। विहल्लकुमार जहां आकर रहने लगा था वहां गणतन्त्र की सहायता से राज्य व्यवस्था होती थी। वैशाली के गणतन्त्र के संचालक राजा चेटक थे। जब चेटक को कोणिक के अन्याय का पता चला तो उन्होंने अठारह राज्यों को एकत्र किया और कोणिक के अत्याचार का सामना करने की सलाह दी। उसने कहा--

जैसे विहल्लकुमार के अन्य ग्यारह भाइयों को राज्य में से हिस्सा मिला है उसी प्रकार विहल्लकुमार को उसके माता पिता की ओर से यह हार और हाथी मिला है। इन वस्तुओं पर कोणिक का कुछ भी अधिकार नहीं है। कोणिक अन्याय पूर्वक अपनी सत्ता के मद में चूर होकर विहल्लकुमार को दबाना चाहता है।

गणतन्त्र के अट्ठारह राजाओं ने कोणिक के अत्याचार के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया। यह भी निर्णय हुआ कि अगर युद्ध करने का अवसर आवे तो गणतन्त्र के समस्त राजा एक साथ मिलकर चेटक की सहायता करेंगे। इस घटना से सहज ही समझा जा सकता है कि गणतन्त्रों में अथवा प्रजातन्त्र की राज्य व्यवस्था में प्रजा के सिर पर कितना गम्भीर उत्तरदायित्व होता है। विहल्लकुमार सिर्फ राजा चेटक का भानेज (भागिनेय) था उसके साथ अन्य राजाओं की कोई रिश्तेदारी नहीं थी। फिर भी उन्होंने अत्याचार के विरुद्ध युद्ध करने का और विहल्लकुमार को अत्याचार से बचाने का निश्चय किया।

जो प्रजा अन्याय और अत्याचार का अपने पूरे बल के साथ सामना नहीं कर सकती अथवा जो अपने तुच्छ स्वार्थों में ही संलग्न रहती है, वह प्रजा इस प्रकार के लिए. गणतन्त्र के लिए अपनी योग्यता साबित नहीं कर सकती।

▲ देखो श्री निरावलिका तथा भगवती सूत्र

6 : गण धर्म

(गण धम्मे)

गणतन्त्र, प्रजातन्त्र भारतवासियों की पुरानी वसीयत है। अगर हमारे अन्दर अन्याय मात्र का सामना करने का नैतिक बल मौजूद हो तथा निस्सार मतभेदों एवं स्वार्थों को तिलांजलि देकर राष्ट्र, समाज और गणधर्म की रक्षा करने के लिए बलिदान करने की क्षमता आ जाय तो किसका सामर्थ्य है जो हमें अपने पूर्वजों की सम्पत्ति के अधिकार या उपयोग से वंचित कर सके? गणधर्म में जो असीम शक्ति विद्यमान है, उसका अगर हम लोग सदुपयोग करना सीख लें तो जैनधर्म विश्व में सूर्य की भांति चमक उठे।

गण अर्थात् समूह। गण का प्रत्येक सभ्य राष्ट्र की प्रतिष्ठा तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी रहे, उसे कहते हैं गणतन्त्र। सबल के द्वारा निर्बल का सताया जाना या इसी प्रकार का कोई दूसरा अत्याचार गणतन्त्र कभी सहन नहीं कर सकता। निर्बल की सहायता करना, निर्बल को न्याय दिलाने के लिए सर्वस्व का भोग देना पड़े तो भी पैर पीछे न हटाना, यह गणधर्म पालने वालों का महान् व्रत होता है।

गणतन्त्र की यह व्यवस्था आधुनिक प्रजासत्तात्मक राज्य प्रणाली से तनिक भी उतरती श्रेणी की नहीं थी। जैनधर्म में नवलिच्छी और नवमल्ली जाति के अठारह गण राज्यों का गणतन्त्र इतिहास में प्रसिद्ध है। अठारह गणराज्यों का वह गणतन्त्र सबलों द्वारा सताई जाने वाली निर्बल प्रजा को पीड़ा से मुक्त कराने के लिए और उनकी सुख–शांति की व्यवस्था करने के लिए तन, मन, धन का व्यय करने में नहीं झिझकता था। असहायों की सहायता करने में ही गौरव मानता था।

गणतन्त्र की इस पद्धति में गणधर्म का पालन करने वाली प्रजा को कितना सहना पड़ता था उसका इतिहास प्रसिद्ध उल्लेख▲ जैन शास्त्रों के श्री निरावलिका तथा भगवती सूत्र।) में देखने को मिलता है।

कहते हैं, जब बड़े भाई कोणिक को मगध का महाराज्य मिला तो विहल्लकुमार कोणिक का छोटा भाई अपने मातामह राजा चेटक के पास आकर रहने लगा। राजा कोणिक ने वैशाली में जा निवास करने वाले विहल्लकुमार से हाथी और हार की मांग की। मगध सम्राट कोणिक को हाथी और हार मांगने का कोई अधिकार नहीं था। कोणिक को मगध का राजसिंहासन मिला था और अन्य भाइयों को भी अपना अपना हिस्सा मिला था। पर कोणिक को अपनी सत्ता और शक्ति का मद था। विहल्लकुमार जहां आकर रहने लगा था वहां गणतन्त्र की सहायता से राज्य व्यवस्था होती थी। वैशाली के गणतन्त्र के संचालक राजा चेटक थे। जब चेटक को कोणिक के अन्याय का पता चला तो उन्होंने अठारह राज्यों को एकत्र किया और कोणिक के अत्याचार का सामना करने की सलाह दी। उसने कहा–

जैसे विहल्लकुमार के अन्य ग्यारह भाइयों को राज्य में से हिस्सा मिला है उसी प्रकार विहल्लकुमार को उसके माता पिता की ओर से यह हार और हाथी मिला है। इन वस्तुओं पर कोणिक का कुछ भी अधिकार नहीं है। कोणिक अन्याय पूर्वक अपनी सत्ता के मद में चूर होकर विहल्लकुमार को दबाना चाहता है।

गणतन्त्र के अट्ठारह राजाओं ने कोणिक के अत्याचार के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया। यह भी निर्णय हुआ कि अगर युद्ध करने का अवसर आवे तो गणतन्त्र के समस्त राजा एक साथ मिलकर चेटक की सहायता करेंगे। इस घटना से सहज ही समझा जा सकता है कि गणतन्त्रों में अथवा प्रजातन्त्र की राज्य व्यवस्था में प्रजा के सिर पर कितना गम्भीर उत्तरदायित्व होता है। विहल्लकुमार सिर्फ राजा चेटक का भानेज (भागिनेय) था उसके साथ अन्य राजाओं की कोई रिश्तेदारी नहीं थी। फिर भी उन्होंने अत्याचार के विरुद्ध युद्ध करने का और विहल्लकुमार को अत्याचार से बचाने का निश्चय किया।

जो प्रजा अन्याय और अत्याचार का अपने पूरे बल के साथ सामना नहीं कर सकती अथवा जो अपने तुच्छ स्वार्थों में ही संलग्न रहती है, वह प्रजा इस प्रकार के लिए, गणतन्त्र के लिए अपनी योग्यता साबित नहीं कर सकती।

▲ देखो श्री निरावलिका तथा भगवती सूत्र

गणतन्त्र के संचालक राजागण चाहते तो युद्ध की भयानकता और हिंसा की आड़ में अपना बचाव कर सकते थे और विहल्लकुमार को कोणिक की दया पर छोड़ सकते थे। परन्तु वे समझते थे कि गणतंत्र में इस प्रकार लंगड़े बचाव को तनिक भी स्थान नहीं है।

अगर छोटे से छोटा भी अत्याचार सहन कर लिया जाय तो गणतन्त्र का आसन दूसरे ही क्षण कांपने लगेगा। गणधर्म के धुरन्धर अवसर आने पर कोणिक जैसे शक्तिशाली सम्राट से भी युद्ध करने को तैयार हो गये। नव मल्ली जाति के और नव लिच्छी जाति के इस प्रकार अठारह राजा चेटक की सहायता करने आ डटे।

गणतन्त्र की प्रतिष्ठा की रक्षा के साथ ही, एक के आश्रय में आये हुए राजकुमार के साथ होने वाले अन्याय का प्रतिकार और उसके अधिकार का संरक्षण! यही इस युद्ध का मूल कारण था।

सम्भव है किसी को यह आशंका उत्पन्न हो कि सत्कार्य को धर्म कहते हैं। यहां तो सिर्फ हार और हाथी न देने के कारण ही घोर संग्राम हुआ। इस संग्राम में असंख्य आदमियों के प्राण गये होंगे, ऐसी स्थिति में अगर हार और हाथी लौटा दिया जाता तो न संग्राम होता और न अनगिनती जानें जातीं। तब हार और हाथी न लौटाकर युद्ध क्यों छेड़ा गया? क्या यह युद्ध धर्मयुद्ध गिना जा सकता है?

यह प्रश्न विचारणीय है। इसका समाधान एक शास्त्रीय उदाहरण देने से अधिक स्पष्ट होगा।

राजा परदेशी ने केशी श्रमण के साथ खूब धर्म चर्चा की। अन्त में राजा केशीश्रमण 'खमाये' (क्षमायाचना किये) बिना ही जाने को तैयार हुआ। तब केशी श्रमण ने कहा—राजन्! तुमने लम्बे समय तक मेरे साथ बहुत सी आड़ी टेढ़ी बातें की हैं और अन्त में खमाये बिना ही चले जा रहे हो। क्या यह साधु की अवज्ञा नहीं है?

राजा परदेशी ने उत्तर दिया—मैं यह भली भांति समझता हूं। आपसे क्षमायाचना न करने की मेरी भावना भी नहीं है। मेरा इरादा यह है कि मैं परिवार सहित, सेना लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होऊं और आपसे क्षमायाचना करूं।

यहां विचारणीय बात यह है कि अगर राजा उसी समय क्षमायाचना कर लेता तो जीव हिंसा कम होती। परिवार और सेना सहित आकर क्षमायाचना करने में जीवहिंसा बहुत होगी। ऐसी स्थिति में सेना और परिवार

के साथ आकर क्षमायाचना करने में ही राजा परदेशी का क्या आशय रहा होगा?

अगर परिवार और सेना सहित आकर क्षमायाचना करने में अधिक हिंसा होने की सम्भावना थी, तो केशीश्रमण राजा से कह सकते थे अगर तुम्हें 'खमाना' है तो इसके लिए परिवार को लाने की क्या आवश्यकता है? ऐसा करने में बहुत अधिक हिंसा होगी। मगर केशीश्रमण स्वामी ने ऐसा कहकर राजा को रोका नहीं। इसका कारण क्या है?

विचार करने पर प्रतीत होता है कि राजा ने अकेले में नहीं खमाया इसका अर्थ यह है कि सपरिवार खमाने के लिए आने में धर्म की असाधारण प्रभावना होती है। जन समाज के ऊपर राजा के व्यवहार का गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे धर्म का विशिष्ट उद्योत होता है।

इसी उद्देश्य से केशी श्रमण ने राजा परदेशी को सेना सहित खमाने के लिए आने का निषेध नहीं किया। साथ ही आने जाने से द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की विराधना की सम्भावना होने के कारण उन्होंने सेना और परिवार सहित आने का आग्रह भी नहीं किया। इस प्रकार केशी स्वामी ने न तो राजा को आने की आज्ञा दी और न उनके आने का निषेध ही किया। उदाहरण से सहज ही समझा जा सकता है कि अधर्म और धर्म का विचार करते समय हमें अनेक दृष्टियों से विचार करना चाहिए। केवल आरम्भ समारम्भ को देखना और उससे होने वाले धार्मिक लाभ की ओर से आंख फेर लेना न्याययुक्त नहीं कहला सकता।

राजा परदेशी मूर्ख न था, वह ज्ञानी था। कदाचित् राजा को अज्ञानी भी मान लिया तो केशी श्रमण तो विशिष्ट ज्ञानी थे। अगर राजा को ऐसा करना उचित न था तो केशी श्रमण ने उसे क्यों नहीं रोक दिया?

कदाचित् तुम्हें यह शंका हो कि राजा परदेशी की बात श्रुत चारित्र धर्म से संबंध रखती है, अतएव यह एक जुदी बात है। महाराज कोणिक की बात गणधर्म से संबंध रखती है, अतएव यह एक अलग ही प्रश्न है। दो विभिन्न धर्मों को एक ही कोटि में कैसे रक्खा जा सकता है?

यहां तो प्रश्न यह है कि अगर हार और हाथी को वापस न लौटाया जाय तो बहुत से मनुष्यों के प्राण जाएंगे, ऐसी स्थिति में यह युद्ध कैसे उचित कहा जा सकता है?

प्रश्न ठीक है। जैसे अकेला परदेशी राजा 'खमा' कर चला गया होता तो श्रुत चारित्र धर्म का प्रभाव जन समाज और सेना पर न होता। इस

प्रकार गणधर्मी राजा न्याय अन्याय का विचार न करके, केवल युद्ध की भयंकरता का ही विचार करते और कोणिक को हार हाथी सौंप देते और शरणागत विहल्लकुमार की सहायता न करते तो प्रजा के ऊपर गणधर्म की महत्ता का प्रभाव न पड़ता। इतना ही नहीं, वरन् इस स्थिति में प्रजा गणधर्म को कायरधर्म कहती और उसकी महता मिट्टी में मिल जाती। उस समय प्रजा एक स्वर से कहती कि ऐसा डरपोक धर्म किस मर्ज की दवा है?

इस प्रकार हार और हाथी लौटा देने से अगर गणधर्म जोखिम में पड़ जाता तो संघधर्म की रक्षा होती या उसका विनाश होता? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गणधर्म की रक्षा में संघधर्म की रक्षा है। और गणधर्म के विनाश में संघधर्म का भी विनाश है।

जब तक सिर पर आकर नहीं पड़ा तब तक तो गणधर्म का स्वांग रचा और जब गणधर्म को कार्य में परिणत करने का नाजुक प्रसंग आया तो गणधर्म को छोड़ दिया। इस प्रकार की लोकनिन्दा कोणिक को हार और हाथी लौटा देने से सर्व साधारण में फैल जाती। गणधर्म के इस अवर्णवाद से गणधर्म और राजधर्म कलंकित हो जाते। जैसे परदेशी को सेना और परिवार के साथ क्षमायाचना करने के लिए आने से सम्यक्तव का लाभ हुआ, इसी प्रकार गणधर्म और राजधर्म की कायरता का कलंक दूर करने के लिए अन्याय, अत्याचार के प्रतिकार की दृष्टि से और शरणागत विहल्लकुमार की रक्षा की दृष्टि से, कोणिक को हार और हाथी न लौटाने में ही गणधर्म का लाभ था। इसके लिए युद्ध करना आवश्यक हो गया था।

यह युद्ध जैनसूत्रों में 'महाशिलाकंटक' तथा 'रथमूसल' संग्राम के नामों से प्रसिद्ध है। इसमें बहुत से आदमी मारे गये। युद्ध में दैवी सहायता से कोणिक की विजय हुई मगर इतना होने पर भी गणतन्त्र के धुरन्धरों ने भारी खतरा उठाकर भी अपने गणतन्त्र की प्रतिष्ठा रख ली।

गणतन्त्र–धर्म की रक्षा करते हुए जितने मनुष्यों का घात हुआ, उन सबका महान पाप मुख्यतः कोणिक के हिस्से में आता है, क्योंकि उसीने अन्याय का पक्ष लेकर चढ़ाई आरम्भ की थी। गणतन्त्र का उद्देश्य सिर्फ न्याय की रक्षा करना था।

हम लोग भी आरम्भ समारम्भ को धर्म नहीं मानते। परन्तु धर्म की रक्षा करना तो आवश्यक ही है।

आरम्भ समारम्भ के बहाने से आजकल लोगों ने अपनी धर्मबुद्धि को तिलांजलि दे दी है। केवल इसी कारण अनेक सामान्य लोग जैनधर्म को

डरपोक धर्म मान बैठे हैं। चेटक राजा तथा नव–लिच्छी और नव–मल्ली राजा भगवान् महावीर स्वामी के भक्त थे। फिर भी उन्होंने गणधर्म की रक्षा करने और उसकी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए यह युद्ध किया। पहले के मनुष्य इतने विचारशील और धर्मशील थे कि अन्याय को रोकने के लिए अगर युद्ध करना अनिवार्य हो जाय तो उससे एक भी कदम पीछे नहीं हटते थे। वे लोग शरणागत को शरण न देना और उसे न्याय न दिलाना जरा भी उचित नहीं समझते थे।

जो मनुष्य शरण में आये हुए का त्याग कर देता है अर्थात् उसे आश्रय नहीं देता, वह कायर है। जो सच्चा वीर है, जो महावीर भगवान् का सच्चा अनुयायी सेवक है, जो उदार और धर्मात्मा है, वह अपना सर्वस्व निछावर करके भी शरणागत की रक्षा और सेवा करता है।

इस युद्ध में जितने मनुष्यों का वध हुआ, उनकी हत्या का पाप मुख्यतः महाराज कोणिक के ऊपर इसलिए डाला जाता है कि उसने अन्याय का पोषण करने के लिए युद्ध का बीजारोपण किया था।

गणतन्त्र के नायकों ने महाराज कोणिक को युद्ध न करने के लिए और राजकुमार विहल्लकुमार के प्रति अन्याय पूर्ण व्यवहार न करने के लिए खूब समझाया। फिर भी जब कोणिक ने अन्याय का पक्ष न छोड़ा और युद्ध के लिए तैयारी करता दिखाई दिया तो विवश होकर उन्होंने सत्य और न्यायधर्म का पक्ष लिया। शरणागत की और गणधर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना उनके लिए अनिवार्य हो गया।

चेटक राजा, नवमल्ली और नवलिच्छी जाती के अट्ठारह राजा सम्यग्दृष्टि थे, और कोणिक भी यद्यपि पहले भगवान् महावीर का भक्त था, परन्तु इस समय उसने अन्याय का पक्ष ग्रहण किया था।

एक मनुष्य अगर दुष्ट भाव से प्रेरित होकर एक चींटी की हिंसा करता है तो वह पापी है। किन्तु एक चक्रवर्ती राजा, जो अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए अपनी चतुरंगी सेना को युद्ध के लिए तैयार करता है, अपराधी नहीं कहलाता। इसका प्रधान कारण यह है कि चक्रवर्ती सम्राट स्वार्थ साधन के लिए, दुष्ट भाव से प्रेरित होकर नहीं वरन् अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए, विवश होकर युद्ध करता है।

अगर अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए कदम न उठाया जाय तो संसार में अन्याय का साम्राज्य फैल जायेगा और धर्म का पालन करना असम्भव हो जायेगा। जब कि दूसरी तरफ कीड़ी को मारने

वाला मनुष्य संकल्पजन्य हिंसा करने वाला मनुष्य संकल्पजन्य हिंसा करके अपराधी बनता है।

महाराजा कोणिक ने जान–बूझकर हिंसा की परिस्थिति खड़ी की और अन्याय करने पर उतारू हो गया। इस कारण कोणिक को निरपराधों की हिंसा करने का पाप लगा, ऐसा कहा जा सकता है। गणतंत्र के नायकों ने केवल अन्याय और अत्याचार का विरोध करने की दृष्टि से, विवश होकर युद्ध किया, अतएव इस हिंसा का अपराध गणनायकों को नहीं लग सकता।

गणधर्म के स्वरूप के विषय में अगर हम जरा गम्भीरता से विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि गणधर्म और आज का राष्ट्रधर्म एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं है। आज की राष्ट्रीयता अपने गणधर्म का एक नवीन संस्करण ही है। राष्ट्रधर्म के प्राणों के समान गणधर्म को दिखाने के लिए प्रजा के प्रत्येक सभ्य को धैर्यबल और आत्मभोग कितनी मात्रा में प्राप्त करना चाहिए, यह बात गणधर्म का स्वरूप समझ लेने से स्पष्ट हो जायेगी।

गणतन्त्र–प्रजातन्त्र भारतवासियों की पुरानी वसीयत है। अगर हम में अन्याय मात्र का सामना करने का नैतिक बल मौजूद हो तथा निस्सार मतभेदों एवं स्वार्थों को तिलांजलि देकर राष्ट्र समाज और गणधर्म की रक्षा करने के लिए बलिदान करने की क्षमता आ जाय तो फिर किसका सामर्थ्य है जो हमें अपने पूर्वजों की सम्पत्ति के अधिकार या उपभोग से वंचित कर सके? गणधर्म में जो असीम शक्ति विद्यमान है, उसका अगर हम लोग सदुपयोग करना सीख लें तो जैनधर्म विश्व में सूर्य की भांति चमक उठे।

7 : संघ धर्म

(संघ धम्मे)

सुखा संघस्य सामग्गी, समग्गानं तपो सुखी।

अर्थात्–संघ की सामग्री (एकता संगठन) सुखकारक है और ऐक्य–संगठन पूर्वक रहने वाले श्रावक–श्राविका, साधु–साध्वी समस्त संघ का तपश्चरण भी सुखकारक होता है।–सुत्तनिपात

जैनधर्म और संघधर्म का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। संघधर्म जैनधर्म रूप विशाल प्रासाद का जीवन–स्तम्भ है। जैसे धर्मी के बिना धर्म नहीं टिक सकता, इसी प्रकार संघधर्म के बिना जैनधर्म नहीं टिक सकता।

स्त्री और पुरुष गृहस्थ–जीवन रूपी रथ के दो चक्र हैं। दोनों में से एक चक्र छोटा, बड़ा, असमान या टूटाफूटा हो तो गृहस्थ जीवन का रथ आगे नहीं बढ़ सकता। इसी प्रकर धर्मरथ के भी दो चक्र हैं–एक श्रावक–श्राविका, दूसरा साधु–साध्वी। भगवान् महावीर ने धर्मरथ में दान और चारित्र रूप दो बलवान बैल जोतकर कुशल धर्मसारथी बनकर धर्मतीर्थ की स्थापना की है। इसी धर्मतीर्थ की स्थापना करके भगवान् धर्मतीर्थङ्कर कहलाए। अनेक भव्य जीवों को धर्मरथ में बिठलाकर तीर्थङ्कर प्रभु महावीर ने भयंकर भवाटवी से उन्हें पार लगाने का सन्मार्ग बतलाया।

क्या सजीव और क्या निर्जीव, प्रत्यके वस्तु में, अणु अणु में, अनन्त सामर्थ्य भरा पड़ा है। पर वह सामर्थ्य सफल तब होता है, जब उसका समन्वय करके संयोजित किया जाता है। शक्तियों का संग्रह न किया जाय और पारस्परिक संघर्ष के द्वारा उन्हें क्षीण किया जाय तो उनका सदुपयोग होने के बदले दुरुपयोग ही हुआ कहलाएगा। शक्तियों का संग्रह करने के

लिए संघर्ष को विवेक पूर्वक दूर करने की आवश्यकता है और साथ ही संघशक्ति को केन्द्रित करने की भी आवश्यकता है।

जैसे पानी और अग्नि की परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली शक्तियों के संबंध में अद्भुत शक्ति सम्पन्न विद्युत उत्पन्न किया जाता है, इसी प्रकार संघ के अंगों का समन्वय करके अपूर्व शक्ति उत्पन्न करने से ही संघ में क्षमता आती है, इसी से संघ का तन्त्र सुव्यवस्थित रूप से आगे चलता है।

राष्ट्रतन्त्र, गणतन्त्र, समाजतन्त्र और धर्मतन्त्र का संचालन भी संघशक्ति के प्रबल पृष्ठबल के प्रभाव से ही चल रहा है। इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है?

काम चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा हो, उसकी सिद्धि के लिए संघशक्ति की परम आवश्यकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए समस्त मानव समाज संघस्थापना की योजना स्वीकार करता है अर्थात् घोषणा करता है। छोटी–मोटी संस्थाएं, युवकसंघ, विद्यार्थीसंघ मंडल, गच्छ, संघाड़े सम्प्रदाय आदि विभिन्न नामों से जुदाजुदा संघ लोकमत जागृत करके अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते हैं।

एक व्यक्ति की शक्ति, चाहे कितनी ही बलवती क्यों न हो, जब तक बिखरी हुई अन्य शक्तियों को एकत्रित न किया जाय–संघ रूप में परिणत न किया जाय, तब तक उससे इष्टसिद्धि नहीं होती।

नीतिकार भी संघ–शक्ति की महत्ता को स्वीकार करके उस पर बहुत अधिक जोर देते हैं। 'संहतिः श्रेयसी' अर्थात् संघशक्ति कल्याणकारिणी है, इतना कहकर ही उन्होंने संतोष नहीं किया। हम जिसे तुच्छ समझकर उपेक्षा या आलोचना की दृष्टि से देखते हैं, उस तुच्छ प्रतीत होने वाले व्यक्तियों का संगठन करके संघबल का निर्माण करना चाहिए और संघ बल का निर्माण होने पर ही 'संहतिः कार्यसाधिका' अर्थात् संघशक्ति ही फलदायिनी होती है। इस प्रकार कहकर नीतिकार संघशक्ति का महत्व स्वीकार करते हैं। कहा भी हैः–

अल्पानामपि वस्तूनां, संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः।।

तिनके जैसी तुच्छ वस्तु को एकत्र किया जाय तो उससे बड़े बड़े मदोन्मत हाथी बांधे जा सकते हैं। इस लोकप्रसिद्ध उदाहरण को कौन गलत साबित कर सकता है? इसी प्रकार भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के बिखरे हुए बल को अगर एकत्र करके संघबल के रूप में परिणत कर दिया जाय तो असम्भव

प्रतीत होने वाला कार्य भी सरलता के साथ सम्पन्न किया जा सकता है। इस बात का कौन निषेध कर सकता है? संघशक्ति क्या नहीं कर सकती? जब निर्जीव समझी जाने वाली वस्तुओं का संगठन अद्भुत काम कर दिखलाता है तो विवेक बुद्धि धारण करने वाले मानव–समाज की संघशक्ति का पूछना ही क्या?

मानवता के विकास के लिए संघशासन का होना आवश्यक है। भगवान् महावीर ने जगत के कल्याण के लिए संघशासन का जबर्दस्त काम हाथ मे लिया था। उस समय संघशासन शिथिल पड़ गया था। ब्राह्मणों और बौद्धों में संघशासन संबंधी बहुत त्रुटि थी। कोई स्त्री और शूद्र को अपने शासन में सम्मिलित नहीं करता था, किसी में और प्रकार की अपूर्णता थी। इतना ही नहीं, उस समय शूद्रों को धर्मकृत्य करने का भी अधिकार नहीं था। तत्कालीन एकांकी संघयोजना से मानवजाति का विकास कुंठित हो गया था। यह देखकर भगवान् महावीर ने संघयोजना को व्यवस्थित रूप दिया। मानवता की दृष्टि से समस्त मानवजाति को संघयोजना में समान अधिकार मिला। यही नहीं,स्त्री और शूद्र जाति उस समय अवगणना की जाति थी, पर भगवान् ने उन्हें ज्ञान और चारित्र का अधिकारी मानकर संघशासन में समान अधिकार दिया। भगवान् महावीर के समान सुन्दर संघयोजना का परिचय किसी भी संघसंस्थापक ने नहीं दिया। भगवान् महावीर की संघयोजना से सम्पूर्ण आर्यावर्त्त का इतिहास समुज्ज्वल है। भगवान् महावीर का जिनशासन, जो अब तक व्यवस्थित रूप से चल रहा है, सो उनके द्वारा प्ररूपित सम्यक् सयोजना की बदौलत ही। संघधर्म का ध्येय व्यक्ति के श्रेय के साथ समष्टि के श्रेय का साधन करना है। जब समष्टि के श्रेय का साधन करना संघधर्म का ध्येय बन जाता है। संघधर्म को व्यवस्थित रखने का उत्तरदायित्व संघ के प्रत्येक सभ्य पर रहता है।

संक्षेप में संघ का धर्म है–संघ के प्रत्येक सभ्य का श्रम साधन करना। सघधर्म मुख्य रूप से दो विभागों में बंटा हुआ है– (1) लौकिक सघधर्म और (2) लोकोत्तर संघधर्म। लौकिक संघधर्म के सभ्य (श्रावक और श्राविका) लौकिक संघशासन का कार्य जवाबदारी के साथ चलाते हैं और लोकोत्तर संघधर्म के सभ्य (साधु और साध्वी) लोकोत्तर संघशासन का काम जबाबदेही के साथ करते हैं।

लौकिक संघधर्म क्या है और उसके सभ्यों का धर्म क्या है? इस संबंध में यहा संक्षिप्त विचार किया जायेगा। लौकिक संघ धर्म में शास्त्रकार का कथन है:–

संघधम्मो–गोष्ठीसमाचारः

अर्थात्– संध या सभा के नियमोपनियम।

जाहिर समाचार, जाहिर सभा तथा संस्था, जिसमें सर्वसाधारण का अधिकार है और जहां सर्व साधारण की सुखसुविधा का विचार किया जाता है आदि समस्त अंगों का लौकिक संघधर्म में समावेश हो जाता है।

जो जैनधर्म ऐसी सुन्दर संघयोजना को स्वीकार करता है, वह आज लोगों की दृष्टि में इतना अपूर्ण और अव्यवहार्य क्यों दिखाई देता है? कई लोग इस प्रकार का प्रश्न करते हैं। वास्तव में यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय है। जैनधर्म को अपूर्ण या अव्यवहार्य कहकर लांछित करने में कुछ अपराध तो उन लोगों का है, जो जैन धर्म के वास्तविक मर्म को समझे बिना ही, केवल मताग्रह से प्रेरित होकर अथवा बाहर के दूषित वातावरण के कारण ही, उसे लांछन लगाने में प्रवृत्त होते हैं। और प्रधान अपराधी वे जैन भाई स्वयं हैं, जो कायरता धारण करके महावीर धर्म को लजाते हैं। वस्तुस्थिति यह कि जैनधर्म अपने उदार, उन्नत और सार्वभौम सिद्धान्तों के कारण विश्वधर्म बनने के योग्य है।

सार्वजनिक सभाओं तथा संस्थाओं में समस्त संघ अर्थात् सम्पूर्ण मानवजाति के हित और श्रेय का विचार किया जाता है। जिस धर्म में हिन्दू, मुसलमान या ऐसे ही किसी एक ही वर्ग, समाज या जाति के हित का विचार किया जाता है उसे कुलधर्म भले ही कहा जा सके, परन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र का संघधर्म नहीं कहा जा सकता। क्योंकि राष्ट्र का संघधर्म व्यक्तिगत या वर्ग हित की अपेक्षा समष्टि के हित का सर्व प्रथम विचार करता है।

राष्ट्र का संघधर्म ठीक अखिल भारतीय संघ (National Congress) सरीखा है। संघधर्म के अनुसार जिस संस्था या सभा की स्थापना की जाती है, उसमें समष्टि के हित के विरुद्ध, व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष के हित का विचार नहीं किया जाता। समष्टि के हित को विपत्ति में डालकर व्यक्ति या वर्ग के हित का विचार करना संघधर्म की जड़ उखाड़ना है।

जिस प्रणाली से समष्टि का श्रेय और हित सुरक्षित होता हो उसी का आश्रय लेना चाहिये। इसी में संघधर्म की महत्ता और शोभा है।

उदाहरणार्थ–मान लीजिए, अखिल भारतीय संघ (All India National Congress)ने भारत में विदेशी वस्त्रों के त्याग का निश्चय किया। निःसंदेह इस निश्चय से विदेशी वस्त्रों का व्यापार करने वालों को आर्थिक हानि होती है। फिर भी अगर इस निश्चय से भारतवर्ष के करोड़ों गरीब

भाइयों को खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए वस्त्र मिलता हो तो वह प्रस्ताव कार्य रूप में अवश्य परिणत होना चाहिए।

ऐसा करने से ही संघधर्म का पालन होता है। इससे विपरीत उक्त निश्चय की परवाह न करते हुए, भारत के गरीब भाइयों के जीवन रक्षण का विचार तक न करना संघधर्म का अपमान है। ऐसा करने से संघधर्म का विनाश होता है। ऐसी स्थिति में अगर कोई व्यापारी राष्ट्रधर्म या संघधर्म के पोषक प्रस्ताव की मुखालफत करके छल–कपट से विदेशी वस्त्र का व्यापार करता है तो वह स्पष्ट रूप से राष्ट्रधर्म एवं संघधर्म का अपमान करता है। निष्कपट भाव से संघधर्म का पालन करने से संघ को अत्यधिक लाभ पहुंचने की सम्भावना है। बुद्धिमान पुरुष अपने निजी स्वार्थ की सिद्धि के लिए जगत् का अहित नहीं चाहता। जिस संघ के सदस्य इतने उदार रहते हैं वह संघ सदैव समुन्नत रहता है।

मान लीजिए, किसी गांव के निवासियों ने एकत्र होकर राजा से प्रार्थना की–गायों को चराने के लिए स्थान नहीं है। अतएव गोचर भूमि के लिए बिना महसूल लिए एक स्थान की व्यवस्था कर दीजिए। प्रजा की इस मांग को राजा ने स्वीकार कर ली। तो इससे होने वाला लाभ प्रजा संघ के प्रत्येक सभ्य को प्राप्त होगा। मगर कोई स्वार्थी मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए या अपनी प्रसिद्धि के लिए राजा को बहकाकर गोचर भूमि देने में बाधा खड़ी करता है और प्रजासंघ की हितबुद्धि को पार नहीं पड़ने देता तो वह स्वार्थी संघधर्म का नाशक समझना चाहिए।

प्रजासंघ के हित का विचार न करके, केवल स्वार्थवृत्ति तृप्त करने के लिए राजा का पक्ष लेना और हजारों गरीबों के जले पर नमक छिड़कना एक साधारण गृहस्थ के लिए भी अनुचित है तो बारह व्रतधारी श्रावक ऐसा कुकृत्य कैसे कर सकता है?

कुछ लोग संघधर्म के संगठन को तथा संघधर्म के लिए किये जाने वाले कार्यों को एकान्त पाप बतलाते हैं। पर जिस संघधर्म के पालन से मानवसमाज नीच कर्मो का त्याग करता है और जिन पाप कर्मो के त्याग से संसार का उत्थान होता है और साथ ही श्रुत–चारित्रधर्म के पालन के लिए क्षेत्र तैयार होता है, उस संघधर्म को एकान्त पाप कहना उचित नहीं कहा जा सकता है।

संघधर्म के पालन में आरम्भ समारम्भ होता है और उसे आरम्भ समारम्भ मानना ही चाहिए। परन्तु इस प्रकार का आरंभ समारंभ भी विशेष

प्रकार का होता हैं। एक आदमी अपनी पुत्री का विवाह करता है और दूसरा अपनी माता का विवाह करता है। दोनो में विवाह का ठाट–बाट सरीखा है, फिर भी क्या दोनों विवाह एक सरीखे कहे जा सकते हैं? कदापि नहीं।

दोनों विवाहों में खर्च बराबर होने पर भी क्या दोनों विवाह बराबरी के गिने जायेंगे? अगर कोई आदमी आरंभ समारंभ की दृष्टि से दोनों विवाहों को एक समान माने तो? उसकी मान्यता गलत होगी।

यही बात आरम्भ समारम्भ के विषय में समझनी चाहिए। कुछ काम ऐसे होते हैं, जिन्हें करने से वास्तविक उन्नति होती है और साथ ही अनेक महान पापों का प्रतिकार भी होता है और कुछ काम ऐसे होते हैं जिन्हें करने से आरम्भ समारम्भ के पाप के साथ ही साथ अन्य अनेक महान् पापों को उत्तेजना मिलती है।

यह सब जानते बूझते हुए भी लोग करने योग्य कार्यों को पाप रूप समझकर त्याग देते हैं वे अपनी अवनति के साथ साथ पापों की भी वृद्धि करते हैं। करने योग्य कार्यों को एकान्त पाप कहकर लोग त्याग न दें और अवनति के मार्ग पर अग्रसर होकर पापों की वृद्धि न करें, इस महान उद्देश्य को लेकर भी संघधर्म की स्थापना की गई है।

संघ का अर्थ है– व्यक्तियों का समूह। यह समूह व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देकर समष्टि के हित और श्रेय के लिए जो नियमोपनियम बनाते और उनका भली भांति पालन करते हैं, वे ही नियमोपनियम संघधर्म कहलाते हैं।

संघधर्म को जीवन में उतारने के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य को जबाबदेही के साथ, संघ के नियमोपनियम का पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी जवाबदेही भुला देता है और स्वार्थवश संघधर्म को भंग करता है, वह संघधर्म का नाशक है।

'जो संघ का श्रेय–साधन करता है, संघ उसका श्रेय साधन करता है।' यह धर्मवाक्य प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। संघ समाज की प्रतिनिधि संस्था है। इस संस्था के सम्मान में ही अपना सम्मान है। इस वस्तुस्थिति से जो परिचित है, वह व्यक्ति संघधर्म को उन्नत बना सकता है और उसकी उन्नति के द्वारा ही अपनी उन्नति कर सकता है।

लोकव्यवहार किस प्रकार चलाना चाहिए और उसे चलाने के लिए किस प्रकार का सामूहिक तन्त्र गढ़ना चाहिए, इन बातों का सुन्दर परिचय लौकिक संघधर्म करता है। श्रावक और श्राविकाएं अगर लौकिक संघधर्म की

महता को बराबर समझ लें और सामूहिक तन्त्र के नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यवहार चलावें तो आज फिर लौकिक संघधर्म चमक उठेगा। लौकिक संघधर्म का बराबर पालन किया जायेगा तो लोकोत्तर संघधर्म भी व्यवस्थित रूप से चलेगा, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। कारण यह है कि यद्यपि लौकिक संघधर्म और लोकोत्तर संघधर्म के नियम भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी दोनों संघधर्म धार्मिक संबंध में एक दूसरे से खूब जकड़े हुए हैं। इन दोनों को एकान्त भिन्न नहीं माना जा सकता है।

यहां तक लौकिक संघधर्म के सदस्यों के कर्त्तव्य का विचार किया गया है। अब लोकोत्तर संघधर्म क्या है और उसके सदस्यों का कर्त्तव्य क्या है, इस विषय पर विचार करना आवश्यक है।

जिस धर्म के पालन से साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध श्री संघ की उन्नति हो, वह लोकोत्तर संघ का धर्म है। लोकोत्तर संघधर्म में भी व्यक्तिगत लाभ का विचार करते हुए समष्टिगत लाभ का दृष्टिकोण ही सामने रखना चाहिए।

कोई यह शंका कर सकता है कि श्रुत चारित्रधर्म में ही संघधर्म का समावेश हो जाता है; तो फिर उसका अलग वर्णन करने की क्या आवश्यकता है? यह कथन निराधार है क्योंकि श्रुतधर्म और चारित्रधर्म अलग अलग हैं और संघधर्म उन दोनों से भी अलग धर्म है। संघधर्म में संघ के गृहस्थ और त्यागी दोनों प्रकार के सदस्यों का कर्त्तव्य भिन्न भिन्न बताया गया है। अगर इन दोनों का कर्त्तव्य जुदा जुदा न बताया जाय तो संघ का अस्तित्व अधिक समय तक टिक नहीं सकता। इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए।

एक मनुष्य वस्त्रों का व्यवसाय करता है और दूसरा जवाहरात का। लौकिक संघधर्म के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो दोनों व्यवसायी समान है, फिर भी वे दोनों एक दूसरे का काम करने में असमर्थ हैं। जौहरी बजाज का और बजाज जौहरी का काम सफलता पूर्वक नहीं चला सकता। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि दोनों ही दुकानें बहुत समय तक चालू नहीं रह सकेगी।

इसी प्रकार गृहस्थ और साधुओं को मिलाकर एक संघ बनता है। जब समस्त संघ का प्रश्न उपस्थित होता है तो सभी की गणना समान रूप से की जाती है। किन्तु जैसे बजाज जौहरी का और जौहरी बजाज का उत्तरदायित्व नहीं सम्भाल सकता वैसे ही साधु श्रावक की और श्रावक साधु की जवाबदेही नहीं निभा सकते।

अगर साधुओं की जबावदेही श्रावको पर डाली जाय तो वह संघ नष्ट हुए विना न रहेगा। बालक को स्तनपान कराके ही जीवित रखा जा सकता है, मगर कोई साध्वी बालक को स्तनपान करावे तो क्या संगत होगा? नहीं । ऐसा करने से शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार दोष होगा। लेकिन अगर कोई माता श्राविका यह सोचकर कि साध्वी को स्तनपान कराने में दोष लगता है अतएव मैं भी बालक को दूध न पिलाऊंगी, बालक को दूध न पिलावे तो क्या यह धर्म होगा? लोग उसे क्या कहेंगे? निर्दयी।

शास्त्रों में श्रावकों के लिए पहले अहिंसाव्रत के पांच अतिचार बतलाये गये हैं। उनमें एक अतिचार 'अन्नपान का निरोध ※ करना भी है। इससे विपरीत साधु यदि किसी जानवर या मनुष्य को अन्न पानी दे तो उसे अतिचार लगता है। इसी प्रकार श्रावक अगर अन्न पानी न दे तो उसे दोष लगता है। ऐसी स्थिति में अगर साधुओं के कर्त्तव्य श्रावक को लागू किए जाएं तो श्रावकधर्म का पालन किस प्रकार हो सकेगा?

कुछ लोगों का कथन है कि 'जो काम साधु कर सकता है, वह धर्म है और जिस काम का साधु के लिए निषेध है, वह सब पाप है। इस समझ के कारण श्रावक–समाज मेंगलतफहमी फैल रही है। उन्होंने अपनी प्रखर बुद्धि से सम्पूर्ण शास्त्र को इसी विधान में निचोड़कर भर दिया जान पड़ता है। पर वे इस बात का विचार तक नहीं करते कि प्रत्येक को अपनी अपनी जवाबदेही समझाये बिना संघधर्म को कितनी अधिक हानि पहुंचने की सम्भावना है? उन्हें विचार करना चाहिए कि जो काम सिर्फ साधुओं के लिए ही निश्चित किये गये हैं, उन्हें करने से श्रावकधर्म का किस प्रकार पालन किया जा सकता है?

जब एक साधारण घर में भी प्रत्येक आदमी का कार्यक्रम अलग रहता है तो फिर इतने बड़े संघ का काम कार्यप्रणाली को विभाजित किये बिना किस प्रकार चल सकता है?

मान लीजिए, एक साहूकार के घर में चार पुत्रवधुएं हैं। उनमें एक पुत्रवती है, दूसरी गर्भवती है, तीसरी बांझ है और चौथी नवविवाहिता है।

※ देखो प्रमिक्रमण सूत्र–पहले व्रत के पांच अतिचारों में 'भत्तपाण वुच्छेए' (भक्तपानव्युच्छेदः) अर्थात् अन्न–पानी भोगने में रुकावट डालना पांचवां अतिचार है।

देखो वाचक उमास्वातिजी का तत्वार्थधिगमसूत्र–बन्धवध छविच्छेदाऽतिभारारोप णाऽन्नपाननिरोधाः। अध्याय 7/20

अगर सास इन चार वधुओं के खानपान, रहन सहन और काम काज की व्यवस्था अलग-अलग न करके चारों को एक ही प्रकार से रक्खे तो क्या परिणाम आयेगा? हानि ही होगी।

साधुओं में भी कोई जिनकल्पी होता है, कोई स्थविर-कल्पी, कोई रोगी होता है, कोई तपस्वी होता है। अगर सूक्ष्म दृष्टि से इसका विचार न किया जाय तो सबका निर्वाह भलीभांति कैसे हो सकता है?

जब साधुओं में भी आंतरिक भेद के अनुसार जुदा जुदा कर्त्तव्य निर्धारित किया जाता है तो फिर साधु और श्रावक का निर्वाह एक ही धर्म का पालन करने से किस प्रकार हो सकता है?

साधुओं की आवश्यकताएं बहुत कम होती हैं, जबकि श्रावकों की आवश्यकताएं अधिक होती है।

अगर साधु और श्रावक की भिन्न भिन्न मर्यादाएं न स्वीकार की जाएं तो श्रावक और साधु बनने की आवश्यकता ही क्या है? श्रावक इसलिए तो साधु बनते हैं कि गृहस्थावस्था में होने वाले आरम्भ समारम्भ से बच सकें और अपनी आवश्यकताएं कम से कम बना लें।

अगर श्रावक और साधु का धर्म एक हो तो श्रावक धर्म और साधुधर्म में भिन्नता ही क्या रही? श्रावक और साधु की बात जाने दीजिए, श्रावक-श्राविका का धर्म भी जुदा जुदा ही होता है। उदाहरणार्थ-एक श्रावक घर में अकेला है, वह पांच सात रुपये में ही अपना निर्वाह कर लेता है। दूसरा श्रावक एक राजा है। उसका कुटुम्ब परिवार भी बड़ा है। ऐसी स्थिति में पहला श्रावक अगर विचार करे कि मैं जो करता हूं वही श्रावकधर्म है अर्थात् पांच-सात रुपया मासिक व्यय में ही काम चलाना चाहिए। जो इससे अधिक व्यय करता है, अथवा जो मुझसे अधिक आरम्भ समारम्भ करता है, वह श्रावकधर्म का पालन नहीं करता। तो क्या राजा बारह व्रतधारी श्रावक कहला सकेगा? नहीं।

शास्त्र में प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए जुदा जुदा धर्म निश्चित किया गया है। एक व्यक्ति सोलह देशों का राजा होने पर भी बारह व्रतधारी श्रेष्ठ श्रावक बन सकता है। इस शास्त्रसम्मत और नीतियुक्त बात के विरुद्ध कथन करना संघधर्म के लिए हानिकारक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि साधुओं का आचारधर्म और श्रावकों का आचारधर्म भिन्न-भिन्न है। जो लोग दोनों के आचारधर्म को एक बतलाते हैं, वे भूल करते हैं। उनकी भूल के कारण आजकल संघधर्म

चक्कर में पड़ा है। संघ की समुचित व्यवस्था न होने से साधु अपनी जवाबदेही श्रावकों पर और श्रावक अपनी जवाबदेही साधुओं पर डाल रहे हैं। जैसे पाठशाला का संचालन करना, संस्था खोलना, किसी कार्यालय की सक्रिय व्यवस्था करना, गोरक्षा तथा अनाथरक्षा की सक्रिय व्यवस्था करना इत्यादि कार्य दया और परोपकार के अवश्य हैं, परन्तु साधु जब ऐसे व्यवहारिक प्रपंच में पड़ते हैं तो उनकी अध्यात्मसाधना में विघ्न पड़ता है।

साधु परोपकार न करे तो परोपकार कौन करेगा? इस संबंध में यही कहना पर्याप्त है कि ऐसे परोपकार के कार्य, जिनमें आरम्भ आदि क्रियाएं करनी पड़ती हैं, अगर साधु करेंगे तो श्रावक क्या करेंगे? प्रत्येक को अपनी मर्यादा में रहकर ही कार्य करना चाहिए। यही शास्त्रीय विधान है।

अगर श्रावकों का कर्त्तव्य साधु अपने सिर ओढ़ लेंगे तो साधुओं के महाव्रतों का पालन क्या श्रावक करेंगे? अगर श्रावकों का काम साधु अपने हाथों में ले लें तो श्रावक तो महाव्रत पालने में असमर्थ हैं ही, साधु भी महाव्रत न पाल सकेंगे। नतीजा यह होगा कि महाव्रतों का लोप होने लगेगा।

साधुओं को पैसे के प्रपंच में पड़ना उचित नहीं है। 'अमुक संस्था को एक हजार रुपये दे दो' अथवा परोक्ष रूप में 'पैसे की ममता त्यागो, इस संस्था के लिए पुद्‌गलों का त्याग करो' इत्यादि प्रकार से कहना योग्य नहीं है। कदाचित् रुपये की आवश्यकता के कारण अपव्यय हो तो साधु पर विश्वासघात का दोष आता है। अतएव आत्मसाधक साधु पैसे के प्रपंच में नहीं पड़ सकता।

वर्तमान काल में अनेक संस्थाओं में अव्यवस्था देखी जाती है। स्वार्थत्यागी योग्य आदमियों की कद्र नहीं रही और जो चाहता है, वही संस्था की स्थापना करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार नई नई संस्थाएं स्थापित करने वालों की परीक्षा किये बिना जो श्रावक उन्हें नियम विरुद्ध सहयोग देते हैं वे साधुत्व के विनाश में सहयोग देते हैं।

जो काम श्रावकों को करने योग्य हैं, उन्हें श्रावक करें और जो साधुओं को करने योग्य हैं, उन्हें साधु करें। इसी में संघ की सुव्यवस्था रहती है। जिन कार्यों में थोड़ा आरम्भ और अधिक उपकार होता है, ऐसे कार्य श्रावक सदा से करते आये हैं। केशी स्वामी ने चित्तप्रधान से कहा था–परदेशी राजा मेरे सामने ही नहीं आता तो मैं उपदेश कैसे दूं? इस कथन से यह प्रतीत होता है कि राजा परदेशी को केशी महाराज के पास लाना श्रावकों का कर्त्तव्य था, साधुओं का नहीं। यह कर्त्तव्य साधुओं का होता तो केशी महाराज

किसी साधु को भेजकर उसे बुला लेते। परन्तु परदेशी राजा को चित्तप्रधान लाया था। तात्पर्य यह है कि साधु साधुओं के योग्य और श्रावक श्रावकों के योग्य कर्त्तव्य करते आये हैं। मेरा आशय यह नहीं है कि संस्थाएं स्थापित न की जाएं। मेरा उद्देश्य इतना ही है कि साधु व्यावहारिक प्रपंचों में न पड़े और अपने साधु धर्म का ही तत्परता के साथ पालन करें।

श्रावकों को उपदेश देना साधुओं का कर्त्तव्य है। केशी श्रमण ने राजा परदेशी को श्रावक बनाने के बाद उपदेश दिया था कि हे राजा! तुम रमणीक से अरमणीक न होना। यह उपदेश सुनकर राजा ने स्वयं राज्य के चार भाग करके, एक भाग का दान देना आरम्भ किया। केशी श्रमण ने राजा को यह नहीं कहा था कि 'तुम इस प्रकार करो।' उपदेश देने से श्रावक स्वयं अपना कर्त्तव्य समझ ले तो साधुओं को प्रेरणा या आग्रह करने की क्या आवश्यकता है? जिनकी श्रद्धा होगी, जिसमें शक्ति होगी, वे स्वयं सब बातें समझेंगे और दूसरे का उपकार करने में प्रवृत्त होंगे। साधु किसी को संकोच या लाज शर्म में डाले, वह उचित नहीं है।

कोई साधु कदाचित यह कहे कि श्रावक व्यवस्था करने तथा संस्था चलाने मे असमर्थ हैं। ऐसी हालत में अगर हम संस्था का संचालन न करें तो काम कैसे चल सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में मैं कहता हूं कि अगर उन्हें इसी मे संघ का कल्याण दिखाई देता है तो वे साधुपन छोड़कर श्रावक बनकर वह काम कर सकते हैं।

साधुओं को अध्ययन करने की आवश्यकता है। अगर साधु उच्च श्रेणी की शिक्षा न लें तो ज्ञान दर्शन और चारित्र का पूर्ण रूप से महत्त्व न समझ सकेंगे और शुद्ध उच्चारण करना भी उनके लिए कठिन हो जायेगा। इससे धर्म की हानि होने की संभावना है। आजकल वर्त्तमान परिस्थिति में जो परिवर्त्तन हो रहे है, उनमें भी हमें अपने संघ को टिकाये रखना है। अतएव साधुओं को समस्त शास्त्रों में निपुण बनाकर जैनधर्म की प्रखर ज्योति फैलाना आवश्यक है। 'पढ़मं नाणं तओ दया' भगवान् महावीर का यह सन्देश सर्वत्र फैलाना अत्यावश्यक है।

अगर कोई साधु शास्त्र में पारंगत–निष्णात होने के बाद सम्प्रदाय के बधनो को विकास में बाधक समझ कर सम्प्रदाय से जुदा हो जाय और अपनी स्वेच्छा से कार्य करने लगे और आचार्य भी उसे अविनीत जानकर छोड़ दे, फिर भी अगर श्रावक उसकी सहायता करते रहेंगे और सम्प्रदाय की मर्यादा को स्वीकार न करने पर भी उसे पूजते रहेंगे तो क्या वह साधु अपने

आचार्य की परवाह करेगा? जिस साधु को आज्ञा से बाहर कर दिया गया है, उसे तुम लोग पूजते रहो तो यह आचार्यपद का मूलोच्छेद करने के समान है या नहीं?

अगर तुम्हें ऐसा कार्य करना है तो तुम्हारी मर्जी, इतना याद रखना कि आज्ञा से बाहर (बहिष्कृत) किये हुए साधु की सहायता करना संघधर्म पर कुठाराघात करने के समान है।

अगर तुम बहिष्कृत शिष्य की सहायता करते रहोगे तो एक दिन सब स्वतन्त्र होकर कहने लगेंगे—'साम्प्रदायिक बन्धनों की आवश्यकता नहीं है। इस स्थिति में कौन शिष्य आचार्य की आज्ञा में रहना पसंद करेगा?

साम्प्रदायिक बन्धनों की आवश्यकता स्वीकार न करना संघधर्म संबंधी अज्ञान को प्रकट करता है। अगर श्रावक भली भांति विचार करके इस विषय में योग्य व्यवस्था न करेंगे तो साधु स्वच्छन्दाचारी बन जाएंगे। एक प्रकार की अव्यवस्था और विशृंखला फैल जाने से धर्म का और आचार्यपद का महत्त्व नहीं रहेगा। ऐसी हालत में संघ का काम कैसे चल सकेगा? इस बात पर तुम्हें सावधानी के साथ विचार करना चाहिए।

राष्ट्रीय महासभा में स्वीकृत निर्णय सम्पूर्ण भारतवर्ष का निर्णय है। अगर कोई मनुष्य उस निर्णय का अपमान करता है तो, वह सभा का अपमान है।

महासभा के प्रस्तावों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस बन्धन की आवश्यकता स्वीकार न करके अगर हर एक आदमी अपनी मनमानी करने लगे तो राष्ट्रधर्म और संघधर्म का अस्तित्व अधिक समय तक नहीं बना रह सकता। ठीक यही बात लोकोत्तर संघधर्म के विषय में भी समझनी चाहिए। जो व्यक्ति संघधर्म के विरुद्ध अपनी व्यक्तिगत स्वच्छन्दता खोजता फिरता है, वह संघधर्म का अपमान करता है।

श्रुत—चारित्र—धर्म, प्रत्येक व्यक्ति का जुदा जुदा धर्म है परन्तु संघधर्म सबका सामूहिक धर्म है। अतएव संघधर्म के ऊपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। संघधर्म के अभाव में चारित्रधर्म अधिक समय तक नहीं टिक सकता। हरेक आदमी अपनी अपनी सम्पत्ति की रक्षा तो करता ही है, पर साथ ही उसे गांव की रक्षा करने की ओर भी ध्यान देना पड़ता है, क्योंकि गांव लुटने पर उसकी अपनी सम्पत्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकती। यही बात श्रुत चारित्रधर्म और संघधर्म के संबंध में है। श्रुत चारित्रधर्म एक व्यक्ति की सम्पत्ति के समान हैं और संघधर्म समूचे गांव की सम्पत्ति के समान है।

अगर समूचे गांव की सम्पत्ति लुट जाय तो एक मनुष्य अपनी सम्पत्ति किस प्रकार सुरक्षित रख सकता है? इसी प्रकार जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत धर्म की सुरक्षा चाहते हैं तो संघधर्म की रक्षा की तरफ भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

संघधर्म का महत्व इतना अधिक बतलाया गया है कि अगर कोई साधु विशिष्ट अभिग्रह आदि चारित्रधर्म की साधना में तल्लीन हो रहा हो और उस समय संघ को अनिवार्य आवश्यकता पड़ जाय तो साधु को अपनी साधना त्याग करके भी संघ का कार्य पहले करना चाहिए। यह शास्त्र का आदेश है। यह बात भद्रबाहु स्वामी की कथा से अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

एक बार भद्रबाहु स्वामी एकान्त में योग की साधना कर रहे थे। उस समय संघ में विग्रह हो गया। जब तक कोई तेजस्वी और प्रतिभाशाली पुरुष उसका निपटारा न करे तब तक विग्रह शांत होना असम्भव सा प्रतीत होता था। आखिर संघ एकत्र हुआ। संघ ने निश्चय किया कि भद्रबाहु स्वामी के सिवाय दूसरा कोई इस विग्रह को शान्त नहीं कर सकता। उन्हें बुलाने के लिए कोई साधु जावे और यहां आकर भद्रबाहु स्वामी निपटारा कर दें।

साधु भद्रबाहु स्वामी के पास पहुचे। उन्होंने संघ का आदेश कह सुनाया। सब बात सुनकर स्वामी ने उत्तर दिया— मैं इस समय योग की साधना में तल्लीन हूं। योग—साधना के पश्चात् वहां आऊंगा।

भद्रबाहु स्वामी का कथन साधुओं ने आकर संघ को सुना दिया। उत्तर सुनकर संघ चकित रह गया कि आचार्य ने अपने कल्याण के लिए समस्त सघ की उपेक्षा क्यों की? पूर्वापर विचार करने के बाद संघ ने उन्हें बुलाने के लिए फिर साधु भेजे। साधुओं ने संघ के कथनानुसार निवेदन किया।

महाराज! योग साधना करके आपको अकेले अपना कल्याण करना श्रेष्ठ है या समस्त संघ में फैले हुए विग्रह को शांत करना श्रेष्ठ है? दोनों में अधिक श्रेष्ठ क्या है?

सघ का यह प्रश्न सुनकर भद्रबाहु स्वामी अपना अभिग्रह अधूरा छोड़कर संघ के पास आये और श्रीसंघ से क्षमायाचना करके कहने लगे 'मेरी योग साधना की अपेक्षा संघ का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है।' यह कहकर उन्होंने संघ को सान्त्वना दी। कई लोग कहा करते हैं—हमें इससे क्या? हमें दूसरो की चिन्ता करने से क्या मतलब? हम चैन से रहें तो बस है। दूसरों का जो होनहार है, सो होगा ही। उससे हमें क्या लेन—देन? ऐसे विचार वाले लोग

भयंकर भूल करते हैं। जिस ग्राम में या जिस देश में ऐसे विचार वाले लोग रहते हैं, उस ग्राम या देश का अधःपतन हुए विना नहीं रह सकता। जव से भारतवासियों के दिल में इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए तभी से भारतवर्ष का अधःपतन आरम्भ हुआ। अव भारत में यह दुष्ट भावना वदलती दिखाई पड़ रही है और समस्त राष्ट्र संगठित होकर राष्ट्रोद्धार करने में तत्पर हो गया। अव यह आशा की जाती है कि भारतवर्ष की दशा कभी न कभी अवश्य सुधरेगी।

पर 'हमें इससे क्या' वाली दुष्ट भावना जैनसंघ में से अभी तक दूर नहीं हुई। और इस भावना को नेस्तनावूद करने के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं किया जा रहा है, यह अधिक दुःख की वात है। संघधर्म का महत्व न समझने के कारण ही जैनसंघ में यह दूषित भावना घुस गई है।

भगवान् का कथन है कि सहधर्मियों को किसी भी प्रकार की शांति पहुंचने से निर्जरा होती है। इस समय संघधर्म की रक्षा करने की परमावश्यकता है।

भद्रबाहु स्वामी संघ के हित को लक्ष्य में रखकर संघ के पास आये थे। और संघ का हित साधन किया था। धर्म की रक्षा करना अपनी रक्षा करने के बराबर है। मनुजी ने ठीक ही कहा है–

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मोहतोऽवधीत्।।

अर्थात्–जो मनुष्य धर्म का नाश करता है, धर्म उसका नाश करता है। और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता हैं। धर्म हमारा नाश न करे, इसलिए हमें धर्म का नाश नहीं करना चाहिए।

संघ आज अव्यवस्थित हो गया है। उसका संगठन करना इस समय अत्यन्त आवश्यक है। मगर अभी तक जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा है। संघबल एकत्र करने में कितना अधिक लाभ है, इस बात को इस समय समझ लेने की बड़ी आवश्यकता है।

आजकल संघ अस्त–व्यस्त हो चुका है। जब तक उसे संगठित नहीं किया जाता, तव तक किसी कार्य में पूर्ण सफलता मिलना कठिन है। सिर्फ पांच ही मनुष्यों को इकट्ठा किया जाये तो उनसे भी पांच हजार आदमी इकट्ठे हो सकते हैं और संसार में आदर्श शक्ति पैदा कर सकते हैं। दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेज भारतीयों को फुटपाथ पर नहीं चलने देते थे और फर्स्ट क्लास या सैकेंड क्लास की टिकिट होने पर भी वहां से उतार कर थर्ड क्लास के डिब्बे

में बैठा देते थे। भारतीयों के साथ किया जाने वाला यह व्यवहार तो साधारणसा समझा जाता था। कोई भारतीय घोड़ागाड़ी की टिकिट लेकर उस गाड़ी में बैठ नहीं सकता था। एक बार गांधीजी भी ऐसी चपेट में आ गये थे और उन्हें खूब मार भी खानी पड़ी थी। पर अकेले गांधीजी ने ही वहां के भारतीयों की अस्तव्यस्त शक्ति का संगठन किया और उस शक्ति से सत्याग्रह करके भारतीयों के मान की रक्षा की। भारतीयों से वसूल किया जाने वाला तीन पौंड का कर भी उन्होंने मंसूख कराया।

अगर आप लोग संघबल का संगठन करो तो कोई भी कार्य अशक्य नहीं है। संघबल और संघधर्म का महत्व समझ कर, तदनुसार शक्ति संगठित की जाये तो संघधर्म का और जैनधर्म का अवश्य ही उद्धार होगा। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

उपसंहार

इस प्रकार लौकिक और लोकोत्तर संघधर्म का बराबर पालन हो तो संघबल मजबूत हो सकता है और संघबल से देश, समाज और धर्म में ऐसी क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि जिससे संघशक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता रहे।

संघबल प्रकट करो और उससे विकार–शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। संघबल जैसे सांसारिक कार्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए भी संघबल की अनिवार्य आवश्यकता है। अपने पूर्वाचार्यों ने तो संघ को भगवान् मानकर उसकी स्तुति की है और 'नमो संघस्स' कहकर संघशक्ति को नमस्कार किया है।

संघशक्ति लोकशक्ति है और लोकशक्ति धर्म की माता है। जो लोग संघबल का वास्तविक महत्त्व समझते हैं, वे संघ को 'अम्मापिया' अर्थात् माता–पिता के समान पूज्य गिनकर उसकी पूजा करते हैं। संघपूजा सच्ची धर्मपूजा है।

संघ अपना धर्मप्राण है। संघबल अपना धर्मबल है। संघशक्ति अपनी धर्मशक्ति है। अतएव धर्मप्राण की रक्षा के लिए जीवन में संघबल प्रकट होगा तब संघधर्म विश्वधर्म में अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

नमो संघस्स– संघ को नमस्कार हो।

8 : सूत्र धर्म

(सूत्त धम्मे)

जहा सुई ससुत्ता, पडियावि ण विणस्सइ।
तहा जीवो ससुत्तो, संसारे वि ण विणस्सइ।।

चाहे जैसे चिकने कीचड़ में पड़ी सूई छोटे से सूत्रडोर से युक्त हो तो गुमती नहीं है। इसी प्रकार सूत्र सहित (सम्यग्ज्ञानी) जीव संसार में रहता हुआ भी आत्मभाव से वंचित नहीं होता।

'जानो, समझो, विचार करो' धर्म शास्त्र की इस घोषणा द्वारा मुमुक्षु जीवों को शास्त्रकार ने सूत्रज्ञान की प्रधानता सूचित की है।

शास्त्रकारों ने सिर्फ चतुराई, पंडिताई, कोरी वाक् कुशलता, कोरी व्यवहारपटुता,कोरा मनोरंजन या कोरा वक्तृत्व ज्ञान नहीं माना। जिस सम्यग्ज्ञान के आविर्भाव से चित्तवृत्ति शुद्ध होती है, क्रोध आदि कषाय मन्द होते है और सयम तथा समभाव का पोषण होता है, उसी को सम्यग्ज्ञान माना है।

'पढ़म नाणं तओ दया'—पहले ज्ञान फिर दया—चारित्र और 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः, अर्थात् ज्ञान और चारित्र द्वारा ही मुक्तिलाभ होता है। यह धर्मशास्त्रो की घोषणाएं भी इसी प्रकार के सम्यग्ज्ञान को सूचित करती है।

ज्ञान और क्रिया का साहचर्य श्रेयसिद्धि का मुख्य कारण है। जैसा समझो, वैसा ही करो, तभी ध्येय सिद्ध हो सकता है। जानना जुदा और करना जुदा, इस प्रकार जहां विसंवाद होता है, वहां बड़े से बड़ा प्रयास करने पर भी निष्फलता ही मिलती है। 'ज्ञानं वन्ध्यं क्रियां विना' अर्थात् क्रिया के बिना

ज्ञान निष्फल है और ज्ञानहीन क्रिया अंधी है। यह धर्मोक्ति भी ऐसे ही विसंवादी ज्ञान और क्रिया के लिए कही गई है। अतएव ज्ञान और क्रिया का जहां संवाद होता है, वहां ध्येयसिद्धि समीप ही रहती है।

सम्यग्ज्ञान शाश्वत सूर्य है, कभी न बुझने वाला दीपक है। उसके चमकते हुए प्रकाश से मात्सर्य, ईर्ष्या, क्रूरता, लुब्धता आदि अनेक रूपों में फैला हुआ अज्ञान अंधकार एक क्षण भी नहीं टिक सकता है।

क्रियाकांड–अनुष्ठान औषध है और सम्यग्ज्ञान पथ्य है। सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से अनुष्ठान अमृत रूप बनकर आत्मा का वैभाविक उन्माद दूर करता है और आत्मा को जागृत करता है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि–चाहे जैसे चिकने कीचड़ में पड़ी हुई सुई छोटे से सूत्र–डोरे से युक्त हो तो गुमती नहीं है। इसी प्रकार सूत्र सहित (सम्यग्ज्ञानी) जीव संसार में रहता हुआ भी आत्मभाव से वंचित नहीं होता।

धर्मशास्त्र में सम्यग्ज्ञान का प्रभाव खूब वर्णित किया गया है। जैन परिभाषा में जिसे मिथ्याश्रुत कहा गया है उसका पठन वाचन–मनन भी सम्यग्ज्ञानी को अहितकर नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के कारण उसकी दृष्टि विशाल, आग्रह रहित, प्रशान्त और नयवाद को समझाने वाली बन जाती है। इसीलिए किसी भी धर्मशास्त्र का संसर्ग उसके लिए अहितकर नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के कवच की बदौलत वह सदा सुरक्षित रहता है। और जैसे गाय घास को दूध रूप में परिणत कर लेती है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी अन्य धर्मशास्त्र को भी हितकर रूप में परिणत कर सकता है और ऐसा करके वह धार्मिक कलह को भी शांत कर सकता हैं।

चौंदह राजू–लोक के जीव मात्र को अभयदान देने की चाबी एक मात्र सम्यग्ज्ञान है। एक पुरुष को सम्यग्ज्ञानाभिमुख करना और चौदह राजूलोक के प्राणीमात्र को अभयदान देना बराबर है। सम्यग्ज्ञान की ऐसी अद्भुत महिमा है।

आत्मशोधन से संबंध रखने वाले किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में सम्यग्ज्ञान का सर्वत्र सर्वोपरि स्थान है। मुंडकोपनिषद् में आत्मप्राप्ति का साधन सम्यग्ज्ञान बतलाया गया है। कहा है–

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।'

'सम्मत्तदंसी न करेइ पावं' अर्थात् सम्यग्ज्ञानी जीव पापकर्म नहीं करता। यह धर्मवाक्य भी सम्यग्ज्ञान की महिमा प्रकट करता है।

मोक्षधर्म रूप रथ के सूत्र और चारित्र दो चक्र हैं। इस प्रकार सूत्र और चारित्र अथवा ज्ञान और क्रिया परस्पर सापेक्ष हैं। इसमें से किसी एक की उपेक्षा करने से धर्म–रथ आगे नहीं चल सकता।

जैसे अनुष्ठानहीन कोरे ज्ञान से आत्मशुद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानहीन चारित्र भी मोक्षसाधक नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, दोनों को जीवन में सरीखा स्थान देने से ही आत्मा बुद्ध और मुक्त बन सकती है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः' कहकर श्रीवाचकमुख्य ने भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्–चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

सूत्रधर्म और चारित्रधर्म का आपस में इतना अधिक घनिष्ठ संबंध है। तो फिर शास्त्रकारों ने दोनों का अलग–अलग वर्णन किस लिए किया है? यह प्रश्न किसी को हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि दोनों धर्मो का परस्पर घना संबंध है फिर भी दोनों धर्मो का आचार भिन्न है और इसी कारण दोनो धर्मो में भेद भी है।

सूत्र धर्म आधार है और चारित्रधर्म आधेय है। सूत्रधर्म अकेला टिक नही सकता। चारित्रधर्म से पहले मनुष्य में सम्यक्त्व आदि रूप सूत्रधर्म आ सकता है, पर सूत्रधर्म के बिना चारित्रधर्म नहीं आ सकता।

बहुत से लोग चारित्रधर्म को ही धर्म मानते हैं। सूत्रधर्म उनके लिए किसी गिनती में ही नहीं हैं। सूत्र के अक्षर पढ़ लेना, बस इसीको वे पर्याप्त समझ लेते है। वास्तव में उनकी यह भयंकर भूल है। जब तक सूत्रधर्म का वाचन–मनन और निदिध्यासन नहीं होता, तब तक सूत्रधर्म का मर्म समझा नही जा सकता। शास्त्रकारों ने सूत्रधर्म का महत्व यहां तक बताया है कि अगर सूत्रधर्म का विधिवत् वाचन, मनन और निदिध्यासन किया जाय तो मनुष्य संसार 'परीत' कर सकता है अर्थात् मोक्ष साधना के योग्य बन जाता है।

चारित्रधर्म–आचारधर्म का अनुष्ठान करने से पहले सूत्रधर्म अर्थात् विचार–धर्म का पूरा–पूरा ज्ञान होना चाहिये। जब तक यथार्थ वस्तु स्वरूप न जान लिया जाय तब तक आचरण अर्थहीन होता है। अनजाने को जानना, जाने हुए की खोज करना और खोजे हुए को जीवन में उतारना, यह जीवन

शुद्धि का मार्ग है। जो मनुष्य सूत्रज्ञान की आराधना किये बिना ही चारित्रधर्म का आचरण करता है वह मोक्षधर्म का मर्म ठीक तरह नहीं समझ सकता और परिणाम स्वरूप वह मोक्ष मार्ग का अधिकारी नहीं बन सकता। इसलिए भगवान् महावीर ने 'पढ़मं णाणं तओ दया' अर्थात् पहले ज्ञान फिर दया–चरित्र का हितोपदेश दिया है।

सूत्रधर्म का वास्तविक महात्म्य और स्वरूप समझाने के लिए शास्त्रकारों ने सूत्रधर्म अर्थात् सम्यक्त्व के आठ आचारों को जीवन में उतारने का उपदेश दिया है। सूत्रधर्म अर्थात् सम्यक्त्व के आठ ✦ आचार इस प्रकार हैं:–

(1) निःशंका (2) निःकांक्षता (3) निर्विचिकित्सा (4) अमूढ़दृष्टि
(5) उपगूहन (6) स्थिरीकरण (7) वात्सल्य (8) प्रभावना

✧णिस्संकिय णिक्कंखिय, णिव्वित्तिगिच्छा अमूढ़दिट्ठी य।
अवबूह थिरीकरणे, वच्छल्ल प्रभावणे अट्ठ।। उत्त॰28/31

टीकाः–शंकित–शंकित देशसर्वशंकात्मकं तस्याभावो निःशंकितं एवं **कांक्षणं कांक्षितं**–युक्तियुक्तत्वादहिंसाद्यभिधायित्वाच्च शाक्यौलूक्यादि दर्शनाभ्यापि सुन्दराण्येवेत्यन्यान्य दर्शन ग्रहात्मकं तदभावो निःकांक्षितम्। प्राग्वदुभयत्र बिन्दुलोपः। **विचिकित्सा** फलं प्रति संदेहो यथा किमियतः क्लेशस्य फलं स्यादुत नेति? तन्त्रन्यायेन 'विदः' **विज्ञास्ते च** तत्त्वतः साधव एव तज्जुगुप्सा वा यथा–किममी यत्तयो मलदिग्धदेहाः? प्रासुक जलस्नाने हि को दोषः स्यादित्यादिका निंदा तदभावो 'निर्विचिकित्सम्' निर्विजुगुप्सं वा। आर्षत्वाच्च सूत्र एवं पाठः। **अमूढा**– ऋद्धिमत्कुतीर्थिक दर्शनेऽप्यनवगीतमेवास्मद्दर्शनमिति मोह–विरहिता सा चासौ दृष्टिश्च बुद्धिरूपा **अमूढ़दृष्टिः**स चायं चतुर्विधोऽप्यान्तर आचारः। **ब्राह्यस्त्वाह**–उववूहत्ति, उपबृंहणमुपबृंहा, दर्शनादिगुणन्वितानां सुलब्धजन्मानो यूयं युक्तं चभ वद्वाशामिदमित्यादि वचोभिस्तत्तद गुणपरिवर्द्धनं तच्च, स्थिरीकरणं अभ्युपगत धर्मानुष्ठानं प्रति विषीद्वतां स्थैर्योत्पादनमुपबृंहास्थिकरणे। **वत्सलभावो**–वात्सल्यं साधर्मिक जनस्य भक्तपानादि नोचित प्रतिपत्तिकरणं तच्च प्रभावना च तथा स्वतीर्थोन्नति चेष्टासु प्रवर्त्तनात्मिका वात्सल्य प्रभावने। उपसंहारमाह–अष्टैतेदर्शनाचारा भवन्तीति शेषः। एभिरष्टाभिरा चर्यमाणस्यास्य उक्तफल सम्पादकतेति भावः, एतच्च ज्ञानाचाराद्युपलक्षकं, यद्वा दर्शनस्येव यदाचाराभिधानं तदस्यैवोक्तन्यायेन मुक्तिमार्गमूलत्व समर्थनार्थमिति सूत्रार्थः।।

जैसे हाथ–पैर आदि अंगों का वर्णन करने से शरीर का वर्णन हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन करने से सम्यक्त्व–सूत्रधर्म का वर्णन हो जाता है।

सम्यग्ज्ञान का विकास करने वाले आंतरिक गुण

(1) **निःशंका**–सम्यग्ज्ञानी ने जिस सम्यक्–धर्म को अंगीकार किया है, उसमें शंका न करना। उसमें शंकारहित होकर प्रवृत्ति करना– यह सम्यक्त्व का पहला गुण है।

(2) **निःकांक्षा**–सम्यक् धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की आकांक्षा न करना और अपने धर्म में अटल, अचल रहना और निष्काम भाव से सत्प्रवृत्ति करते रहना, यह सम्यक्त्व का दूसरा गुण है।

(3) **निर्विचिकित्सा**–सम्यक् धर्म के फल में सन्देह करना, सम्यज्ञानी के आचार–विचार के प्रति अरुचि रखना, उससे घृणा करना, तिरस्कार करना, यह विचिकित्सा दोष है। इस दोष का त्याग करना अर्थात् निर्विचिकित्सा गुण को धारण करना सम्यक्त्व का तीसरा गुण है।

(4) **अमूढ़दृष्टित्व**–विवेक बुद्धि रखना अर्थात् प्रत्येक बात को युक्ति अनुभव या आगम की कसौटी पर कसकर स्वीकार करना, संघधर्म के प्रति सद्भाव रखना, किसी धर्म के प्रति घृणाभाव न रखना और सद्धर्म के प्रति मूढ़तापूर्वक नहीं वरन् विवेक बुद्धिपूर्वक अटल विश्वास रखना, यह सम्यक्त्व का चौथा गुण है। यह सम्यग्ज्ञानी के चार आंतरिक गुण हैं। इन चार गुणो को धारण किये बिना सम्यक्त्व प्रकट नहीं हो सकता।

सम्यग्ज्ञान का विकास करने वाले बाह्य गुण

(5) **उपगूहन**–सद्धर्म के मार्ग पर चलने वाले को उत्साहित करना। धर्मनिन्दा का प्रतिकार करना और धर्मगुण की प्रशंसा करना, यह सम्यक्त्व का पांचवां गुण है।

(6) **स्थिरीकरण**–जो मनुष्य सद्धर्म से च्युत हो रहा है–आपत्ति आने पर या किसी प्रलोभन में पड़कर सद्धर्म का मार्ग त्याग रहा हो, उसे आपत्ति में सहायता करना और प्रलोभन से बचाना और धर्ममार्ग में स्थिर करना, यह सम्यक्त्व का छठा गुण है।

(7) वात्सल्य—जगत् के जीवों और विशेषतः सहधर्मियों के प्रति वात्सल्य भाव अर्थात् बन्धुभाव रखना और ऐसा प्रयत्न करना जिससे बन्धुभाव में वृद्धि होती रहे, यह सम्यक्त्व का सातवां गुण है।

(8) प्रभावना—प्रत्येक समुचित उपाय द्वारा धर्मोद्धार करना, धर्म प्रचार करना और धर्मप्रचार से जन समाज को प्रभावित करके धर्ममार्ग पर लाना यह सम्यक्त्व का आठवां गुण है।

सम्यक्त्व के इन आठ गुणों में चार आन्तरिक गुण हैं और चार सम्यक्त्व के द्योतक बाह्य गुण हैं। इन बाह्य गुणों के आचरण से सम्यक्त्व का प्रकाशन होता है। सम्यक्त्व के आन्तरिक गुणों—निशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टित्व को धारण किये बिना बाह्यगुण—उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना प्रकट नहीं हो सकते अथवा फलवान् नहीं हो सकते।

यह आठ गुण दर्शन के आचार हैं। इन दर्शनाचारों का आचरण करने वाला पुरुष उपर्युक्त फल सम्पादन करता है। यह आठ आचार ज्ञानाचार आदि के भी उपलक्षक हैं। दर्शनाचार मुक्ति का मार्ग है। सूत्रधर्म का समर्थन करने के लिए यहां दर्शनाचार का कथन किया गया है। यह आठ आचार सूत्रधर्म के भी समझने चाहिएं।

निःशंकता—इन आठ आचारों में निःशंका बनना, पहला आचार है। जो मनुष्य धर्म के विषय में अथवा किसी धार्मिक प्रवृत्ति में, सन्देह रखता है, वह जीवन—ध्येय तक नहीं पहुंच सकता। यही निःशंक बनाने का आशय है।

निःशंक बनना अर्थात् दृढ़ विश्वास रखना। यह स्मरण रखना चाहिए कि दृढ़ विश्वास में अन्ध विश्वास की गन्ध भी नहीं होती। दृढ़ विश्वास सम्यक्त्व का प्रधान अंग है। अगर धर्म में दृढ़ विश्वास को स्थान न दिया जाय तो धर्म का आचरण होना कठिन हो जायेगा। दृढ़ विश्वास धर्मरूपी महल की नींव है। अगर दृढ़ विश्वास रूपी नींव मजबूत न हुई तो शंका कुतर्क आदि के धक्कों से धर्ममहल हिल उठेगा। मगर धर्म में जो दृढ़ विश्वास हो, वह अन्ध विश्वास में से पैदा नहीं होना चाहिए। जो विश्वास श्रद्धा और तर्क की कसौटी पर चढ़ा हुआ होता है, वही सुदृढ़ होता है। अतएव दृढ़ विश्वास श्रद्धाशुद्ध और तुर्कशुद्ध होना चाहिए। श्रद्धा का जन्म सच्ची जिज्ञासाबुद्धि में से होता है। अतएव जिज्ञासा बुद्धि द्वारा धर्मश्रद्धा दृढ़ बनानी चाहिए। धर्म के विषय में शंका करने से शंका दोष लगने का भय निर्मूल है। जो मनुष्य केवल वितण्डावाद बढ़ाने के लिए या अपनी तर्क शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए शंका की लहरों पर नाचता रहता है, वह धर्म का तनिक भी मर्म नहीं समझ

सकता। जो धर्म के विषय में शंका का निवारण कर लेता है, वह धर्म का मर्म समझकर और तदनुसार आचरण करके आत्मशुद्धि प्राप्त करता है। अलबत्ता वह शंका विश्वास पूर्वक होनी चाहिए। साहित्य में संशय के संबंध में भिन्न भिन्न कथन पाये जाते हैं। एक[1] जगह कहा गया है।

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति। (हितोपदेश)

अर्थात्–मनुष्य जब तक शंका नहीं करता तब तक वह कल्याण मार्ग को नहीं देख सकता।

दूसरे[2] स्थल पर संशय के संबंध में ऐसी व्याख्या मिलती है।

'संशयात्मा विनश्यति'

अर्थात्–संशय करने वाले की ज्ञानादि रूप [3]आत्मा नष्ट हो जाती है।

प्रश्न हो सकता है कि यह दो परस्पर विरोधी बातें किसलिए कही गई हैं? अगर संशय बुरी चीज है तो शास्त्र में अनेक स्थलों पर श्री गौतम को भगवान् 'जायसंसय' (जातसंशय) अर्थात् गौतम को संशय उत्पन्न हुआ, यह बात क्यों कही है? और यदि संशय अच्छा है, तो संशय को सम्यक्त्व का दोष क्यों बतलाया है? इसका कारण क्या है?

इसका समाधान यह है। आप लोग (व्याख्यान के समय) जिस मकान के नीचे बैठे हैं, उसकी ऊंचाई, निचाई अथवा उसके गिरने, पड़ने की मजबूती देख लेना अपना कर्त्तव्य समझते हो। मगर 'बिना परीक्षा किये कहीं मकान पड़ गया तो?' इस भय के मारे व्याख्यान में सम्मिलित न होओ, यह ठीक नहीं है। इसी प्रकार छद्मस्थ अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति केवली–सर्वज्ञ की अपेक्षा सब कुछ नहीं जान सकता। उसमें से उपयोगी बात जानने के लिए विश्वास पूर्वक संशय करने में दोष नहीं है। पर जो पुरुष भीतर ही भीतर संशय में डूबा रहता है और निर्णय नहीं करता वह 'संशयात्मा विनश्यति' का उदाहरण बन जाता है।

आपको भलीभांति मालूम है कि कभी कभी रेलगाड़ी पटरी से नीचे उतर जाती है, जहाज समुद्र में डूब जाता है और उससे लोगों की हानि भी हो सकती है। परन्तु हमेशा ऐसा प्रसंग नहीं आता। कभीकभी ही ऐसी अनिष्ट

---

1 हितोदेश 2 भगवद्गीता

3 जैन शास्त्रो मे आत्मा आठ प्रकार की कही गई है–

(1) द्रव्यात्मा (2) कषायात्मा (3) योगात्मा (4) उपयोगात्मा (5) ज्ञानात्मा (6) दर्शनात्मा (7) चारित्रात्मा (8) वीर्यात्मा।

दुर्घटना होती है ऐसी स्थिति में अगर कोई गृहस्थ यह शंका करके कि रेलगाड़ी और जहाज में वैठने वाले मर जाते हैं, रेलगाड़ी या जहाज का उपयोग ही न करे तो क्या उसकी यह शंका आप उचित समझेंगे? नहीं।

केवल आपत्ति के डर से किसी काम में हाथ न डालना, कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। कार्य करते समय हानि लाभ का विचार और विवेक अवश्य होना चाहिए, पर प्रारम्भ से, किसी कार्य को शंका की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। मनुष्य निर्णयात्मक बुद्धि से जितना अधिक विचार करता है, उसे उतना ही अधिक गम्भीर रहस्य समझ में आता है।

'कौन जाने परमात्मा है या नहीं? यह साधु है या नहीं? अथवा साधु द्वारा बतलाये हुए उपायों से परमात्म-पद की प्राप्ति होगी या नहीं?' इस प्रकार की कुशंकाएं करके जो मनुष्य इष्ट देव और धर्म पर आस्था नहीं रखता, वह क्षण क्षण में अपने हृदय में शंकाएं उत्पन्न करता हुआ अन्त में शंका शील बन जाता है और उसकी ज्ञानात्मा ज्ञानदृष्टि से निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है।

अगर कोई कहे कि जैनशास्त्र सत्य है, इस बात की पुष्टि में क्या कोई प्रमाण हैं। यह प्रश्न ठीक है।

मैं आपसे पूछता हूं-पांच और पांच कितने होते हैं? दस। अगर कोई गणितशास्त्र का एम. ए. आपसे कहे कि पांच और पांच ग्यारह होते हैं तो क्या आप उसकी वात मान लेंगे? कदापि नहीं। अगर वह कहे कि मैंने गणित में एम. ए. पास किया है, इसलिए मेरी बात प्रमाणभूत है, तो आप उसे क्या उत्तर देंगे? आप कहेंगे-इस विषय में हमारा अनुभव है। यही नहीं, हमें विश्वास भी है कि पांच और पांच मिलकर दस ही होते हैं। तुम ग्यारह बताकर हमें भ्रम में डाल रहे हो। हम इसे मानने के लिए तैयार नहीं। तुम स्वयं भूल कर रहे हो।

जैसे पांच और पांच मिलकर दस ही होते हैं, यह बात प्रत्येक मनुष्य सरलतापूर्वक समझ सकता है। इसी प्रकार जैनधर्म के सिद्धान्त भी ऐसे हैं जिन्हें सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। उनकी सच्चाई भी बहुत जल्दी मालूम हो सकती है। तात्पर्य यह है कि जैन सिद्धान्त की करीब करीब सभी वातें अपने अनुभव से समझी जा सकती है।

प्रत्येक मनुष्य इस वात को अच्छी तरह जानता है कि जो धर्म हिंसा का विधान करता है, वह धर्म वास्तव में धर्म नहीं है। अव तुम वताओ कि जैनधर्म हिंसा का प्रतिपादन करता है या अहिंसा का? अहिंसा का।

अगर कोई आदमी छलकपट करके तुम्हारी कोई चीज छीन ले तो तुम उसे क्या कहोगे–धर्मात्मा या पापी? पापी।

प्रत्येक मनुष्य बिना सिखाये, केवल अपने ही अनुभव से ऐसे कृत्य को अधर्म कह सकता है। इसी प्रकार जैनधर्म के सिद्धान्त भी अनुभवसिद्ध हैं। उनकी सत्यता प्रतिपादन करने के लिए प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। अपनी आत्मा का अनुभव ही उन सिद्धान्तों की सत्यता के लिए प्रमाणभूत है।

अगर कोई ऐसी शंका करे कि जिन्होंने अहिंसा को धर्म बतलाया है, उनका बतलाया हुआ भूगोल ओर खगोल, आधुनिक भूगोल–खगोल के साथ मिलता नहीं है, तो फिर उन्हें सर्वज्ञ क्यों माना जाता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मैंने उन्हें भूगोल खगोल रचने के कारण परमात्मा नहीं माना है, परन्तु अहिंसा, सत्य आदि मंगलमय धर्म के प्ररूपक होने से परमात्मा माना है। उनका बतलाया हुआ भूगोल–खगोल, आधुनिक भूगोल–खगोल के साथ मिलान नहीं खाता तो, उसके लिए ऐसा कोई साधन मेरे पास नहीं है जिससे यह बताया जा सके कि उन्होंने किस विशिष्ट विचार से भूगोल–खगोल की रचना की थी। पर अहिंसा का सिद्धान्त, जो मेरे अनुभव से सत्य और पूर्ण कल्याणकारी साबित हुआ है, उसके आधार पर यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि अहिंसा, सत्य आदि सिद्धान्तों का प्रणेता कदापि असत्य भाषण नहीं कर सकता।

अहिंसावादी अणुमात्र असत्य भाषण को भी आत्मघात करने के समान समझता है। पूर्ण अहिंसावादी आत्मा का घात जो एक प्रकार की हिंसा ही है, कैसे कर सकता है?

तब प्रश्न होता है, अब उनका रचा हुआ भूगोल–खगोल आधुनिक भूगोल–खगोल से क्यों नहीं मिलता? वह सत्य क्यों नहीं जान पड़ता? यह बात नीचे लिखे उदाहरण से स्पष्ट होगी।

हवा को किसी थैली में भरकर अगर सोना–चांदी तोलने के बांटों से तोला जाय, तो हवा में कुछ भी वजन नहीं मालूम पड़ता, यह वैज्ञानिकों का कथन है कि वायु में वजन है और वह वजन तोला भी जा सकता है। हमें हवा में वजन नहीं मालूम पड़ता इसका कारण सिर्फ यही है कि अपने पास उसे तोलने के साधन नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार अपना भूगोल और खगोल जिस सिद्धान्त पर रचा गया है, उसे सिद्ध करने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं है। अगर साधन होते तो उसे प्रमाणित किया जा सकता था कि अमुक सिद्धान्त पर इस भूगोल की रचना की गई है।

जैन भूगोल में चौदह राजू लोक की स्थिति पुरुषाकार बताई गई है। अगर कोई मनुष्य, इस लोकस्थिति का प्रतिदिन एक घंटा ध्यान करे तो छह महीने बाद वह स्वयं स्वीकार करेगा कि इसमें अपूर्व आनन्द भरा हुआ है। मुझे थोड़ासा अनुभव है, फिर भी मैं कह सकता हूं कि इससे बहुत आनन्द आता है। जो विशिष्ट ज्ञानी हैं, उन्हें इस लोकस्थिति के ध्यान से कैसा आनन्द आता होगा, यह बात वाणी के अगोचर है।

इससे यह सिद्ध है कि जिन्होंने जैन सिद्धान्त और जैनशास्त्रों की रचना की है, वे सर्वज्ञ थे। उनके कहे प्रत्येक शब्द में अत्यन्त गूढ़ रहस्य छिपा है। उनकी सब बातें समझने में हमारी बुद्धि असमर्थ हो, यह बात जुदी है।

जैनधर्म में अहिंसा, सत्य आदि मंगलधर्मों के संबंध में सूक्ष्मतर विचार करते हुए जीव, अजीव आदि नव तत्वों का तथा अनेकान्तवाद, नयवाद, प्रमाणवाद, कर्मवाद, लोकस्वरूप आदि मौलिक सिद्धान्तों का जो अन्वेषण किया गया है, वह इतना स्वाभाविक और वैज्ञानिक है कि उनकी बदौलत जैनधर्म सर्वसाधारण के लिए आचरणीय हो गया है। विज्ञान के विकास के साथ जैनधर्म का रहस्य जनसमाज की समझ में आता जायेगा।

जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझने के लिए अनेकांतवाद चाबी है। आज धर्म का जो सत्य स्वरूप भूला जा चुका है उसका प्रधान कारण अनेकान्तवाद की अवगणना है। अनेकान्तवाद की चाबी से जब जैनधर्म का प्रवेश द्वार खोला जायेगा तभी जैनधर्म का साक्षात्कार होगा।

एक प्रश्न जो सारे संसार को गड़बड़ में डाल रहा है यह है कि अहिंसा अगर कल्याणकारिणी है तो अहिंसाधर्मी जनों की अवनति क्यों हुई? प्रश्न सही है, क्योंकि जनों की अवनति हो रही है। भारत में अहिंसा पालने वाले बहुत हैं। दूसरे वादों में भले ही मतभेद हों, पर शैव, वैष्णव, जैन आदि सभी धर्मों ने 'अहिंसा परमो धर्मः स्वीकार किया है। तो अहिंसा प्रधान भारत देश की अवनति क्यों हुई?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अहिंसाधर्म आचरणीय धर्म है। इसका पूर्णरूप से पालन करने वाले बहुत थोड़े हैं और वे भी नाम मात्र के हैं।

अहिंसा धर्म का पालन वीर पुरुष ही कर सकते हैं, मगर आज मनुष्यों में डर घर कर गया है। जो मनुष्य डरपोक है, वह अहिंसाधर्म का पालन कदापि नहीं कर सकता।

जब तक मनुष्य सम्यक् प्रकार से अहिंसा का पालन करना न सीखे तब तक कभी उन्नति होने की नहीं, यह बात सुनिश्चित है।

कहा जा सकता है, अगर अहिंसा का पालन किये बिना उन्नति सम्भव नहीं है तो हिंसा करने पर भी पाश्चात्य देशों की उन्नति कैसे हो गई?

इसका कथन यह है कि यूरोप की मालूम होने वाली भौतिक उन्नति वास्तव में उन्नति नहीं है, वह भयंकर अवनति है। भारतवर्ष में अहिंसा के जो कुछ संस्कार अवशेष हैं, उनके प्रभाव से जितनी सुसंस्कारिता अधिकांश भारतीयों में दिखाई देती है, उतनी संसार के किसी भी छोर पर–किसी भी देश में नजर नहीं आती। अगर भारतीय दाम्पत्य धर्म के साथ अमेरिका के दाम्पत्य धर्म के साथ तुलना की जाय तो स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि अमेरिका में पंचानवे प्रतिशत विवाह संबंध भंग किये जाते हैं। इसके सिवाय भारतवर्ष में गरीब से गरीब मनुष्यों को जितना सुख मिल रहा है, उतना सुख वहां के गरीब मनुष्यों को नहीं मिलता।

एक बार मैं घाटकोपर (बम्बई) में चातुर्मास में स्थित था। तब मेरे सुनने में आया था कि अमेरिका गये हए एक भारतीय सज्जन का यहां पत्र आया है। उन्होंने पत्र में लिखा है–अमेरिका के निम्न श्रेणी के मनुष्य की आर्थिक स्थिति भारतवर्ष के निम्न श्रेणी के मनुष्यों की अपेक्षा बहुत खराब है। वहां के गरीब आदमी प्रायः अखबारों की रद्दी बिछाने ओढ़ने के काम लेते हैं। वहां कुछ आदमी अरबपति हैं, मगर कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें ओढ़ना बिछौना भी नसीब नहीं है। इस स्थिति को सुधार या उन्नति कहना उचित नहीं है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझकर, आत्मौपम्य की भावना की उन्नति में ही मानव–समाज की सच्ची उन्नति है।

अगर वैषम्य ही वास्तविक उन्नति है अर्थात् गरीबों के जीवन मरण का विचार न करके, चाहे जिस उपाय से उनका धन हड़पकर तिजोरियां भर लेना ही उन्नति का आदर्श है, तो जो मनुष्य दगाबाजी करके, सट्टा करके धनोपार्जन कर रहे हैं, वे भी उन्नति कर रहे हैं, यह मान लेना पड़ेगा। मगर इस प्रकार छल–कपट करके, धन लूट लेने को उन्नति मान लिया जाय तो कहना होगा कि अभी हम उन्नति का अर्थ ही नहीं समझ पाये हैं।

आज विश्व में विषमता के कारण जीवन मृतप्राय हो रहा है। जहां देखो वही भेदभाव, विषमता, उच्च नीच की भावना फैली हुई है। इसी कारण दुःख और दरिद्रता की वृद्धि हो रही है। जगत् को इस दुःखी अवस्था में से उबारने का एक ही मार्ग है और वह है समानता का आदर्श। समानता के आदर्श का अनुकरण करने में ही सच्चा सुख है। एक अहिंसावादी मर भले ही जाय पर अन्यायपूर्वक किसी का प्राणधन हरण नहीं करता और एक दूसरा

मनुष्य किसी का जीवन लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, तो इन दोनों में आप किसे उन्नत समझेंगे? अहिंसावादी को।

अहिंसा–धर्म का ठीक–ठीक रहस्य न समझकर, अथवा अहिंसावादी कहलाकर भी हिंसक कृत्य करने से अवनति न होगी तो क्या उन्नति होगी?

आज मन्दिरों, तीर्थों और अन्य धर्म स्थानों में धर्म के नाम पर जो अत्याचार एवं अनाचार हो रहे हैं उन कुकर्मों का फल क्या बिना मिले रहेगा? भारतवर्ष अपने ही कुकर्मों से अवनति के गड्ढे में गिरा है। अब तक मनुष्यों में सत्य, शील, सदाचार आदि गुणों का अंश अवशिष्ट है, वह सब पूर्वजों का ही प्रताप है। हम लोग तो अपने पूर्वजों द्वारा उपार्जित धर्म सम्पत्ति का व्यय ही कर रहे हैं। हमने कुछ नवीन उपार्जन करके उसे बढ़ाया नहीं है। मगर आज मनुष्य जितने परिमाण में अहिंसापालन, तपश्चरण आदि प्रशस्त क्रियाएं करते हैं उतने परिमाण में वे संसार को कल्याणमार्ग की ओर ले जाने के लिए अपने जीवन का सदुपयोग कर रहे हैं।

कहा जा सकता है कि जैनधर्म में दो प्रकार की अहिंसा क्यों कही गई है? जैसा कि कुछ ❂लोग कहते हैं–'जीवों को न मारना अहिंसा है मगर मरते हुए जीवों को बचाना पाप है।

इस प्रश्न का समाधान यह है कि जिन्हें अहिंसा का ठीक ठीक अर्थ नहीं मालूम वे कुछ भी क्यों न कहें, पर सारा संसार जानता है कि अहिंसा शब्द हिंसा का विरोधी है। जिस कृत्य से, विचार से या वाणी से हिंसा का विरोध हो, वह अहिंसा है। इसके विपरीत जिस कृत्य आदि से अहिंसा का विरोध हो, वह हिंसा है।

मान लीजिए, एक आदमी किसी दूसरे निरपराध मनुष्य पर तलवार का प्रहार करने के लिए उद्यत हो रहा है। अगर कोई तीसरा मनुष्य उपदेश द्वारा उसे उस दुष्ट कृत्य से रोकता है तो उसका रोकना हिंसा का विरोध करना कहलाएगा।

हिंसा का विरोध करना अहिंसा है, यह पहले कहा जा चुका है। अतएव जो मनुष्य हिंसा को रोकता है अर्थात् हिंसा का विरोध करता है, वह निश्चित रूप से अहिंसक ही है फिर भी अगर कोई हिंसक कहे तो उसे क्या कहना चाहिए? वास्तव में ऐसा करने वाला असत्यभाषी है।

❂ ऐसी अटपटी मान्यता श्वे॰ तेरापंथी सम्प्रदाय की है।

रक्षा करने वाला हिंसक या पापी है ऐसा कोई भी बुद्धिमान पुरुष नहीं कह सकता।

रावण, सीता का शील हरण करने को उद्यत हुआ। विभीषण ने उसे रोका। इन दोनों में कौन 'कुशील' कहलाएगा? रावण। और विभीषण? शीलवान् कहलाएगा।

अगर सीता के शील की रक्षा करने के कारण कोई विभीषण को कुशीलवान् कहे तो क्या यह न्याययुक्त कथन होगा? नहीं।

अगर हमारी ऐसी मान्यता है और वह सर्वथा न्यायसंगत है तो जो मनुष्य 'मत मारो' कहकर हिंसा का निषेध करता है उसे हिंसक बतलाना क्या उचित है? हर्गिज नहीं।

इस विवेचन का तात्पर्य इतना ही है कि जो लोग अहिंसा का अर्थ सिर्फ न मारना कहते हैं और बचाना हिंसा मानते हैं वे बड़ी भूलकर रहे हैं।

अहिंसाधर्म संसार में सर्वोत्तम धर्म है। यह धर्म स्वाभाविक एवं आत्मानुभव सिद्ध है। इसमें संदेह को अवकाश ही नहीं है।

सारांश यह है कि कौन बात कितनी हद तक सत्य है, यह विचार पहले ही कर लेना चाहिए। जिसमें संशय हो उसका निर्णयात्मक बुद्धि से विचार कर संशय दूर कर लेना चाहिए। परन्तु धर्म नामक तत्व है या नहीं? इस प्रकार के संदेहों को अन्तःकरण में स्थान नहीं देना चाहिए। जो पुरुष इस प्रकार का सन्देह करता है उसकी आत्मा, ज्ञानदृष्टि से सो जाती है—नष्ट हो जाती है। इसके विपरीत जो पुरुष निर्णयात्मक बुद्धि से अपनी शंकाओं का निवारण करता है वह सत्पथ पर आरुढ़ होकर, अग्रसर होकर आत्मसिद्धि का लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

कांक्षा का अर्थ है—इच्छा करना। अन्य धर्म का दर्शन और निःकांक्षा उसकी धर्मक्रिया देख कर, स्वधर्म का परित्याग करके अन्य धर्म को ग्रहण करने की इच्छा करना 'कांक्षा' कहलाता है। यह सम्यक्त्व का दोष है और इच्छा या कांक्षा न करना सम्यक्त्व का अंग है।

यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार में ऐसा कौनसा जीव है जिसे किसी प्रकार की कांक्षा न हो? जिस पुरुष को किसी भी प्रकार की कांक्षा नहीं होती वह छद्मस्थ नहीं, वीतराग है। छद्मस्थ को तरह—तरह की कांक्षाएं होती हैं। ऐसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि को किस वस्तु की कांक्षा नहीं करनी चाहिए?

इसका उत्तर यह है कि जो स्वधर्म के देव, गुरु के सिवाय अन्य धर्म के देव और गुरु की कांक्षा करता है उसका सम्यक्त्व दूषित हो जाता है।

प्रश्न उठता है—स्वधर्म क्या है? अपने अपने धर्म की सभी बड़ाई करते हैं। सब कहते हैं—हमारे धर्म को मानो, हमारे गुरुओं की वन्दना करो और किसी दूसरे की मत मानो। गीता में कहा है:—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।

अर्थात्—स्वधर्म में रहते हुए मृत्यु का आलिंगन करना श्रेयस्कर है मगर परधर्म धारण करना भयंकर है।

जब तक स्वधर्म और परधर्म का ठीक—ठीक निर्णय न हो जाय तब तक वस्तुतत्व समझ में नहीं आ सकता। अतएव सर्व प्रथम यही निश्चय करना चाहिए कि स्वधर्म से क्या अभिप्राय है और परधर्म का क्या आशय है?

धर्म के दो भेद हैं:—एक तो वर्णधर्म और दूसरा आत्मिक धर्म। यदि धर्म का इस प्रकार वर्गीकरण करके उसका स्वरूप न समझ लिया जाय तो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

जैसा कि अभी बतलाया गया है, गीता का कथन है कि यदि अपने धर्म में कुछ कठिनाइयां हों और दूसरे के धर्म में सरलता दिखाई देती हो तो भी परधर्म को न अपना कर, अपने धर्म के लिए प्राण दे देने चाहिएं।

क्या इसका मतलब यह है कि एक शराबी शराब पीना अपना धर्म समझता है, शराब के बिना उसका काम नहीं चलता तो शराब के लिए उसे प्राण दे देने चाहिएं? नहीं, इसका यह अर्थ नहीं है। राजा प्रदेशी को, जिसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे और जिसने जीवहिंसा करना ही अपना धर्म मान रक्खा था, क्या मुनि के उपदेश से हिंसा का त्याग नहीं करना चाहिए था? तब स्वधर्म के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देने का आशय क्या है?

मैंने जहां तक विचार किया है तथा अन्य विद्वानों के विचार सुने हैं, उससे यही प्रतीत होता है कि यहां धर्म शब्द का तात्पर्य वर्णाश्रम धर्म के साथ है। यहां अपने वर्णधर्म पर डटे रहने का उपदेश दिया गया है।

वर्णाश्रम धर्म के विषय में अगर ऐसा कड़ा उपदेश न दिया जाय तो संसार की व्यवस्था ठीक न रहती। ब्राह्मण को ब्राह्मण धर्म पर, क्षत्रिय को क्षत्रियधर्म पर, वैश्य को वैश्यधर्म पर, शूद्र को शूद्रधर्म पर कायम रहना चाहिए। मगर इस कथन का आशय यह नहीं है कि विद्याध्ययन करना ब्राह्मण का धर्म है इसलिए क्षत्रिय को विद्याध्ययन से बचकर अशिक्षित ही रहना चाहिए। अथवा क्षत्रिय का धर्म वीरता धारण करना है अतएव ब्राह्मण

को निर्बल एवं कायर रहना चाहिए। वैश्य का धर्म व्यापार करना है और शूद्र का सेवा करना है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वैश्य की स्त्री को कोई अपहरण कर ले जाय तो वह वीरता के अभाव में मुंह ताकता खड़ा रहे या शूद्र विद्या के सर्वथा अभाव के कारण यथोचित सेवा धर्म का पालन ही न कर पावे।

याद रखना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य में चारों गुणों का होना अत्यावश्यक है। उनके बिना जीवन का यथोचित निर्वाह ही नहीं हो सकता। अगर प्रत्येक वर्ण वाले में चारों गुण होना आवश्यक हैं तो वर्णाश्रम धर्म किस प्रकार निभेगा? इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक काम में प्रवीण नहीं होता। वह किसी एक ही काम में विशिष्ट योग्यता और सफलता प्राप्त कर सकता है। इसी आधार पर वर्ण का निर्माण किया गया है।

मान लीजिए एक क्षत्रिय युद्ध में लड़ने गया। वहां वह कुछ कठिनाइयां देखकर बनिया बन जाने की कांक्षा करता है। वह सोचता है—बनिया बन जाऊंगा तो मौत की अजीविका से बच जाऊंगा और आराम से जीवन बिता सकूंगा। इस प्रकार की कांक्षा नीच कांक्षा है। ऐसी कांक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए। उसे गीता के विधान का स्मरण करते हुए अपने कर्त्तव्य पर अपने धर्म पर हंसते—हंसते प्राण निछावर कर देने चाहिएं।

जिस समय वीर अर्जुन को रण में लड़ने के समय त्यागी ब्राह्मण बनने की कांक्षा हुई तो श्री कृष्ण ने कहा—

क्लैब्यं मा स्म गमः, पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप! गीता2/2

हे पार्थ! इस क्लीवता—नपुसंकता को हटाओ। तुम सरीखे बहादुर क्षत्रिय के लिए यह शोभा नहीं देता। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग करके तैयार हो जाओ।

तब यह स्पष्ट है कि वर्णधर्म की अपेक्षा स्वधर्म का अर्थ है—परम्परागत कर्त्तव्य। संकट पड़ने पर उसका त्याग करना स्वधर्म का त्याग करना है और दूसरे वर्ण के कर्त्तव्य को ग्रहण करने की अभिलाषा करना कांक्षा है।

जैसे वर्णधर्म के पक्ष में कांक्षा दोष है इसी प्रकार आत्मिकधर्म के पक्ष में भी कांक्षा दोष है। जो दर्शन या शास्त्र संमग्र और शाश्वत सत्य का निरूपक न हो करके अपूर्ण सत्य की ओर ही संकेत करते हैं, और जिनमें पूर्वा पर विरोधी बातों का समावेश है जिसका प्रणेता सर्वज्ञ और वीतराग नहीं है,

ऐसे दर्शनों की आकांक्षा करना कैसे उचित कहा जा सकता है? इसी कारण 'निःकांक्षता' सम्यक्त्व का अंग माना गया है।

वास्तव में कांक्षा एक ऐसा विकार है, जिसके संसर्ग से तपस्वियों की घोर तपस्या और धर्मात्माओं के कठोर से कठोर धर्मानुष्ठान भी कलंकित हो जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को कांक्षाहीन होकर ही कर्त्तव्य करना चाहिए। जो कांक्षा से अलग रहता है वह सबका प्रिय बन जाता है। कांक्षाहीन वृत्ति वाले के लिए मोक्ष दूर नहीं रहता। मगर फल की आंकांक्षा करने पर मनुष्य न इधर रहता है, न उधर का रहता है।

आज समाज में काम करने से पहले उसके फल की इच्छा रखने वाले बहुत हैं। कितनेक ऐसे हैं जो काम कुछ भी नहीं करना चाहते पर फल के लिए मुंह फैलाये बैठे रहते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण कर्त्तव्य भ्रष्ट होकर लोगों का घोर पतन आरम्भ हो गया है। समाज में अगर निस्पृहता से काम किया जाय तो काम करने वाले के साथ समाज का भी जल्दी उत्थान हो सकता है। सच्चे सम्यग्दृष्टि में ऐसी निस्पृहवृत्ति होनी चाहिए।

निर्विचिकित्साः—धर्म में बुद्धि स्थिर न रखने से और मन को डांवाडोल स्थिति में छोड़ रखने से धर्म अधर्म का विवेक जागृत नहीं होता। विवेक—बुद्धि के जागृत न होने से, धर्म की उपलब्धि नहीं होती और अधर्मबुद्धि का नाश नहीं होता। अतएव स्वधर्म पर दृढ़ विश्वास रखना चाहिए और परधर्म में मोहबुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

निर्विचिकित्सा का अर्थ है—धर्मकृत्य के फल में संदेह करना। अगर कोई मनुष्य विचार करे कि मैं धर्म पालन के लिए इतना कष्ट झेल रहा हूं सो इसका फल मिलेगा या नहीं? इस प्रकार फल में संशय करना विचिकित्सा है। अथवा मुनियों का तन मलिन देखकर घृणा करना भी विचिकित्सा दोष है। जैसे—यह मुनि शरीर को क्यों इतना मलिन रखते हैं? अगर अचित जल से स्नान कर लें तो क्या हानि है?

शंका और विचिकित्सा में क्या अन्तर है? इसका समाधान यह है कि सिद्धान्त संबंधी संशय शंका दोष कहा गया है और कर्त्तव्य के फल संबंधी संशय को विचिकित्सा दोष माना गया है।

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा रखना मन की दुर्बलता है। सर्वज्ञ की वाणी में इन्हें स्थान नहीं देना चाहिए। जो पुरुष सर्वज्ञ द्वारा परूपित धर्म के फल मे संदेह करता है वह अज्ञानी है। एक लौकिक उदाहरण से यह बात

अधिक स्पष्ट हो जायेगी। एक विद्याधर ने किसी मनुष्य को आकाशगामिनी विद्या सिखाई। उसने विद्या की परीक्षा तो कर ली मगर ऐसा अवसर उसे हाथ न लगा कि वह उससे विशेष काम लेता। अन्त में मरते समय उसने अपने लड़के को वह विद्या सिखलाई और कहा–बेटा, यह विद्या मैं सिद्ध कर चुका हूं। इसमें संदेह मत करना। पिता का देहान्त हो गया।

जब कुछ समय बीत गया तो लड़के ने सिद्ध की हुई विद्या की परीक्षा करने का विचार किया। वह पिता के कथनानुसार सब सामग्री लेकर जंगल में गया। वहां बड़ के पेड़ के नीचे एक भट्टी खोदी। उस पर तेल की कड़ाई जमाई और चौरासी तारों का एक छींका बनाकर सूत के धागे में बांधकर पेड़ की डालियों पर लटका दिया।

भट्टी में आग जलाकर, जब तेल खौलने लगे तब मन्त्र को पढ़ते–पढ़ते छींके में बैठना था और एक एक बार मन्त्र बोलकर एक–एक तार काटते जाना था। यद्यपि यह विद्या उसके पिता की आजमाई हुई थी और किसी प्रकार के संशय का कोई कारण न था, फिर भी लड़का बहुत डरा। वह सोचने लगा–मै छींके पर चढूं और छींका टूटकर गिर जाय तो मैं सीधा कढ़ाई में आ गिरूंगा–जल मरूंगा।

इधर लड़का इस पेशोपेश में पड़ा था, उधर नगर में, राजमहल में चोरी हुई। बहुत सा जवाहरात आदि चोरी चला गया। सिपाही चोर के पीछे पडे। ढूढ़ते ढूंढ़ते आखिर चोर दिखाई दिया। अब चोर आगे आगे भागता जाता था और सिपाही उसका पीछा कर रहे थे। चोर जंगल में पहुंचा। उसे वह लडका दिखाई दिया। सिपाही जंगल को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये।

चोर ने लड़के से पूछा–भाई, क्या कर रहे हो? लड़के ने उत्तर दिया–मुझे धन चाहिए। धन प्राप्त करने के लिए अपने पिताजी द्वारा सिद्ध की हुई विद्या से आकाश में उड़कर धन लेने जाऊंगा। पर भय लगता है–कहीं कढाई मे न गिर पड़ूं?

चोर ने कहा–तुम्हें धन चाहिए तो लो, मेरे पास बहुत सा धन है। मुझे अपना मन्त्र सिखा दो।

लड़का धन लेकर फूला न समाया। उसने चोर को मंत्र सिखा दिया। चोर बेखटके छीके मे जा बैठा। वह एक बार मन्त्र बोलता और एक तार काट देता। जब सभी तार कट गये तो सर–से आकाश में उड़ गया। लड़के ने सोचा–पिताजी का बताया मन्त्र सच्चा था। मगर मुझे धन की आवश्यकता

थी और वह मिल गया। तव जान जोखिम में डालने की क्या आवश्यकता है? अरुणोदय हुआ। पूर्व दिशा में लाली छा गई। कुछ कुछ प्रकाश फैलने लगा। सिपाही झाड़ी में दाखिल हुए। उन्होंने चोरी के माल के साथ लड़के को पकड़ लिया।

लड़का हैरान था। कुछ उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उसने कहा—मुझे, आप क्यों पकड़ते हैं? मैंने अपराध क्या किया है?

सिपाही—चोरी का माल पास में रख छोड़ा है और पूछता है—क्यों पकड़ते हो?

लड़का—चोरी का माल? यह चोरी का है? मुझे एक आदमी ने दिया है और वह आकाश में उड़ गया है।

सिपाही—चल, रहने भी दे। अब भी हमें उल्लू बनाना चाहता है? आदमी कहीं आकाश में उड़ते होंगे। चालाक कहीं का।

लड़के के होश उड़ गये। वह पश्चात्ताप करने लगा कि अगर मैंने पिताजी के वचनों पर विश्वास किया होता तो यह दिन नहीं देखना पड़ता।

तात्पर्य यह है कि छद्मस्थ को सर्वज्ञ भगवान् की वाणी में अविचल श्रद्धा रखनी चाहिए। लौकिक सुख—सुविधा आदि के विचार से परधर्म की कांक्षा न करनी चाहिए और धर्मकरणी के फल में संशय न रखना चाहिये।

(4) अमूढ़दृष्टि—परधर्मावलम्बियों को ऋद्धिसम्पन्न देखकर जिसके मन में यह व्यामोह उत्पन्न नहीं होता है कि 'यह ऋद्धिसम्पन्न है अतएव इसका धर्म श्रेष्ठ है और मेरा धर्म निकृष्ट है' वह अमूढ़दृष्टि कहलाता है। यह सम्यक्त्व का चौथा आचार है।

जो मनुष्य किसी की बाह्य ऋद्धि देखकर सोचता है—'यह गुरुजी तो कोई चमत्कार नहीं बताते' वह मूढ—दृष्टि है। जिसमें ऐसी मूढ़तापूर्ण दृष्टि नहीं होती वह अमूढदृष्टि कहलाता है।

धर्माचरण का फल आत्मशुद्धि है। उसे भूलकर जो धनधान्य आदि भोगोपभोग की सामग्री की प्राप्ति में धर्म की सफलता मानता है और किये हुए धर्माचरण का फल पाने के लिए अधीर हो जाता है, वह मूढ नहीं तो क्या है?

सम्यग्दर्शन वह ज्योति है, जिसे उपलब्ध कर मनुष्य विवेकमयी दृष्टि से सम्पन्न बन जाता है। जहां सम्यग्दर्शन होगा वहां मूढ़दृष्टि को अवकाश नहीं रहता।

ऊपर बताये हुए चार आचार सम्यक्त्व के आंतरिक आचार हैं अर्थात् इन आचारों का हृदय में आचरण किया जाता है। यह चारों आचार व्यक्तिगत आंतरिक मनोवृत्ति से संबंध रखते हैं। समयग्दर्शन का दिव्य दीपक जब अन्तःकरण में आलोकित हो उठता है, तब अन्तरंग में उल्लिखित चार विशेषताएं उत्पन्न होती हैं। अन्तरंग में विशेषता आ जाने पर सम्यग्दृष्टि की बाह्य प्रवृत्ति में भी विशेषता आना अनिवार्य है। उन विशेषताओं को चार बाह्य आचार कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—(5) उपबृहंणवृत्ति (6) स्थिरीकरण (7) वात्सल्य और (8) प्रभावना।

(5) उपबृहंणवृत्ति—किसी के धार्मिक उत्साह की किसी भी उचित उपाय से वृद्धि करना उपबृंहण कहलाता है। जैसे अगर कोई सम्यग्दर्शन गुण से विभूषित है, तो उसके गुण देखकर उसे उत्साहित करना—'आपका जन्म सफल है, आप सरीखे सत्पुरुषों को यही उचित है।' इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के सद्गुणों में अपना प्रमोदभाव व्यक्त करना और उसे धर्म के प्रति उत्साहित करना 'उपबृंहण या उपबृंहा' है।

(6) स्थिरीकरण—स्वीकार किये हुए धर्म के अनुष्ठान करने में जिसे विषाद शोक होता हो, उसे स्थिर बनाना अर्थात् उसे धर्म में दृढ़ करना स्थिरीकरण अंग है। इसी प्रकार सम्यक्त्व से डिगते हुए को सम्यक्त्व में स्थिर करना भी स्थिरीकरण है।

कहा भी है:—

दर्शनाच्चरणाद्वाऽपि, चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञोः, स्थिरीकरणमुच्यते।।

अर्थात्—धर्मप्रेमी पुरुष, सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र से विचलित होने वाले सहधर्मी को दर्शन—चारित्र में दृढ़ करता है, इसीको स्थिरीकरण कहते हैं।

धर्म में पुनः स्थिर करने के दो मुख्य मार्ग हैं—प्रथम धर्म में अस्थिर बने हुए को धर्म का उपदेश देकर स्थिर करना और दूसरे असहाय को सहायता देकर स्थिर करना।

यह कहा जा सकता है कि असहाय को सहायता देने से किसी न किसी प्रकार के आरम्भ की सम्भावना है। यह कहना ठीक है परन्तु सम्यग्दृष्टि आरम्भ को आरम्भ मानता है। फिर भी अगर कोई पुरुष धर्म में स्थिर होता है तो वह महान् सम्यक्त्व का आचार है। इस आचार में पाप नहीं है, वरन् धर्म है।

वात्सल्यभाव–वात्सल्य आचार में अत्यन्त गूढ़ रहस्य है। गाय जैसे अपने बछड़े पर प्रेमभाव रखती है, उसी प्रकार सहधर्मी पर निस्वार्थ प्रेम रखना वात्सल्य आचार है। वात्सल्य गुण यद्यपि हृदय की लोकोत्तर विभूति है, पर यह व्यवहार में आये बिना नहीं रहता। उसे व्यवहार में लाने के अनेक द्वार हैं। जैसे किसी श्रावक की एक कन्या है। उसने विचार किया–मुझे अपनी कन्या का विवाह करना है। पर किसी सहधर्मी के साथ विवाह हो तो अच्छा है, क्योंकि धर्मप्राप्त होना कठिन है, और धर्म पर श्रद्धा रखने से जैसा मुझे अलौकिक आनन्द और सन्तोष मिलता है, उसी प्रकार उसे भी मिल सकेगा। धर्म के प्रति उसकी अभिरुचि भी बढ़ेगी साथ ही एक सहधर्मी भाई को गृहस्थ धर्म के पालन में सहायता मिलेगी। इसी प्रकार बाजार से कोई चीज खरीदनी है तो सहधर्मी की दूकान से खरीदना, सहायक नौकर की आवश्यकता हो तो सर्वप्रथम सहधर्मी को ही अवसर देना और सोचना कि सहधर्मी भाई होगा तो कामकाज में भी सहायता मिलेगी और धर्म में भी सहायता मिलेगी, साथ ही सहधर्मी की बेकारी दूर हो जायेगी। यह वात्सल्य गुण है। वात्सल्य गुणधारी सम्यग्दृष्टि विवाह आदि कृत्यों में भी सहधर्मी–वात्सल्य का विचार रखता है।

प्राचीन काल में स्वधर्मीवात्सल्य का गुण कितना विकसित था, यह बात नीचे लिखे ऐतिहासिक उदाहरण से स्पष्ट समझ में आएगीः–

बहुत वर्षों पहले की बात है। मांडलगढ़ नाम की विशाल नगरी थी। वहां के जैन स्वधर्मीवात्सल्य का पालन करना जानते थे। सभी समान थे, सभी स्वधर्मीवन्धु थे। वे सब मिलजुल कर रहते और विकास करते थे। उनका सामाजिक जीवन भी बड़ा उन्नत था। रोटीबेटी का सबका सबके साथ समान व्यवहार था। दस्सा, बीसा, ओसवाल पोरवाल आदि के भेदभाव ने उनकी एकता के बीच में कोई दीवार खड़ी नहीं की थी। सभी जिन के उपासक, सभी स्वधर्मी भाई। भेद भला क्यों होता? यह सुनकर आश्चर्य होगा, पर कहा जाता है कि वे सभी लखपति थे और वहां एक लाख घरों की जैनों की बस्ती थी।

यह कपोल–कल्पित कहानी नहीं है। इसके आधारभूत ऐतिहासिक प्रमाण हैं। आज भी एक सरीखे अनेक मकानों की पंक्ति–थोड़े–थोड़े अन्तर पर नालछाप से लेकर मांडलगढ़ तक छः मील की लम्बाई में खण्डहरों के रूप मे खड़ी हुई महत्वपूर्ण अतीत कालीन आदर्श की साक्षी दे रही है। वह खण्डहरों की माला जैनों के विगत ऐश्वर्य की और उनके स्वधर्मीवात्सल्य की अनबोलती मूर्ति हैं। वास्तव में पहले जैनपुरी थी, आजकल वह धार रियासत

के अन्तर्गत है। वहां के गरीब और राज्यपीड़ित भीलों के लिए वह आज भी आश्वासन दायक स्थान है। एकसे मकानों की बनावट को देखकर आज अतीत काल का हूबहू चित्र आंखों के आगे खड़ा हो जाता है।

एक सरीखे मकानों की बनावट क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वहां सच्चा स्वधर्मीवात्सल्य था। हम लोगों में एक पुरानी कहावत है–'सात–पांच की लकड़ी, एक जन का बोझ' यह कहावत मांडलगढ़ में किसी समय प्रयोग मे लाई जाती थी।

मांडलगढ़ के जैनों में यह नियम प्रचलित था कि अपना कोई स्वधर्मी भाई नया नया आवे तो प्रत्येक घर से एक रुपया और एक ईंट से उसका स्वागत किया जाये। वहां एक लाख घर थे अतएव आने वाला सीधा लखपति और सुन्दर मकान का मालिक बन जाता था। इसे कहते हैं जैन समाज का स्वधर्मी वात्सल्य।

इस प्रकार स्वधर्मीवात्सल्य की आराधना करने से अनायास ही समानता उत्पन्न होती है और यह समानता सच्ची विश्वव्यापी मानवता में से प्रादुर्भूत होती है और मानवता का अधिक से अधिक प्रचार तथा विकास ही जैनसंस्कृति का आदर्श है।

इसका अर्थ यह समझा जाय कि सब जैनों को लखपति बन जाना चाहिए। अगर समस्त जैन लखपति बन जायें तो दूसरी प्रजा क्या करेगी? अपरिग्रह जैनों का प्रधान व्रत है और उसे जीवन में स्थान मिलना चाहिए।

जहां सच्ची बान्धववृत्ति है, वहां संगठन सहज ही हो जाता है, और जहा बन्धुत्वपूर्ण सामाजिक जीवन और महामूल्यमयी स्वतन्त्रता है, वहीं सच्चा स्वधर्मीवात्सल्य का गुण विकसित होता है।

जहां पति–पत्नी में विचारों की विभिन्नता होती है, धार्मिक मतभेद होता है, या विभिन्न विचारों के स्वामी सेवक होते हैं, वहां विचारों का विभेद दो हृदयों के बीच पर्दे की तरह पड़ा रहता है। वह पर्दा हृदयों के मिलन में बाधक बन जाता है। कभी इस विचारभेद का परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है। यही कारण है कि स्वधर्मी के साथ संबंध करने से सम्यक्त्व आदि गुणों की वृद्धि होती है।

सारांश यह है कि स्वधर्मी भाई को देखकर हृदय में प्रेम का झरना बहने लगे और अन्न आदि आवश्यक वस्तुओं से उसकी सहायता की जाय, यह वात्सल्य गुण कहलाता है।

यह वात्सल्य गुण भी सम्यक्त्व का आचार है। इसके संबंध में जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है।

(8) प्रभावना—अपने धर्म के अभ्युदय के अर्थ प्रवृत्ति करना अथवा जैनधर्म की प्रभावना करने वाले कार्य करना प्रभावना अंग हैं।

कहा भी है:—

अज्ञानतिमिर व्याप्तिमपाकृत्य यथायथं।
जिनशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना।।

अर्थात्—जनता में फैले हुए अज्ञान अन्धकार के विस्तार का निवारण करके, जिन शासन का महात्म्य प्रकट करना प्रभावना है।

सुनते हैं, पहले करोड़ों जैनधर्मानुयायी थे। उन्हें तलवार के बल पर या डरा धमका कर जैन नहीं बनाया गया था। परन्तु तत्कालीन जैनों के वात्सल्य और प्रभावना गुण से प्रभावित होकर अन्य धर्मानुयायी लोग जैनधर्मानुयायी बने थे और जैन धर्म का पालन करते थे।

आजकल भी अगर जैन लोग अपना चरित्र आदर्श बनावें और साथ ही वात्सल्य एवं प्रभावना गुण को जीवन में विकसित करें तो निस्संदेह जैनधर्म का गौरव फिर बढ़ सकता है। जैनों का आचार विचार अगर विशुद्ध बन जाय और वह अन्य लोगों के साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करें तो लोग जैन धर्म के प्रति आकृष्ट होंगे और तीर्थङ्करों के पवित्र मार्ग से अधिक से अधिक अपना हित साधन कर सकेंगे।

स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में कहा है कि प्रवचन प्रभावना के निमित्त पात्र अपात्र को दान देने वाला दाता तृतीय भंग (विकलप) का दाता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि कभी—कभी अपात्र को दान देने से भी तीर्थंटरों के मार्ग की प्रभावना होती है। अर्थात् दान के प्रभाव से अपात्र अर्थात् सूत्र—चारित्रधर्म से हीन सामान्य प्रकृति के मनुष्य को जैनधर्मानुयायी बनाया जा सकता है। इससे तीर्थंकरों का मार्ग भी उज्ज्वल हो सकता है।

पर ऐसा करने में जो खतरा है उसे भी समझ लेना चाहिए। दान देकर जैन बनाने का अर्थ यह नहीं कि किसी को घूंस के रूप में दान दिया जाये और दान के प्रलोभन में फंसाकर जैन बना लिया जाय। ऐसा करना आत्मवंचन होगा। दूसरे के अन्तःकरण में लालच उत्पन्न कर देना भी एक बुराई है। मेरे कथन का आशय यह है कि किसी की वास्तविक आवश्यकताओं को समझकर उन्हें रफा कर देना और इस प्रकार उसे अपनी और अपने धर्म की ओर आकृष्ट कर लेना अनुचित नहीं, पर प्रलोभन देना सर्वथा हेय है।

अंधा, लूला, लंगड़ा आदि असहाय जनों को दान देने से संसार पर जैनधर्म का प्रभाव पड़ सकता है, ऐसा दिखाई देता है। संसार पर इस प्रकार का प्रभाव डालना भी जैनधर्म की प्रभावना है।

जो लोग दान देना पाप कहते हैं, वे प्रवचन प्रभावना का ठीक–ठीक अर्थ नहीं समझते।

सूत्रधर्म के यह आठ आचार हैं। आठों का आचरण करने वाला पुरुष उपर्युक्त फल का सम्पादन करता है। यही आठ आचार चारित्रधर्म के भी उपलक्षक हैं। इन आठ आचारों का पालन करने से चारित्रधर्म का पालन होता है।

9 : चारित्रधर्म–आचारधर्म

(चरित्तधम्मे)

संसार की अन्य प्रजा की अपेक्षा, हमें जिस वस्तु की अधिक आवश्यकता है, वह है चारित्र का विकास।

'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः।' जब विचार आचार के रूप में परिणत होता है, तब जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। चारित्रशुद्धि ही जीवन्मुक्ति का उत्तम उपाय है।

मानव–जीवन की चरम साधना क्या है? किस लक्ष्य पर पहुंच जाने पर यह चिरयात्रा समाप्त होगी? मनुष्य की अन्तिम स्थिति क्या है? यह ऐसे गूढ़ प्रश्न हैं, जिन पर विचार किये बिना विद्वान का मस्तिष्क मानता नहीं है और विचार करने पर भी उपलब्ध कुछ होता नहीं है। इन और ऐसे अन्य प्रश्नों का समाधान दर्शनशास्त्र के पृष्ठों पर लिखे अक्षरों से नहीं हो सकता। मस्तिष्क वहां काम नहीं कर सकता। जिसे समाधान प्राप्त करना है वह चारित्र की सुरम्य वाटिका में विहार करें। चारित्र की आराधना बिना मनुष्य कृतार्थ नहीं हो सकता।

जिन ज्ञानी पुरुषों ने चारित्र की वाटिका में विहार कर वहां के सौरभ का आस्वादन किया है और उससे मस्तिष्क की क्षमता बढ़ाई है उन सबने एक स्वर में जीवन का चरम और परम उद्देश्य राग–द्वेष से मुक्त होना माना है। राग–द्वेष से मुक्त होने के लिए प्रत्येक मनुष्य को उनके मूल का विचार करना चाहिए और तब राग–द्वेष को निर्मूल करने के लिए पुरुषार्थ का आश्रय लेना चाहिए।

विचार, मनन, निदिध्यासन, चिन्तन आदि सूत्रज्ञान के पर्यायवाची शब्द हैं और आचार, प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि चारित्रधर्म के पर्यायवाचक शब्द हैं।

'पढमं नाणं तओ दया' 'ज्ञानं वन्ध्यं क्रिया बिना' 'ज्ञान– क्रियाभ्याम् मोक्षः', इत्यादि आर्यसूत्र मुक्ति प्राप्त करने के लिए सूत्रधर्म और चारित्रधर्म के साहचर्य की घोषणा करते हैं।

सूत्रधर्म के संबंध में पहले विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। चारित्रधर्म–आचारधर्म के विषय में विचार करना है।

चारित्रधर्म का सामान्य अर्थ है आचारधर्म और आचारधर्म का मतलब है–संस्कारिता या क्रियाशीलता। व्यक्तियों में त्यागी और गृहस्थ के दो वर्ग दिखाई देते हैं। अतएव उनकी स्थिति के अनुसार आचार धर्म भी दो वर्गों में बंट गया है। कोई–कोई आचारधर्म का पूर्णरूपेण पालन करते हैं और कोई आंशिक रूपेण। आचारधर्म को संपूर्ण रूप से पालने वाले त्यागी या अनगार कहलाते हैं और आंशिक रूप से पालने वाले अगारी गृहस्थ या श्रावक कहलाते हैं।

सूत्रकारों ने चारित्रधर्म के मुख्यतया दो विभाग किये हैं:–

चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा–अणगारचरित्तधम्मे, आगारचरित्तधम्मे य। –स्थानांगसूत्र

अर्थात्–अनगार–त्यागी का आचारधर्म और गृहस्थ का आचारधर्म, इस प्रकार चारित्रधर्म दो प्रकार का है।

त्यागी–धर्म

सूत्रकारों ने संक्षेप में त्यागी का धर्म दस प्रकार का बतलाया है–दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तंजहा–

(1) खंती (2) मुत्ती (3) अज्जवे (4) मद्दवे (5) लाघवे (6) सच्चे (7) संजमे (8) तवे (9) चियाए (10) बंभचेरवासे।

अर्थात्–श्रमणधर्म–त्यागीधर्म दस प्रकार का है वह इस प्रकार है–

(1) क्षमा–अगर कोई अप्रिय एवं कटुक वचन कहे या प्रतिकूल व्यवहार करे तो भी क्षमा रखना–क्रोध न करना।

(2) मुक्ति–बाह्य और आन्तरिक बन्धनों से मुक्त रहना।

(3) आर्जव–मन, वचन, काय की कुटिलता का परित्याग कर ऋजुता–सरलता धारण करना।

(4) अदेव–अहंवृत्ति का त्याग कर मृदुता धारण करना।

(5) लाघव–आन्तरिक और बाह्य क्रोध, मान, माया, लोभ का आत्यन्तिक त्याग करके लघुता धारण करना, झूठे बड़प्पन से दूर रहना।

(6) सत्य–सत्यवादी बनना–असत्य, अप्रिय, संदिग्ध, अस्पष्ट और गोलमोल वचन न बोलना।

(7) संयम–संयम धारण करना–इंद्रियदमन करना।

(8) तप–अनशन आदि बाह्य तपस्या तथा प्रायश्चित्त आदि आन्तरिक तपस्या करना।

(9) त्याग–त्यागपरायण बनना–इन्द्रियों के विषय भोगों के प्रति विरक्ति धारण करना।

(10) ब्रह्मचर्य–ब्रह्मचर्यमय जीवन यापन करना।

दस प्रकार के इस श्रमणधर्म में पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, सत्तरह प्रकार का संयम, बाईस परीषह, सत्ताईस साधुगुण आदि–आदि साधु के विशेष धर्म का संक्षेप में समावेश किया गया है। इन दस धर्मों को क्या *हिन्दू और क्या बौद्ध–प्रायः सभी धर्मावलम्बियों ने न्यूनाधिक रूप में स्वीकार किया है। पर जैन मुनियों को इन धर्मों का दृढ़ता पूर्वक पालन करना पड़ता है, जबकि अन्यत्र इतनी सख्ती नहीं देखी जाती।

गृहस्थधर्म

गृहस्थ धर्म को दो विभागों में विभक्त किया जाता है। एक सामान्य धर्म, दूसरा विशेष धर्म।

गृहस्थ का सामान्य धर्म

गृहस्थ का सामान्यधर्म जैन ग्रन्थों के ही शब्दों में उद्धृत करना उचित होगा। वह इस प्रकार हैः–

(1) **सामान्यतो गृहस्थधर्मो न्यायतोऽनुष्ठानमिति**
न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना गृहस्थ का सामान्यधर्म है।

(2) **न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहितायेति।**
न्याय से उपार्जित धन इस लोक में भी हितकर होता है और परलोक में भी।

*** धृतिक्षमादमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

(3) **तथा समानकुलशीलादिभिर्गोत्रजैरेव बाह्यम्।**

गृहस्थ को समान कुल, समान शील तथा भिन्न और अच्छे गोत्र में उत्पन्न होने वालों के साथ ही विवाह संबंध करना चाहिए।

(4) **शुद्धकलत्रलाभफलो विवाहस्तत्फलं च सुजातसुत सन्ततिः अनुपहृत चिन्तानिवृत्तिः गृहकार्यसुविहितत्वं, अभिजात्याचार विशुद्धत्वं, देवातिथि बान्धव सत्कारानवद्यत्वं चेति।**

विवाह का फल कुलीन–पवित्र स्त्री की प्राप्ति होना है। कुलीन स्त्री की प्राप्ति का फल है–चित्त की स्वस्थता, सुचारु रूप से गृहकार्य सम्पन्न होना, आचार की शुद्धता और देव, अतिथि, बन्धुजन आदि का यथोचित सत्कार करना।

(5) **तथा उपप्लुत स्थानत्याग इति।**

उपद्रव–जनक स्थान में न रहना।

(6) **तथा आयोचितो व्ययः।**

गृहस्थ को आमद के अनुसार खर्च करना चाहिए।

(7) **तथा प्रसिद्ध देशाचार पालनमिति।**

गृहस्थ को अपने देश के आचार का पालन करना चाहिये।

(8) **तथा मातृ–पितृपूजेति**

गृहस्थ को माता–पिता, धर्मगुरु आदि का आदर–सत्कार करना चाहिए।

(9) **तथा सात्म्यतः कालभोजनमिति।**

गृहस्थ को शरीर की रक्षा–निरोगता के लिए यथासमय भोजन करना चाहिए।

(10) **वेगव्यायामस्वापस्नानभोजनस्वच्छन्दवृत्तिकालान्नो परुन्ध्यात्।**

गृहस्थ को शौच, व्यायाम, निद्रा, स्नान, भोजन आदि नित्य कृत्यों का शरीर रक्षा के निमित्त कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

(11) **शरीरायास जननी क्रिया व्यायामः।**

शरीर को परिश्रम उत्पन्न करने वाली क्रिया 'व्यायाम' कहलाती है।

(12) **शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलेत्।**

शस्त्र–वाहन–दण्ड–बैठक आदि के अभ्यास से व्यायाम सफल होता है।

(13) आदेहस्वेदं व्यायामं कान्तमुशन्त्याचार्याः।

आचार्यों का कथन है कि शरीर में पसीना आने तक व्यायाम करना उचित है।

(14) अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निप्रदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यंच।

जो व्यायाम नहीं करते, उनकी अग्नि प्रदीप्त कैसे हो सकती है? उनमें उत्साह कहां से आयेगा? उनकी देह सुदृढ़ कैसे होगी?

(15) श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम्।

थकावट, पसीना और आलस्य का नाश होना स्नान का फल है।

(16) स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणं परमं रसायनम्।

गृहस्थों के लिए स्वच्छन्दवृत्ति—स्वाधीनता परम रसायन है।

यहां स्वच्छन्दवृत्ति को उच्छृंखलता के भाव में ग्रहण करना उचित नहीं है। स्वच्छन्दवृत्ति का अर्थ—स्व—आत्मा के छन्दविषय में, वृत्ति—विचारना है।

गृहस्थ को आत्मा के हित के निमित्त देव, गुरु और धर्म का सेवन अवश्य करना चाहिए। क्योंकि उनके लिए यही अद्वितीय शांति स्थान है। इन्हीं के सेवन से सच्ची शांति का लाभ होता है और यही सांसारिक दुःख का निवारण करने के लिए परम औषध है।

गृहस्थ जब उल्लिखित मार्गानुसारी रूप सामान्य धर्मों का यथोचित पालन करता है, तभी वह गृहस्थ के विशेष धर्म का पालन करने में समर्थ होता है। लगभग इन्हीं नीति रूप गुणों का उल्लेख अन्यत्र इस प्रकार किया गया हैः—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्
अन्योन्यानुगुणं, तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहार विहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
श्रृण्वन् धर्माविधि दयालुरघर्गीः सागारधर्मं चरेत्।।

अर्थात्—श्रावक न्यायपूर्वक धनोपार्जन करे, गुणों में बड़े जनों का सत्कार—सम्मान करे, मधुर व प्रशस्त वाणी का प्रयोग करे, एक दूसरे से विरोध न करते हुए धर्म, अर्थ, काम का सेवन करे, अपने योग्य गृहिणी और स्थान वालो हो, लज्जाशील हो, उचित आहार—विहार करे आर्य पुरुषों की संगति करे, हिताहित का विवेकी हो, कृतज्ञ हो, इन्द्रियों की और मन को वश में रक्खे, दयावान् हो, पापभीरु हो और धर्मोपदेश का श्रवण करता हुआ श्रावक धर्म का पालन करे।

गृहस्थ का विशेष धर्म

जीवन को संस्कारमय बनाने के लिए सर्व प्रथम नैतिक गुणों की आवश्यकता है। नीति की नींव पर ही धर्म का महल खड़ा किया जा सकता है। अतएव नीति–गुणों को जीवन में स्थान देना गृहस्थ का सामान्य धर्म है। नीति–गुणों के साथ ही साथ बारह प्रकार के धार्मिक गुणों का ध्यान देना गृहस्थ का विशेष धर्म है।

धर्म प्रधानतः श्रद्धा की वस्तु है। श्रद्धा के बिना धर्म का पालन नहीं होता। अतः गृहस्थ को शंका–कांक्षा आदि धर्मबुद्धि का नाश करने वाले दोषों को दूर करके, विश्वासपूर्वक धर्मपालन में दृढ़ बनना चाहिए।

धर्मश्रद्धा को सुदृढ़ बनाने के बाद गृहस्थधर्म को जिन बारह व्रतों का पालन करना चाहिए उनका संक्षिप्त स्वरूप यह हैः–

(1) अहिंसाव्रत–

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं–स्थूल प्राणातिपात से विरत होना। गृहस्थ को इस प्रकार यतना–सावधानी से प्रत्येक कार्य करना चाहिए जिससे किसी मनुष्य, पशु, पक्षी या अन्य त्रस जीव को कष्ट न पहुंचे। अपने चित्त में किसी त्रस जीव को कष्ट पहुंचाने या उसका प्राण हरण करने का संकल्प उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। वध, बंध आदि हिंसाजनक प्रवृत्तियों से बचते हुए प्रत्येक कार्य करना चाहिए। यह गृहस्थ का अहिंसाव्रत है।

(2) सत्यव्रत–

थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं–स्थूल असत्य भाषण से विरत होना। अर्थात्–गृहस्थ जिस बात को जिस रूप में जानता या मानता हो उसी रूप में वह दूसरे से कहे। लाभ की आशा से या भय आदि की भावना से उस बात में तनिक भी फेरफार न करे। लोकमय नैतिक निर्बलता, लोकैषणा आदि दुर्गुणों को दूर रखकर हंसी दिल्लगी, पराई निन्दा, कोरी गप्पों आदि प्रयोजन हीन बातों में अपनी वाणी का दुरुपयोग न करे। इस प्रकार वचन संबंधी असत्यवृत्ति से निवत्त होकर सत्प्रवृत्ति करना गृहस्थ का सत्यव्रत है।

(3) अचौर्यव्रत–

थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं–स्थूल अदत्तादान से विरत होना। अर्थात् जिस वस्तु पर, जिस मनुष्य पर, जिस अधिकार पर अथवा जिस यश–कीर्ति पर वास्तविक अधिकार न हो उस वस्तु आदि को नीति का भंग करके न लेना। किसी की किसी वस्तु पर अपना अनुचित अधिकार न जमाना और चोरी न करना गृहस्थ का अचौर्य व्रत है।

(4) ब्रह्मचर्यमर्यादा व्रत–स्वपत्नीसन्तोषव्रत

थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं–स्थूल मैथुन से विरत होना। अर्थात् गृहस्थ को अपने वीर्य का अपनी और दूसरों की अनेक प्रकार की उन्नति में उपयोग करना चाहिए। पाशविक वृत्तियों के पोषण में वीर्य का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। वीर्य वह शक्ति है जिसके प्रताप से उच्च श्रेणी के अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, यह बात ध्यान में रखते हुए अखंड ब्रह्मचारी बनने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए। अगर इतना सम्भव न हो तो अपने विचारों के अनुरूप सहधर्मिणी खोजकर, उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिए। अगर ऐसा कोई पात्र न मिले जो परस्पर अनुकूल रहकर एक दूसरे के विकास में सहायक हो, तो अविवाहित रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए। विवाहित जीवन, जो चहुंओर दौड़ने वाली मनोवृत्तियों को नियंत्रित–केन्द्रित करने के लिए उपयोगी है, अगर दोनों में से किसी एक के असंतोष का कारण बन जाय तो दुहरा हानिकारक हो जाता है। अतएव विवाहित जीवन बनाने से पहले अपनी शक्ति, अपने साधन, अपने विचार, अपनी स्थिति और पात्र की योग्यता, इन सब बातों का विचार कर लेना उचित है। विवाह करना मनुष्य का मुख्य नियम है और अविवाहित रहना अपवाद है, इस धारणा को बदलने की आवश्यकता है। अविवाहित रहते हुए स्व पर का अभ्युदय–साधन करना और यदि सब प्रधान बातों की अनुकूलता हो तभी विवाह करना चाहिए, यह नियम मानव–समाज के लिए अधिक से अधिक हितकर है। विवाहित जीवन को विषय वासना की मर्यादाहीन स्वतंत्रता के रूप में भूलकर भी न समझना चाहिए। विवाह का उद्देश्य भोग में डूबना नहीं है, वरन् विषय वासना से विरत होना है।

गृहस्थ को विषयवासना का संकोच और आत्मिक ऐक्य करना सीखना चाहिए और अश्लील शब्दों से, अश्लील दृश्यों से, और अश्लील कल्पनाओं से दूर रहना चाहिए।

जो विवाह के उद्देश्य को नहीं समझते और न एक दूसरे के प्रति अपने सहचरता के पवित्र कर्त्तव्य को ही पहचानते हैं, उन अज्ञानमय व्यक्तियों को आपस की गुलामी की स्थिति में डालने वाला व्यक्ति चौथे व्रत को भंग करता है, दया का खून करता है। इस प्रकार इन्द्रिय–निग्रह में सजग रहना यह गृहस्थ का चौथा व्रत है।

(5) परिग्रहमर्यादा–इच्छापरिमाण व्रत–

थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं–स्थूल परिग्रह से विरत होना। अर्थात् गृहस्थ को परिग्रह का अथवा ममत्व का या तृष्णा का संकोच करना चाहिए। "मैं सभी कुछ भोगूं", मैं करोड़पति बनूं, मैं महलों का मालिक बनूं इस प्रकार अहंकारमय, स्वार्थमय, संकीर्ण विचारों को यथासम्भव दूर करना चाहिए।

इस व्रत का उद्देश्य यह नहीं है कि–घर द्वार छोड़कर फकीर बन जाओ, भूखे मरो या कुटुम्ब का भरण–पोषण न करो। पर इसका उद्देश्य यह है कि लोभ, मोह, ममत्व और जड़ पदार्थो की प्राप्ति में ही आनन्द मनाने की वृत्ति का त्याग करो। अपने आश्रितों की आवश्यकताएं पूर्ण करने के लिए प्रमाणिकता को त्याग कर अप्रमाणिकता का आश्रय न लो। अपनी इच्छा को सीमित करो। इच्छाओं के पीछे पीछे अविराम गति से दौड़ न लगाओ, वरन् इच्छा को अपने अधीन बनाओ। परिग्रह में जितनी कम मूर्च्छा होगी, चित्त शान्ति उतनी ही अधिक प्राप्त होगी। इस प्रकार परिग्रह–बुद्धि का त्यागकर संतोष वृत्ति धारण करना गृहस्थ का परिग्रहमर्यादा व्रत है।

(6) दिशपरिमाण व्रत–

दिशापरिमाण–दिशाओं संबंधी मर्यादा करना। अर्थात् गृहस्थ को निष्प्रयोजन, निरुपयोगी, परमार्थहीन भ्रमण, जितना कम हो सके उतना कम करना चाहिए।

(7) भोगोपभोगमर्यादा व्रत–

भोग–उपभोगपरिमाण–भोगों और उपभोगों का परिमाण करना। अर्थात् गृहस्थ को भोजन आदि भोगों की लालसा मर्यादित करनी चाहिए।

गृहस्थ को आदत से सादा, आत्म संयमी, नियमित और मिताहारी बनना चाहिए।

आवश्यकताएं जितनी कम होंगी, चिन्ताएं, उपाधियां, लालच और परेशानी उतनी ही कम होंगी और महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की तरफ लक्ष्य देने का अधिक अवकाश मिलेगा।

देखादेखी खानदानी का खोटा विचार, बड़प्पन दिखाने की मूर्खतापूर्ण लोलुपता और गुण दोष को समझने की बुद्धि का अभाव, यह सब ऐसी बाते है, जिनसे अनेक आवश्यक कमियां और आवश्यकताएं उत्पन्न हो जाती हैं। इन आवश्यकताओं से शारीरिक निर्बलता, मानसिक अपवित्रता और बुद्धिहीनता

पैदा होती है। अतएव सच्ची आवश्यकता के अनुसार ही उपभोग–परिभोग रखना उचित है–अधिक नहीं। अपनी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक भोगोपभोग की सामग्री न रखना गृहस्थ का भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

(8) अनर्थदंड त्याग–

अणट्ठादंड वेरमणं–अनर्थदंड से विरत होना। अर्थात् गृहस्थ को निरर्थक व्यापार में, प्रवृत्ति में–मन, वचन, काया को लगाना उचित नहीं है। इसी प्रकार प्रयोजनहीन खटपट में, निन्दा में, दुर्ध्यान में, चिन्ता में, कुकर्म में, खेद में तथा भय में शरीर–सम्पत्ति, धन सम्पत्ति तथा संकल्पसम्पत्ति का दुरुपयोग करना भी उचित नहीं है। क्योंकि आर्त्तध्यान या चिन्ता और रौद्रध्यान या किसी पर क्रोधमय विचार करना नीच काम है– आनन्दमय–वीरत्वमय आत्म प्रभु के द्रोह करने के समान है। ऐसे कृत्यों से मनुष्यत्व का ह्रास होता है। इसलिए अनर्थदण्ड का त्याग करना अर्थात् निरर्थक प्रवृत्ति से आत्मा को दण्डित न करना गृहस्थ का व्रत है।

(9) सामायिक व्रतः–

गृहस्थ को प्रतिदिन नियमित समय पर समभाव सीखने का अभ्यास करना चाहिए।

सामायिक सच्ची शक्ति प्रदान करने वाली वस्तु है। जिस समय सच्ची सामायिक की जाती है उस समय आत्मा रागद्वेष आदि विकारों से रहित हो जाती है। निरन्तर गति से, रागद्वेष चलते रहने से, आत्मा की शक्ति क्षीण होती हैं और आत्मा निकम्मी वन जाती है। जो मनुष्य रात–दिन परिश्रम करता है उसकी कार्यक्षमता जल्दी नष्ट हो जाती है, परन्तु समय पर गाढ़ निद्रा लेने वाला नुकसान से वच जाता है। यही बात सामायिक के विषय में समझनी चाहिए। जो मनुष्य थोड़े समय के लिए भी राग द्वेष त्याग देता है, उसकी आत्मा में अपूर्व ज्योति प्रकट होती है। वह शान्ति का आनन्द अनुभव करता है।

सच्ची सामायिक के मूल्य में चिन्तामणि और कल्पवृक्ष भी तुच्छ हैं और वस्तुओं की तो वात ही क्या है?

संसार में आज लडाई–झगड़े तेजी से वढ़ रहे हैं। पति पत्नी, पिता–पुत्र, देवरानी–जिठानी, भाई–भाई, समाज–समाज, सवके सव सामायिक के अभाव में लड़ रहे हैं। लोग अगर अन्तःकरण से सामायिक को अपना लें तो इन लड़ाइयों का शीघ्र अन्त आ सकता है।

दो घड़ी रोज विज्ञान का अध्ययन करने वाला महाविज्ञानी बन जाता है, दो घड़ी रोज अभ्यास करने वाला महापण्डित बन जाता है, इसी प्रकार यदि आप दो घड़ी नित्य सामायिक में खर्च करेंगे तो आपको अपूर्व शान्ति मिलेगी और महाकल्याण का लाभ होगा।

मन को मजबूत बनाकर उसे सच्ची सामायिक में लगाइए। अगर आप संसार-भ्रमण को काटना चाहें और महान् व्याधियों से ग्रस्त आत्मा को उद्धारना चाहें तो महावीर की बतलाई हुई इस अमूल्य सामायिक रूपी महौषध का सेवन कीजिए।

समत्व प्राप्त करना ही सामायिक का खास उद्देश्य है। प्रश्न उठ सकता है--समत्व की पहचान क्या है? उत्तर होगा--क्षण क्षण में शान्ति का अनुभव होना ही समत्व की पहचान है। जिस सामायिक के द्वारा ऐसा अलौकिक शान्ति- सुख मिलता है, उसके आगे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष किस गिनती में हैं?

सामायिक में बैठ करके भी जो अपने भाग्य को कोसता है, तुच्छ वस्तुओं के लिए आठ-आठ आंसू गिराता है, उसे कुछ लाभ नहीं होता। ऐसी सामायिक करने और न करने में ज्यादा अन्तर नहीं है।

सामायिक के समय श्रावक को समस्त सावद्य अर्थात् पापमय क्रियाओं से निवृत्त होकर निरवद्य अर्थात् निष्पाप क्रिया ही करना चाहिए। इस प्रकार सावद्य क्रिया का त्याग कर समभाव प्राप्त करने का अभ्यास करना श्रावक का सामायिक व्रत है।

(10) देशावकाशिक व्रत--

क्षेत्र या देश संबंधी मर्यादा करना देशावकासिक व्रत है। गृहस्थ को यथासम्भव स्वदेश से बाहर से मंगाई हुई वस्तु का उपभोग नहीं करना चाहिए। स्वदेश प्रेम और स्वदेशाभिमान रखना और स्वदेश को भूखे मरने में साधनभूत न बनना भी गृहस्थ का देशावकाशिक व्रत है।

(11) प्रतिपूर्ण पौषधव्रत--

गृहस्थ को प्रतिमास, कमसे कम एक बार, जब अवकाश या सुभीता हो और मानसिक तथा शारीरिक स्थिति अनुकूल हो तब निराहार रहना चाहिए, जिससे शरीर निरोग और सहनशील बने। इस स्थिति में चौबीस या बारह घन्टे आत्मरमण करते हुए व्यतीत करने चाहिएं। इस व्रत के लिए विशेषतः अष्टमी, चतुर्दशी या पूर्णिमा रूप पर्व तिथियां अधिक उपयुक्त हैं।

(12) अतिथिसंविभाग व्रत–

गृहस्थ को अपने उपकारी पुरुषों की सेवा भक्ति करने का प्रसंग मिले तब उल्लासपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए। जो पुरुष जगत् का उपकार करने में ही अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जिन्हें अपने शरीर की सार सम्भाल करने तक की फुर्सत नहीं मिलती, उनके अस्तित्व, आरोग्य और प्रवृत्ति की जगत् को अत्यन्त आवश्यकता होने से उनकी आवश्यकताएं जानना और उन्हें पूर्ण करने में तत्पर रहना, उपकृत वर्ग का कर्त्तव्य है।

उन्होंने जिस मिशन को उठाया है, उसे निभाने के लिए आवश्यक शरीरबल, द्रव्यबल, समय, बुद्धि, परिचय आदि के द्वारा हिस्सा लेना, उनकी कठिनाइयों, संकटों और दुःखों को सहानुभूति के साथ दूर करने का जितना बन सके उतना प्रयास करना, उनके जय में अपना और समाज का जय मानना, यह गृहस्थ का अतिथिसंविभाग व्रत है।

इस प्रकार नैतिकधर्म, सामान्यधर्म के साथ ब्रह्मचर्य विशेष धर्म का पालन करने में गृहस्थ जीवन का विकास और साफल्य है।

व्रतधर्म के पालन से गृहस्थ जीवन को सुसंस्कृत बनाने के बाद श्रमणधर्म को स्वीकार करके राष्ट्र, समाज और धर्म का कल्याण–साधन करते हुए आत्मकल्याण के लिए त्यागमय जीवन व्यतीत करने में ही मानव जीवन की चरम सफलता है।

मानव–जीवन को सफल बनाने के लिए चारित्रधर्म आचार धर्म का पालन करना अत्यावश्यक है। सभी धर्मों में एक मत से आचारधर्म की आवश्यकता स्वीकार की गयी है।

10 : जीवन धर्म

(अस्थिकाय धम्मे)

'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई।'

'समस्त प्राणियों के प्रति मेरा बन्धुभाव है। मेरा किसी के साथ वैर–विरोध नहीं है। यह विश्वबन्धुत्व ही जीवन का आदर्श है।

अस्ति शब्द का मूल सत् शब्द है। सत् अर्थात् होना। जीवन का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाना अस्तिकाय धर्म है। इसे जीवन धर्म भी कहा जा सकता है। सत्प्रवृत्तियों के द्वारा जीवन को सत्यमय बनाना, सत्य का साक्षात्कार करने के लिए सदा उद्योग करते रहना जीवन का वास्तविक धर्म है।

जो व्यक्ति संस्कारिता, नागरिकता, राष्ट्रीयता आदि धर्म गुणों को अपने जीवन में ताने–बाने की तरह बुन लेता है, ,वही व्यक्ति जीवनधर्म–आत्मधर्म को सांगोपांग जीवन में उतार सकता है।

जीवनधर्म का मर्म समझने का अर्थ है आत्मा को पहचानना। ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि धर्म जीवन के अंग उपांग हैं। जहां तक समानता का आदर्श जीवन में नहीं उतरता, वहां तक आत्मा की पहचान नहीं होती और समानता का आदर्श जीवन में उतारने के लिए सबसे पहले जीवन मे मानवता प्रकट करनी पड़ती है। जब मानवता प्रकट होती है तब मानव का ध्येय मंत्र बन जाता है। मैं मानव हूं। मुझे मानवता समझनी चाहिए और मानव के लिए ही जीवित रहना चाहिए, क्योंकि सभी धर्म महान् हैं किन्तु मानवधर्म उन सब में महान् है।

जिसके जीवन में, रग रग में मानवता व्याप जाती है वह मानता और समझता है कि धर्म मात्र मानव के लिए है। मानव को अधिक संस्कारी, अधिक सुन्दर, अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए धर्म है। अतएव जहां धर्म का पालन

करने में मानव के प्रति अन्याय होता हो, वहां धर्म को साधन रूप मानकर उसकी पुनर्योजना करना उचित है।

तमाम धर्म–मानवधर्म सीखने के साधन है। जो धर्म मानव के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करता है, मनुष्य को मनुष्य से जुदा करना सिखलाता है, मानव को तुच्छ समझना सिखलाता है, वह धर्म नहीं है। धर्म में ऐसी वातों को स्थान नहीं है।

मनुष्य धर्म का पालन करता है सो इसलिए नहीं कि वह अपने आपको ऊंचा ठहराने की कोशिश करे, बल्कि इसलिए कि वह वास्तव में ऊंचा बने। धर्मपालन का उद्देश्य वह उत्कृष्ट मनोदशा प्राप्त करना है, जिसमें विश्वबन्धुत्व का भाव मुख्य होता है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणई' अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्रीभाव बन्धुभाव है, किसी के साथ मेरा वैर–विरोध नहीं है। जैसे सच्ची महत्ता सादी होती है उसी प्रकार यह महान् मानवधर्म भी सरल और सादा है। इसे एक ही वाक्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' में प्रकट किया जा सकता है।

तुम्हारे लिए जो अनिष्ट है, वह दूसरे के लिए भी अनिष्ट है। अगर तुम सड़ा पानी नहीं पी सकते तो दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं पी सकता। अगर तुम अपनी बीमारी में दूसरों की सहायता चाहते हो तो दूसरा भी यही चाहता है।

अगर मनुष्य इतना सीधा–सादा मानवधर्म समझ ले और अपने समस्त साधन इस धर्म का विकास करने के लिए मान ले तो फिर धर्म संबंधी अधिक ज्ञान इसीमें से उसे मिल जायगा। धर्म संबंधी विधि–विधान खोजने के लिए उसे इधर उधर नहीं भटकना पड़ेगा। मानवधर्म इतना सादा है कि उसे घड़ी भर में सब सीख सकते हैं; फिर भी मानवधर्म में रहने वाली गहनता इतनी उदार और भव्य है कि वह जीवन भर की शुद्धि की मांग करती है। जीवनधर्म का आदर्श विकारों को जीतना और विश्वबन्धुता सीखना है।

आत्मा को पहचानना अथवा जीवन धर्म का मर्म समझ लेना सरल काम नहीं है। क्योंकि मानवसमाज युग युगान्तर से, वासनाओं, अज्ञानता, सम्मूढता, अश्रद्धा आदि आन्तरिक शत्रुओं द्वारा वाह्य शत्रुओं की अपेक्षा कहीं अधिक पीड़ित है, संत्रस्त है। चिरंतन वासनाओं पर विजय प्राप्त करना साधारण मनुष्य के लिए सरल नहीं है। आत्मविजय के लिए जीवनोत्सर्ग करने की क्षमता, असीम अहिंसा त्याग, ज्ञान, तप आदि आत्मिक वल की अपेक्षा है। आत्मवल के अभाव में जीवन–युद्ध नहीं खेला जा सकता। अतएव

आत्मबल के द्वारा पुरुषार्थ पूर्वक जीवन शुद्ध करके, विकार–शत्रुओं को पराजित करके, दुर्दम आत्मा का दमन करना लाखों सुभटों को जीतने की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। ✚संसार को आत्मविजय का जय–नाद सुनाने वाला और स्वतन्त्रता का राजमार्ग दिखलाने वाला जय–शील धर्म ही जैनधर्म कहलाता है।

जीवन में जैनत्व प्रकट करना आत्म गवेषण की मूल चाबी है, क्योंकि जैनधर्म विश्वविजेता का धर्म है, आत्मविजय करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए विकारविजयी क्षत्रिय वीरों का विजय धर्म जैनधर्म है। युद्ध में वीरता दिखलाकर, विजेता के रूप में क्षत्रिय वीर प्रसिद्ध हैं, मगर उनकी विशेष प्रसिद्धि और महत्ता तो इस बात में है कि उन्होंने जीवन संग्राम में वासना आदि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी, और विजयधर्म जैन धर्म का प्रचार किया था। संसार को आत्म स्वातन्त्र्य का विजयनाद सुनाने वाले ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक, चौबीस तीर्थङ्करों ने जगत् के जीवों को बन्धनों से मुक्त होने का, स्वतन्त्र बनने का, जो विजयमार्ग बतलाया है वही विजयमार्ग जैनधर्म है। भगवान ऋषभदेव तथा महावीर आदि तीर्थङ्करों ने आत्मविजय के जो मन्त्र जगत् को सिखलाए उनका संक्षिप्त सार यह है:–

(1) पहला विजयमन्त्र–स्वतन्त्र बनो, स्वतन्त्र बनाओ और स्वतन्त्र बने हुए महापुरुषों के चरणचिन्हों पर चलो।

(2) दूसरा विजयमन्त्र–पराधीन मत बनो, पराधीन मत बनाओ, पराधीन का पदानुसरण मत करो।

(3) तीसरा विजयमन्त्र–संघशक्ति को सुदृढ़ बनाओ।

(4) चौथा विजयमन्त्र–संघ शक्ति को पुष्ट बनाने के लिए विवेक बुद्धि का उपयोग करो, कदाग्रह बुद्धि के स्थान पर समन्वय बुद्धि को स्थान दो।

(5) पांचवां विजय मन्त्र–अपनी आत्मिक शक्ति में दृढ़ विश्वास रक्खो, बाहर की लुभावनी शक्ति का भरोसा मत करो। विजय की आकांक्षा मत त्यागो और विजय प्राप्त करते चलो।

उल्लिखित विजयमन्त्रों के आधार से जैनधर्म के मुख्य सिद्धांत इस प्रकार फलित होते हैं।

✚जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ।।उत्त० 9

(1) आत्मस्वातन्त्र्य–अहिंसावाद–छोटे बड़े सभी प्राणियों की आत्मा स्वतन्त्र है। किसी को किसी की स्वतन्त्रता छीनने का कोई अधिकार नहीं है। कीड़ी से कुंजर तक सभी छोटे मोटे जीवधारी आत्मस्वातन्त्र्य की दृष्टि से समान हैं। अतएव किसी भी प्राणी को स्वार्थ के खातिर, मोक्ष प्राप्ति या धर्म के बहाने से मारने का, बलिदान करने का, घात करने का अथवा उसे कष्ट देने का किसी को अधिकार नहीं है।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी निर्भय रहना चाहते हैं। अतएव निर्भय रहो, दूसरों को निर्भय बनाओ और निर्भय बनने वालों की मदद करो। 'अहिंसा परमोधर्मः' इस सनातन धर्म का मूल आत्मस्वातन्त्र्य के इसी सिद्धान्त में निहित है। आत्मस्वातन्त्र्य या अहिंसावाद का यह पहला विजयमन्त्र है।

(2) कर्मवाद–निसर्गतः स्वाधीन आत्मा कर्म–बन्धनों में जकड़कर पराधीन हो रहा है। कर्म की बेड़ी काटकर परधीन आत्मा को स्वाधीन बनाना मानव पुरुषार्थ की सार्थकता है। किसी भी प्रकार की पराधीनता के आगे, चाहे वह सामाजिक हो या धार्मिक हो, नतमस्तक नहीं होना चाहिए। यही नहीं, साक्षात् ईश्वर की भी पराधीनता अंगीकार करने योग्य नहीं हैं। जहां स्वाधीनता है, वहां सुख है, जहां पराधीनता है, वहां दुःख है। दुःख कौन चाहता है? सभी सुख चाहते दिखाई देते हैं। तो शाश्वत सुख की अभिलाषा करने वाले को कर्मों की पराधीनता हटानी चाहिए। सुख दुःख मनुष्य के हाथ में हैं। कृत कर्म के अनुसार सुख दुःख की प्राप्ति होती है। कोई अलौकिक शक्ति सुख दुःख नहीं देती। कर्म के प्रताप से ही आत्मा दुःखी होती है। ज्यों–ज्यों कर्म क्षीण होता चलता है त्यों त्यों आत्मा सुखी बनती जाती है।

(3) संघशक्ति–संघधर्म–जीवनसंग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए ऐक्यबल या संघशक्ति की परमावश्यकता है। ऐक्यबल के बिना जीवन की साधना दुष्कर हो जाती है, अतएव संघशक्ति की बड़ी आवश्यकता है। संघबल एकत्र करना आत्मविजय प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है।

(4) समन्वयबुद्धि–अनेकान्तवाद–अपने विरोधियों को काबू में करने का और साथ ही उनके प्रति न्याय करने का अमोघ साधन अनेकान्तवाद है। वह विरोधी पक्ष को समझने समझाने का और अपने पक्ष को परिपूर्ण एवं सुदृढ़ बनाने का प्रबल साधन है। अनेकान्तवाद अपने विरोधियों को भी अमृतपान कराकर अमर बनाता है। अनेकान्तवाद को सीधी–सादी भाषा में विवेकबुद्धि या समन्वयबुद्धि कहा जा सकता है। विवेक की गैरमौजूदगी में

धर्म, अधर्म बन जाता है और अनेकान्त दृष्टि के अभाव में भी धर्ममय कृत्य, अधर्ममय बन सकता है। अनेकान्त विचार वृक्ष का सुफल है। अनेकान्तवाद जैनधर्म की विशेषता है फिर भी संसार का कोई विचारक उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं कर सकता।

अनेकान्तवाद, अज्ञान का अन्धकार दूर करके ज्ञान का प्रकाश करता है। इससे विजय प्राप्त होती है। अहिंसा और अनेकान्तवाद का संगम आत्मविजय के लिए अनिवार्य है।

5. आत्मविश्वास–विजयाकांक्षी बनकर आत्मविश्वास पूर्वक प्रयत्न करना आत्मविजय का मूल मन्त्र है। आत्मविश्वास को जैन परिभाषा में 'सम्यक्त्व' कहा जाता है। विश्वास के अभाव में आत्मविजय होना संभव नहीं है। आत्मशक्ति में सम्पूर्ण विश्वास के साथ प्रवृत्ति करते हुए चलने में ही आत्मविजय है। बाहर की किसी भी शक्ति का भरोसा रख कर प्रवृत्ति करने से आत्मविजय प्राप्त नहीं हो सकती। याद रक्खो कोई भी जड़ शक्ति तुम्हारे भीतर प्राण नहीं डाल सकती।

जिसे आत्मविश्वास प्राप्त है, वह विश्वविजेता बन सकता है। जो धर्म विश्वविजय का ऐसा अमोघ विजय–मन्त्र सिखलाता है, वह धर्म किसी एक फिरके का नहीं, मानव मात्र का, सम्पूर्ण जगत् का, धर्म हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

जिस धर्म का अनुसरण आत्मा जैसी अगम–अगोचर वस्तु का वैज्ञानिक दृष्टि से साक्षात्कार करता है, वह धर्म जगत् को विश्वमैत्री एवं निर्वैरवृत्ति के द्वारा स्नेह के सूत्र में बांध दे और वैज्ञानिक सत्य का सफलतापूर्वक अन्वेषण करके जगत् को नवीन आविष्कारों से चकित करे, यह स्वाभाविक है।

इस प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में विश्वबन्धुत्व अर्थात् 'जैनत्व' प्रकट हो जाता है, वह जीवनधर्म–आत्मधर्म को साक्षात् करता है। वह अनखोजे की खोज करके और खोजे हुए को जीवन के साथ एकरस करके आत्मशुद्धि प्राप्त करता है।

सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मां कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।।

सब जीव सुखी हों, सब जीव निरोग हों, सबका कल्याण हो कोई दुःख का भागी न हो, जीवन धर्म का यह ध्येय मंत्र है।

शास्त्र में अस्तिकाय धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी गई है

अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायो राशि–रस्ति कायः! स एव धर्मो गतिपर्याये जीवपुद्गलयोर्धारणादित्पस्तिकाय धर्मः।

अर्थ प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय धर्म कहते हैं, तद्रूप जो धर्म है, वह जीव और पुद्गल को गतिपर्याय में धारण करता है, इसलिए अस्तिकाय धर्म कहलाता है।

यहां टीकाकार ने पांच अस्तिकायों में से केवल धर्मास्तिकाय को ही अस्तिकाय धर्म गिनाया है, श्री भगवती सूत्र में नाम के साधर्म से धर्म और धर्मास्तिकाय को पर्यायवाची गिना है। इसी कारण टीकाकार ने भी यहां अस्तिकायधर्म में धर्म शब्द के साथ धर्मास्तिकाय को ही उदाहरण स्वरूप बतलाया है। धर्मास्तिकाय को धर्म का सहधर्मी बताने का एक कारण यह भी हो सकता है कि धर्मास्तिकाय गतिसहायक द्रव्य है। अतएव कर्म का नाश करने में धर्मास्तिकाय की भी सहायता अपेक्षित है। शायद इस अभिप्राय से शास्त्रकार ने धर्म और धर्मास्तिकाय को एक गिना हो।

पूर्ति

धर्म और भ्रम

दस धर्मो को ठीक तरह समझने के लिए यहां जो परिशिष्ट दिये जा रहे हैं, उनमें से अधिकांश संकलित हैं और कुछ नवीन लिखे गये हैं। आशा है पूर्वोक्त धर्मो की संकलना समझने में यह सहायक होंगे।

जैसे खान में सोने के साथ मिट्टी मिली रहती है वैसे ही धर्म के साथ लोकभ्रम मिला रहता है। धर्म का व्यापक अर्थ सनातन संबंध अथवा नियम है। जलाना अग्नि का धर्म है। भूख लगाना प्राणी मात्र के देह का धर्म है। बालक को प्यार करना माता का धर्म है। बहुमत के आधीन होना संघ का धर्म है। इन्द्रियों पर विजय करना आत्मा का धर्म है। स्वार्पण करना हृदय का धर्म है। उपर्युक्त समस्त विज्ञानों में न्यूनाधिक परिणाम में धर्म का ही अर्थ घटित होता है।

मौलिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक संबंधों के यथार्थ दर्शन पर धर्म की रचना की गई है।

जब तक मनुष्य इन शाश्वत नियमों को समझ नहीं लेता तब तक वह झूठी कल्पनाएं करता रहता है। उन्हीं को धर्म मान बैठता है।

अग्नि की ज्वाला शान्त होने पर जैसे अग्नि में से धुंआ निकलता है उसी प्रकार जब मनुष्यबुद्धि और मनुष्यहृदय जड़ बन जाता है और आत्मजागृति मन्द हो जाती है, तब इस तरह भ्रम उत्पन्न होते हैं।

नास्तिकता के पानी से लोक भ्रम रूपी हृदय की अग्नि शान्त करना सच्चा उपाय नहीं है। सच्चा उपाय यह है कि ऐसे अवसर पर जिज्ञासा और अनुभव की फूंक से धार्मिकता सचेत की जाय और धर्म की ज्योति फिर जाज्वल्यमान की जाय।

धर्मशिक्षण और धर्म के गहरे चिन्तन–मनन से लोकभ्रम का नाश और धर्म का उदय होता है। अज्ञान और भय लालच धर्म के कट्टर शत्रु हैं क्योंकि धर्म का नाश करने वाला लोकभ्रम अज्ञान और भय से ही उत्पन्न होता है।

ऋषि–मुनि या धर्मसंस्थापक जब तक अपनी श्रद्धा और अपने अनुभव की बात कहते हैं, जब तक उनमें शुद्ध सत्य अथवा सनातन धर्म का वास होता है परन्तु जब वे अथवा उनके अनुयायी जितने अंश में अपनी रूढ़ मान्यताओं और कल्पनाओं को असावधानी से, अनजान से या जानबूझ कर धर्म में मिला देते हैं, उतने ही अंश में उस धर्म में अशुद्धि आ जाती है और जब धर्म के अन्धे अनुयायी उस अशुद्ध धर्म को पकड़ बैठते हैं, तब धर्म सेवकों के हाथ से ही धर्म का पराजय होता है।

धर्मसंस्करण

मानव जीवन का चारों ओर से विचार करने वाला अगर कोई है तो धर्म ही है। जीवन का स्थायी अथवा अस्थायी–एक भी ऐसा अंग नहीं, जिसका विचार करना धर्म का कर्त्तव्य न हो अतएव धर्म मनुष्य के सनातन जीवन जितना ही बल्कि उससे भी अधिक व्यापक होना चाहिए और समग्र जीवन उसका क्षेत्र है। अतएव वह अत्यन्त उत्कट रूप से जीवित होना चाहिए।

आज जगत में जो धर्म प्रख्यात हैं, वे अधिकांश में ऐसे ही व्यापक हैं। स्थापना के समय तो वे सब जीवित थे ही परन्तु धार्मिक पुरुषों ने, बारम्बार उनकी चेतना जगाकर उन्हें जीवित रक्खा है। सिगड़ी की आग स्वभावतः बार बार मन्द हो जाती है। उसमें कोयला डालकर और फूंक मारकर बार बार संस्कार करना पड़ता है। ऐसा करने से वह जीवित और जागृत रहती है। इसी प्रकार समाज में धर्म को जागृत रखने के लिए धर्मपरायण पुरुषों को उसे फूंकने और ईंधन देने का काम करना पड़ता है। समय समय पर यह काम न होता रहा तो धर्मजीवन क्षीण और विकृत होता जाता है, और धर्म का क्षीण तथा विकृत रूप अधर्म के समान ही हानिकर होता है। धर्म को चैतन्य और प्रज्वलित रखने का काम धर्मपरायण व्यक्ति ही कर सकते हैं।

धर्म का अंतिम आधार मनुष्यहृदय है। धर्मजिज्ञासा और धर्मविचार मनुष्य का स्वभाव है। इस कारण सब कालों और सब दिशाओं में, विकास

की मर्यादा के अनुसार मनुष्य के हृदय में धर्म का आविर्भाव हुआ है। यह हृदयधर्म कितना ही कलुषित या मलिन क्यों न हो, पर उसकी मूल वस्तु शुद्ध है। अशुद्ध सोना पीतल नहीं है और पीतल चाहे जितना शुद्ध, चमकदार, और बढ़िया घाट का हो फिर भी वह सोना नहीं है। कोरी बुद्धि के बल पर खड़ा किया गया लोगों में रहे हुए रागद्वेष से लाभ उठा कर चालू किया गया और थोड़े–बहुत लोगों का स्वार्थपोषण करने वाला धर्म, धर्म नहीं है। असस्कारी हृदय की क्षुद्र वासना और दंभ से उत्पन्न होने वाली विकृति को छिपाने वाला, शिष्टाचार या चतुराई के साथ तर्क से किया जाने वाला बचाव भी धर्म नहीं है। अज्ञान, भोलापन और अंधश्रद्धा, इन तीन दोषों से कलुषित धर्म, अधर्म की कोटि पर पहुंच जाय तो बात जुदा है और मूल से ही धर्म नहीं है किन्तु सिफ्त से जो धर्म का रूप धारण करता है यह बात भी अलग है। मानव इतिहास में धर्म के उपर्युक्त दोनों प्रकार पर्याप्त परिमाण में मिल सकते हैं। किन्तु इन दोनों बातों का पृथक्करण करके उनका यथार्थ स्वरूप पहचानने का कष्ट अब तक मनुष्य ने नहीं उठाया है।

चालू दूकान अपनी आबादी कायम रखने और बढ़ाने के लिए पुराने और निकम्मे माल को अलग निकाल फेंकती है, और पड़ेपड़े बिगड़े हुए माल को साफ सुथरा करती है, इसी प्रकार धर्म को भी बारम्बार अपना संस्करण करना चाहिए। अलबत्ता यह संस्करण ऐसे लोगों द्वारा होना चाहिए जिनमें खरा सोना परखने और उसे संभाल रखने की शक्ति है, जो कुशल, धर्मज्ञ और समाज सेवक हैं। जगत् में आज जो नास्तिकता कढ़ गई है, उसका कारण प्रायः धर्मसंस्करण का अभाव ही है।

—काका कलेकर

ग्राम धर्म

जब तक मनुष्य समाज का जीवन अन्न और वस्त्र पर अवलंबित है तब तक खेती ही समाज का एक मात्र महत्वपूर्ण और अनिवार्य धन्धा रहेगा। साथ ही मानव समाज को खेती के लिए गांवों में ही निवास करना पड़ेगा।

अन्न और वस्त्र के सिवाय, मनुष्य के सामने जब दूसरी आवश्यकताएं खड़ी होंगी, तब उनकी पूर्ति के लिए तथा परस्परावलंबी समाज को सुनियन्त्रित और नियम बद्ध करने के लिए बाजार हाट नगर भी अवश्य उत्पन्न होंगे।

मनुष्य समाज, आज की भांति, जब तक राजतन्त्र द्वारा नियंत्रित रहना स्वीकार करेगा, तब तक राजधानी और उसकी व्यवस्था भी अनिवार्य

रहेगी। यह सब होने पर भी मानवजाति का मुख्य केन्द्र तो ग्राम ही हैं, क्योंकि खेती के साथ ग्राम का सजीव संबंध है।

यूरोप में औद्योगिक प्रगति के नाम पर इस स्वाभाविक स्थिति को बदल कर देश देशान्तरों के साथ संबंध जोड़कर खेती के बदले कारखानों को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि गांव एकदम वीरान–ऊजड़ हो गये और जहां तहां छोटे नगर बसने लगे। नागरिक, गांवों का सार भी अपनी ओर खींच ले जाने लगे।

नगर ग्रामों की आवश्यकता की पूर्ति करने के बदले आज उन्हीं को आजीविका का साधन बना बैठा है। इतना ही नहीं, पर अपनी आजीविका की पूर्ति ग्रामों से होती है। इसलिए ग्राम को जीवित रखा जा रहा है। कृत्रिम स्थिति के कारण मानवसमाज का आरोग्य, उसकी आयु, उसका चरित्र और उसकी संतोष वृत्ति को भारी आघात पहुंचा है। इस आघात को दूर करने और ग्रामों को पुनः सजीवन करने में ही मानव समाज का कल्याण है।

ग्रामधर्म का पालन करने से ही ग्रामों की पुनः प्राणप्रतिष्ठा की जा सकती है। ग्राम धर्म का पालन करने से ग्राम फिर सजीव हो उठेंगे।

ग्रामोद्धार

आज हिन्दुस्तान में ग्रामीण समाज की असाधारण दुर्दशा है। ग्रामों में शहरों से विदेशी माल और मौज शौक की विशेष वस्तुएं पहुंचती हैं–उद्योग धन्धा नहीं। शहर के दुर्गुण वहां तीव्रता से फैलने लगे हैं, पर शहर में धर्म विचार संबंधी जो जागृति, राजनीतिक प्रगति और समाजसुधार की प्रवृत्ति थोड़े बहुत अंशों में दृष्टिगोचर होती है, उसकी गन्ध ग्रामों में अत्यल्प प्रमाण में पहुंच पाती है।

देश देशान्तर में हमारे जिस धर्म का बखान किया जाता है, वह धर्म गांवों का पाले जाने वाला धर्म एक नहीं रहा है। ग्रामों में सच्ची धर्मनिष्ठा, पवित्र आस्तिकता और उच्च चारित्र सम्पत्ति कल तक थी, आज भी उसके अवशेष दिखाई देते हैं, परन्तु अबुद्धि, जड़ता और नास्तिकता का ही साम्राज्य वहां सर्वत्र फैल रहा है। अतएव ग्रामीण समाज में बुढ़ापा सा अधिक नजर आता है। ग्राम में अज्ञान है, अनारोग्य है और गरीबी है। अगर यह तीन दोष दूर न किये गये तो गांव का समाज टिक नहीं सकता। पर ज्ञान, आरोग्य और उद्योग ऊपर से कितना लादा जा सकता है? ऊपर से लादने के उपायों की

मर्यादा होती है। इस तरह त्रिपुटी को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने से पहले समाज का बुढ़ापा दूर होना आवश्यक है। समाज में उत्साह और उत्थान आना चाहिए। धर्मसंस्करण के बिना यह बात नहीं बन सकती। इसलिए और सब बातें छोड़कर पहले गांवों में धम संस्करण का यथायोग्य प्रयत्न करना चाहिए।

ग्रामों में जिस धर्म का पालन होता है, उसमें भय, घूंस, दैववाद और जंत्र–मंत्र वाला कर्मकाण्ड ही मुख्य होता है।

--काका कालेलकर

नगर धर्म

फ्रांसीसियों की मानव तथा नागरिक अधिकार घोषणा

(1) संसार का हेतु सार्वजनिक कल्याण है। स्वाभाविक तथा कालाबाधित अधिकारों के उपयोग की मनुष्य को खातिरी देने के लिए राज्य की स्थापना की गई है।

(2) वह अधिकार समानता, स्वतंत्रता, सुरक्षा तथा स्वत्व है।

(3) मनुष्य मात्र प्रकृति और कानून की नजरों में समान है।

(4) कानून सामान्य इच्छा का स्वतंत्र और गंभीर उद्‌गार है। रक्षा करने और दण्ड देने में वह सब के लिए एक है। वह न्यायसंगत और समाजहितकारी बात के सिवा किसी और चीज का विधान नहीं कर सकता तथा समाज के लिए अहित–कर चीज के सिवा किसी और का निषेध नहीं कर सकता।

(5) समस्त नागरिक सार्वजनिक नौकरियों में समान रूप से प्रवेश के पात्र हैं। स्वतंत्र प्रजा अपनी पसंदगी के लिए सुशीलता और सुमति को छोड़कर और किसी आधार को जानती ही नहीं है।

(6) स्वतंत्रता अर्थात् जिससे दूसरों को हानि न पहुंचे, यह सब करने की मनुष्य की सत्ता। प्रकृति स्वतंत्रता की जननी है, न्याय उसका नियम है, कानून उसका रक्षक है, उसकी नैतिक मर्यादा इस न्याय में है कि दूसरों का जो व्यवहार तुम अपने लिए पसंद नहीं करते, वह व्यवहार तुम दूसरों के प्रति मत करो।

(7) समाचार पत्रों द्वारा या किसी भी अन्य उपाय द्वारा अपना विचार– अपना अभिप्राय प्रकट करने के अधिकार की, शांतिपूर्वक सभा करने की, धर्म का निर्बाध आचरण करने की मनाई नहीं हो सकती।

(8) सुरक्षितता अर्थात् अपने शरीर, अपने अधिकार और स्वत्व का बचाव करने के लिए समाज अपने प्रत्येक अंग–भूत व्यक्ति को आश्वासन दे।

(9) राज्यकर्त्ताओं के अत्याचार से सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करना कानून का कर्त्तव्य होना चाहिये।

(10) मनुष्य की सम्मति बिना उसकी जायदाद में जरा सा भी हिस्सा नहीं लिया जा सकता।

(11) सर्वोपरि सत्ता जनता में अधिष्ठित है, वह एक अविभाज्य, कालाबाधित और अदेय है।

(12) अपने विधान को फिर जांचने, सुधारने और बदलने का अधिकार प्रजा को सदैव प्राप्त है। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को अपने कानूनों के अधीन नहीं कर सकती।

(13) कानून बनाने और प्रतिनिधि निर्वाचित करने में सम्मति देने का प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार है।

(14) अत्याचार का विरोध करना, यह मनुष्य के दूसरे अधिकारों से फलित होता है।

(15) राज्यकर्त्ता जब प्रजा के अधिकारों का उल्लंघन करे, तब प्रजा के लिए और प्रजा के प्रत्येक अंग के लिए, बलवान करना परम पवित्र अधिकार और परम अनिवार्य धर्म है।

('राजकथा' से)

राष्ट्र धर्म के मुख्य अंग

(चीन राष्ट्र के नेता डॉ. सन–यात–सेन के राष्ट्रीय सिद्धान्त)

राष्ट्र और प्रजा

प्रजा का राष्ट्रः– राष्ट्र प्रजा के सहारे जीवित है, अतएव वह प्रजा का है। प्रजा का पालन पोषण करना राष्ट्र का धर्म है और राष्ट्र को समृद्ध बनाना प्रजा का धर्म है। राष्ट्र और प्रजा दोनों अभिन्न हैं। प्रजा की दुर्बलता से राष्ट्र दुर्बल होता है और प्रजा की सफलता से राष्ट्र सफल बनता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। प्रजा की एकता, रक्तैक्य, भाषा–ऐक्य, आजीविका–ऐक्य, धर्म–ऐक्य, गुणस्वभाव–ऐक्य, आदि प्राकृतिक शक्तियों पर अवलंबित हैं और प्रजा की एकता पर राष्ट्र की एकता निर्भर है।

प्रत्येक प्रजा में अपने राष्ट्र की भावना, राष्ट्रीय आत्मा, राष्ट्रीय स्वभाव और राष्ट्रीय सजगता अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि प्रजा की राष्ट्रीय भावना में ही राष्ट्र का उत्थान है। प्रजा में अगर राष्ट्रीय भावना में ही राष्ट्र का उत्थान है। प्रजा में अगर राष्ट्रीय भावना हो अथवा वह लुप्तप्राय हो गई हो तो राष्ट्रधर्म का अधःपतन अवश्यंभावी है।

जिस प्रजा–संघ में संगठन है उस प्रजा का राष्ट्र अजेय है, अमर है। इतिहास इस बात की साक्षी देता है।

प्रजा की शक्ति

राजसत्ता का पूरा–पूरा अधिकार प्रजा के हाथ में है। यही बात सदियों पूर्व चीनी महर्षि मन सूं अस ने कही थी– 'प्रजा सबसे अधिक मूल्यवान है, तत्पश्चात् मंदिर और फिर अन्त में राजा–महाराजा।'

परन्तु इतिहास से एकदम उल्टी बात मालूम होती है। स्वेच्छाचारी राजाओं और सम्राटों ने हमेशा प्रजा के अधिकारों का अपहरण किया है और करते आये हैं।

प्रजासंघ द्वारा संचालन होना चाहिए, यह वर्तमान युग को प्रजातंत्र का युग कह कर पहचानते हैं। प्रजातंत्र के लिए अनेक विद्रोह हुए हैं। उनमें अमेरिका का स्वातंत्र्य युद्ध और फ्रांस की राज्यक्रान्ति की सफलता के लिए खून खच्चर किया था और रक्त की नदियां बहाई थीं।

क्या अमेरिका और फ्रांस की मारकाट द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने का आदर्श है? आदरणीय है? नहीं कदापि नहीं। मारकाट द्वारा स्वातंत्र्य–प्राप्ति का आदर्श चीन राष्ट्र की प्राचीन संस्कृति और चीनी प्रजा की मनोवृत्ति से सर्वथा विरुद्ध; है। मध्य युग से ही यूरोप में राजाओं तथा सम्राटों के अत्याचार, अनाचार तथा धार्मिक दमन इतना अधिक फैल गया था कि जिससे व्यवित्त की स्वतंत्रता नष्ट हो गई थी। अतएव यूरोप की प्रजा स्वतंत्रता को अत्यन्त प्रिय और पवित्र मानने लगी। उसे पाने के लिए प्राणों की भी परवाह नही की। उसका प्रधान स्वर था 'हमें स्वतंत्रता दो या मौत दो।' पर उनकी स्वतंत्रता वैयक्तिक थी, राष्ट्रीय स्वतंत्रता नहीं थी। ऐसी वैयक्तिक स्वतंत्रता चीन में अत्यन्त प्राचीन काल में भी थी पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आगे वैयक्तिक स्वतंत्रता की कीमत जरा सी भी नहीं है। अतएव चीन की प्रजा को अब राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता का बलिदान करना पड़ेगा। इस समय चीन राष्ट्र का आदर्श वैयक्तिक

स्वतंत्रता नहीं वरन् राष्ट्र की पूर्ण स्वाधीनता है। प्रजा ही राष्ट्र को शक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए राष्ट्र का कार्य व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राष्ट्र शक्ति पांच भागों में विभाजित कर लेनी चाहिए (1) शासन (2) विधान (3) न्याय (4) परीक्षा (5) निरीक्षण। राष्ट्रशक्ति को इस प्रकार व्यवस्थित रूप देने से राज्य–व्यवस्था सुन्दर होगी और उसके फलस्वरूप राष्ट्र और प्रजा में मित्रता कायम रह सकेगी।

एक ओर शासनयंत्र सुदृढ़ हो और दूसरी ओर शासनतंत्र चलाने वाली प्रजा भी बलवान बने तो शासनशक्ति राजतंत्र और प्रजा के वीच वरावर बंटी रह सकेगी। शासनशक्ति की इस प्रकार व्यवस्था होने पर प्रजातंत्र प्राप्त कर सकता है।

व्रतधर्म की आवश्यकता

व्रत अर्थात् अटल निश्चय। कठिनाइयों को जीतने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। कठिनाई सहन करने पर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय गिना जाता है। सारे का अनुभव इस बातकी साक्षी देता है कि ऐसे अटल निश्चय के बिना मनुष्य ऊपर ही नहीं चढ़ सकता। पाप रूप प्रवृत्ति का निश्चय व्रत नहीं कहलाता, यह राक्षसी वृत्ति है। हां, कोई निश्चय पुण्य रूप जान पड़ा हो और अन्त में पाप रूप सिद्ध हो तो उसे त्यागना अवश्य धर्म है। पर ऐसी वस्तु के विषय में कोई व्रत नहीं लेता– नहीं लेना चाहिये जो धर्म सर्वमान्य गिना गया हो और जिसका आचरण करने की टेक न पड़ी हो उसी के सम्बन्ध में व्रत होता है। सत्य कहने से किसी को हानि पहुंच जाय तो? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता। सत्य से संसार में न किसी को हानि हुई है न होगी, ऐसा सत्यवादी को विश्वास होना चाहिए। देह जाय या रहे मुझे तो धर्म का पालन करना ही है' ऐसा भव्य निश्चय करने वाला ही किसी समय परमात्मा की झलक पा सकता है। व्रत का ग्रहण करना कमजोरी का सूचक नहीं है, उलटा वल सूचक है। अमुक बात करना ही, इसका नाम है व्रत और इसमें बल है। भले ही इसे व्रत शब्द न कह कर किसी और शव्द से कहा जाय। इसमें कोई हानि नहीं है। 'जहां तक बन पड़ेगा करूंगा' ऐसा कहने वाला अपनी कमजोरी तथा अभिमान का प्रदर्शन करता है वह भले ही इसे नम्रता कह कर प्रकट करे, पर इसमें नम्रता की गन्ध तक नहीं है। 'जहां तक वन पड़ेगा' यह शव्द शुभ निश्चयों में जहर के समान है, यह सत्य मैंने अपने जीवन में और वहुतों के जीवन में देखा है 'जहां तक वन

पड़ेगा' अर्थात् पहली कठिनाई आते ही पतित हो जाना। 'जहां तक बन पड़ेगा सत्य का पालन करूंगा' इस वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं है। व्यापार में जहां तक बन पड़ेगा अमुक तारीख पर, अमुक रकम भर देने की चिट्ठी स्वीकार ही नहीं की जा सकती। इसी प्रकार जहां तक बन पड़ेगा, वहां तक सत्य पालने वाले को हुण्डी ईश्वर की दुकान पर नहीं बंटाई जा सकती।

ईश्वर स्वयं निश्चय व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है। उसके कायदे में से एक भी अणु फिर जाय तो वह ईश्वर ही न रहे। सूर्य महाव्रतधारी है, इसलिए जगत् का कालनिर्माण होता है और शुद्ध पंचांग की रचना हो सकती है। उसने ऐसी साख जमा ली है कि वह सदैव उगा है और सदैव उगता रहेगा। और इसी कारण हम अपने को सुरक्षित मानते हैं। व्यापार मात्र का अधिकार एक टेक पर अवलंबित है। अगर व्यापारी एक-दूसरे के प्रति बंधे न हों तो व्यापार चल नहीं सकता। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु नजर आती है। व्रत के विषय में हमारे मन में कभी शंका उठनी ही नहीं चाहिए।

—महात्मा गांधी

गणधर्म

प्राचीन भारत का राज्य धर्म राज्य सा था। राज्य और प्रजा के बीच धर्म का सम्बन्ध था। राजा के हित में प्रजा अपना हित मानती थी और प्रजा के हित में राजा अपना हित समझता था। इस प्रकार राज्यशासन भलीभांति चलता था। राज्यशासन सुव्यवस्थित चलने में एक मुख्य कारण था— गणधर्म की प्रतिष्ठा। गणधर्म को आज की भाषा में प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली कह सकते है। राजा भी प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था अतएव एक तरह से प्रजा अपना शासन आप करती थी। इस प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली से गणराज्य की ऋद्धि-सिद्धि अत्यन्त समृद्ध बनी थी और गण-राज्यों का आपसी सम्बन्ध बहुत गाढ़ा था।

शासन की सुव्यवस्था के लिए गणराज्यों के प्रतिनिधि संस्थागार TOWN HALL में प्रायः मिलते रहते थे और विचार विमनय करके प्रजाहित के उपायो की योजना करते थे।

भगवान् महावीर के समय में, भारतवर्ष के गणधर्म की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उस समय किसी के हाथ में सर्वोपरि निरंकुश सत्ता नहीं थी। तब बिखरे

हुए अनेक छोटे–मोटे राज्य थे। बड़े–बड़े राज्य राजसत्ताक और छोटे राज्य गणसत्ताक थे।

राजसत्ताक❀ राज्यों में मगध का राज्य, कोसल का राज्य, वत्स का राज्य, अवन्ति का राज्य इस तरह चार राज्य मुख्य जान पड़ते हैं। गणसत्ताक राज्यों में लिच्छविवंशीय, कोल्लिवंशीय, ज्ञातृवंशीय व मल्लवंशीय आदि क्षत्रियों के गण राज्य मुख्य थे। गणसत्ताक राज्य उस समय लगभग अठारह की संख्या में थे और उन गणराज्यों में मुख्यतः वैशाली, कुण्डपुर, कपिलवस्तु, कुशीनारा और पावा आदि स्थान मुख्य थे।

गणसत्ताक राज्यों का संगठन सुन्दर था। राज्य व्यवस्था सुव्यवस्थित थी और राजा प्रजा के बीच धर्मभाव की घनिष्ठता थी। यह बात जैनागमों और बौद्धागमों में भलीभांति प्रकट है।

इन सब गणसत्ताक राज्यों के गणनायक वैशाली के अधिपति राजा चेटक थे, जो भगवान् महावीर के संसार पक्ष के मामा होते थे।

इन राजसत्ताक और गणसत्ताक राज्यों के विषय में प्रज्ञापना सूत्र और सूयगडांग सूत्रों की टीका से अनेक विशेष बातें मालूम हो सकती है, जहां साढ़े पच्चीस आर्य देशों के नाम का उल्लेख किया गया है। अंगुत्तरनिकाय नामक बौद्धागम में भी सोलह देशों की गणना करते हुए इन देशों का उल्लेख किया गया है।

गणसत्ताक राज्यों में कितना सुन्दर संगठन था, यह जानने के लिए उस प्रसिद्ध लड़ाई का वर्णन पढ़ना चाहिए, जो मगधराज अजातशत्रु (कौणक) द्वारा, अपने हल्लविहल्ल नामक भाइयों के प्रति किये जाने वाले अन्याय को रोकने के लिए, महाराज चेटक के अठारह गणराज्यों की सहायता से की थी। वह 'रथमूसल' तथा महाशिलाकंटक नाम का युद्ध अत्यन्त विकराल था। वह युद्ध गणराज्यों के सुदृढ़ संगठन का जीता–जागता प्रमाण है।

संघ संगठन के साधन

जिस शासन की भांति वुद्धशासन में भी संघयोजना के सम्बन्ध में सुन्दर विचार किया गया है। संघ योजना में वह विचार बहुत उपयोगी है। अतएव यहां कुछ विचारों का उल्लेख कर देना उचित होगा।

❀ देखो– *'Buddhis India' by Rhysdavias ch II*

संघ संगठन–

सुखो बुद्धानमुप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी, सम्मगानं तपो सुखं।

अर्थात् बुद्धों का जन्म सुखकर है। सद्धर्म की देशना सुखकारक है। संघ की सामग्री संगठन सुखकारक है और संगठित होकर रहने वाले भिक्षुओं का तप सुखकारक है।

संघ संगठन की उपयोगिता और उसके लाभ

'एकधम्मो भिक्खवे! लोके उपञजमानो उपज्जति बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, बहुनो जनस्य अत्थाय, सुखाय, देवमनुस्सानं। कतमो एकधम्मो? सघस्य सामग्गी। संघे खो पन भिक्खवे! समग्गे न चेब अञञमञञे भण्डनानि होन्ति, न च अञञमञञं परिभासा होन्ति, न च अञञमञञ परिक्खेवा होन्ति, न च अञञमञञं परिच्चजना होन्ति, तत्थ अप्पसन्ना चे व प्पसीदन्ति, पसनानच्च भीयोभावो होतीत्ति।'

अर्थात्– हे भिक्षुओं! लोक में एक धर्म ऐसा है जिसे सिद्ध करने से बहुत लोगों का कल्याण, बहुत लोगों का सुख तथा देव और मनुष्य सहित बहुत लोगों का कल्याण, सुख और इच्छित अर्थ सिद्ध होता है।

वह धर्म कौन सा है?

संघ का संगठन।

भिक्षुओं! संघ का संगठन होने से परस्पर क्लेश–कलह नहीं होता, परस्पर अपशब्द गाली–गलौच का व्यवहार नहीं होता, परस्पर आक्षेप–विक्षेप नही होता, परस्पर परितर्जना नहीं होती, इस प्रकार संघ का संगठन होने से अप्रसन्न भी प्रसन्न हो जाते हैं (हिलमिल कर रहने लगते हैं) और जो प्रसन्न है उनमें खूब सद्‌भाव उत्पन्न होता है।

संघसंगठन– साधक की सिद्धि

सुखा संघस्स सामग्गी, सम्मग्गानञच अनुग्गहो।
समग्गरतो धम्मत्थो, योगक्खेमा न धंसति।।
संघं समग्गं कत्वान, कप्पं सग्गम्हि मोदति।

अर्थात्– संघ की सामग्री संगठन सुखकारक है। संगठन में रहने वालों की सहायता करने वाला, धर्म में स्थित रहने वाला और संगठन साधने वाला भिक्षु योग क्षेम से च्युत नहीं होता और संघ का संगठन करके वह भिक्षु अल्पकाल पर्यन्त स्वर्ग–सुख भोगता है।

संघभेद का दुष्परिणाम–

एक धम्मो भिक्खवे! लोके उपज्जमानो उपज्जति बहु जनाहिताय, बहुजनासुखाय बहुनो जनस्स अनत्थाय; अहिताय, दुक्खाय देवमनुस्सानं कतमो एक धम्मो? संघीोदो। संघे खो पन भिक्खवे! भिन्ने अज्जमज्ज भण्डनानि चेव होन्तिः अज्जमज्जं परिभाषा च होन्ति, अज्जमज्ज परिक्खेया च होन्ति, अड्ुजमज्ज परिच्चजना च होन्ति, तत्थ अप्पसन्ना चेव न प्पसीदन्ति पसन्नाज्च एकश्चानं अज्जयत्तं होत्तीति।

अर्थात्–भिक्षुओं! लोक में एक धर्म ऐसा है जिसे उत्पन्न करने से बहुत लोगों का अकल्याण, बहुत लोगों का आमुख और देव मनुष्य सहित बहुत लोगों को अनर्थ, अकल्याण और दुःख उत्पन्न होता है।

'वह कौनसा धर्म है?'

संघ भेद

भिक्षुओं! संघ में फूट डालने से आपस में कलह होता है, आपस में गाली–गलौच होता है, आपस में मिथ्या आक्षेप होते हैं आपस में परितर्जना होती है। आपस में अप्रसन्न हुए लोग हिलते मिलते नहीं हैं और मिलेजुले लोगों में भी अन्यथा भाव–असद्भाव पैदा होता है।

संघभेदक की दुर्गति–

आपापिको नेरयिको कप्पत्थो संगभेदको।
वग्गारामो अधम्मत्थो योगक्खेमतो धंसति।।
संघं समग्गं भित्वान कप्पं निरहम्हि पज्चतीति।

अर्थात्– संघ में फूट डालने वाला अधर्मी, अल्प वर्ष पर्यन्त नरक में निवास करता है, निर्वाण से विमुख होता है और संघ में फूट पैदा करके अल्पकाल तक नरक में पचता है।

संघ संगठन के साधन–

छहिमे भिच्खू धम्मा सारणीया पियकरणागरुकरणा संगहाय, अविवादाय, समग्गिया एकीभावाय संवतन्ति। कतमे छ?

(1) इध भिक्खवे! भिक्खुनो मेत्तं कायकम्मं रहो च।

(2) इध भिक्खवे! भिक्खुनो मेत्तं वचीकम्मं रहो च।

(3) इध भिक्खवे! भिक्खुनो मेत्तं मनोकम्मं रहो च।

(4) भिक्खवे! भिक्खू ये ते लामा धम्मिका धम्मलद्धा अन्तमसो पत्तपरियापन्नमर्त्तऽयि तथा रूपेहि लामेहि अपटिविमक्तमोगी होति सीलवन्तेहि सब्रह्मचारीहि साधारणभोगी।

(5) भिक्खवे! भिक्खू यानि यानि सीलानि अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानि भुजिस्सानि विज्जु प्पत्थनि अपरामठ्ठानि समाधिसंवत्तनिकानि सीलेसु सीलमन्नागतो विहरति सब्रह्मचारीहि आवी चेव रहो च।

(6) भिक्खवे! भिक्खूयाऽयं दिठ्ठिअरिया निय्यानिका निय्याति तक्करस्स सम्मादुक्खक्खयाय तथारूपाय दिठ्ठियादिठ्ठिसमन्नागतो विहरति सब्रह्मचारीहि आवी चेव रहो च।

अर्थात्– यह छः वस्तुएं स्मरणीय, प्रेम बढ़ाने वाली और आदर बढ़ाने वाली हैं और वह संग्रह, अविवाद, सामग्री (एकता और एकीकरण में कारण) हैं :–

(1) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रोपय कार्यकर्म।

(2) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय वाचा–कर्म।

(3) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय मनःकर्म।

(4) धर्मानुसार मिली हुई वस्तुओं का साधर्मिकों में बंटवारा करके उनके साथ उपभोग करना।

(5) प्रत्यक्ष और परोक्ष में अपना शीलाचार, अखण्ड अछिद्र अंशबल, अकलुषित, भूजिष्य (स्वतंत्र), सुज्ञप्रशस्त, अपरामृष्ट और समाजसंवतजिक रखना और।

(6) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष में जिस दृष्टि के द्वारा सम्यक् प्रकार से दुःख का नाश होता है उस आर्य निर्यानिक दृष्टि से सम्पन्न होकर व्यवहार करना।

महात्मा बुद्ध ने संघ की व्यवस्था के लिए जिन साधनों का उपदेश दिया है, वे किसी भी संघ के लिए उपयोगी हो सकते हैं। हमारा संघ भी उनसे लाभ उठा सकता है। संघधर्म का पालन करने के लिए इन नियमों की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

चारित्र–धर्म

बुद्ध का गृहस्थधर्म– दस शील धर्म

परिग्रह से युक्त गृहस्थ के लिए केवल भिक्षु धर्म के अनुसार बर्ताव करना शक्य नहीं है। श्रावक जिस बर्ताव से 'सज्जन' कहलाता है वह गृहस्थ का व्रत मैं कहता हूं :–

उसे प्राणहानि नहीं करनी चाहिए और न करानी चाहिए। समस्त भूतों के प्रति, फिर चाहे वह स्थावर हो या जंगम हो, दण्डबुद्धि का– भिक्षावृत्ति का त्याग करना चाहिए।

'तत्पश्चात् विवेकशील श्रावक को किसी भी वस्तु की चोरी करने वाले को उत्तेजना नहीं देना चाहिए, इस प्रकार सम्पूर्ण अदत्तादान का त्याग करना उचित है।

समझदार श्रावक को धधकते हुए, सुलगते हुए कोयलों की लाई के समान अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए, अगर ब्रह्मचर्य का पालन अशक्य हो तो कम से कम परदारागमन तो नहीं ही करना चाहिए।

'सभा में, परिषद् में अथवा बिना समूह के, जब दूसरे से बोले तब असत्य न वोले, दूसरे से असत्य न बुलवावे और असत्य बोलने वाले को उत्तेजन न दें। इस प्रकार सब असत्य का त्याग करना चाहिए।'

'जो गृहस्थ बुद्ध का धर्म पाले वह मद्यपान न करे, दूसरे को मद्यपान न करावे और मद्यपान करने वाले को उत्तेजन न दे, मद्य को उन्मादकारक समझ कर छोड़ देना चाहिए।

क्योंकि मद्य के नशे में मूर्ख लोग पापाचरण करते हैं। और दूसरे लोगों को भी प्रमत्त बनाते हैं। पाप का आयतन, उन्माद–कारक, मोहकारक और मूर्खप्रिय इस कृत्य को निषिद्ध समझना चाहिए।'

'प्राणघात करना, चोरी न करना, असत्य भाषण न करना, मद्यप न होना, अब्रह्मचर्य और स्त्रीसंग से विरत होना और अकाल में अर्थात् रात्रि में भोजन न करना।'

'माला धारण करना, चंदन न लगाना, सादे पाटे पर या जमीन पर सोना, दुःख के पार पहुंचे हुए बुद्ध द्वारा प्रकाशित यह पाठ उपोसथ❀ है' ऐसा कहते हैं।

❀ उपोसथ अर्थात् पौषध। भाषा और भाव की दृष्टि एक ही है।

और यह अष्टांग वाला, सुसम्पन्न उपोसथ प्रति पखवाड़े, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमी के दिन तथा वर्षाऋतु में प्रसन्न मन से पाखना चाहिए।

तदन्तर उपासथ के दूसरे दिन, प्रभात में उस सुज्ञ पुरुष को प्रसन्न चित्त से भिक्षुसंघ का अनुमोदन करके भिक्षुओं में यथा योग्य अन्न और पान बांटना चाहिए।

धर्ममार्ग से माता–पिता का पालन करना और धार्मिक रीति से व्यापार करना चाहिए। अगर गृहस्थ सावधानी के साथ इस प्रकार वर्ते तो वह सद्गति पाता है।

सुनिपातः– 163–404

धर्म और धर्म नायक
(उत्तरार्ध)

स्थविरधर्म–नायकधर्म

न तेन वयो सो होती येनस्स फलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्य मोघजिण्णो त्ति बुच्चति।।
यम्हि सच्चं च धम्मी च, अहिंसा संजमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो सो थैरो त्ति पवुच्चति।।

अर्थात्– सिर के बाल सफेद हो जाने से अथवा वयोवृद्ध (बूढ़ा) हो जाने से ही कोई 'स्थविर' नहीं कहलाता, क्योंकि वह अकाल–जीर्ण है। हां, जिसके हृदय में अहिंसा, संयम, दम आदि का सवस है, जो निर्मल निर्दोष और धीर है वही सच्चा स्थविर–धर्मनायक कहलाता है।'
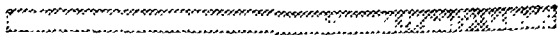
धर्म और धर्मनायक

(उत्तरार्ध)

विषय प्रवेश

स्थविर धर्म

अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः।

जिस समूह का हाईनायक—नेता नहीं होता उसकी दुर्गति होती है और जिसके बहुत नायक होते है, उस समूह की भी दुर्गति हो जाती है।

प्रत्येक धर्म, समाज और राष्ट्र को नेता की परम आवश्यकता रहती है। नेता ही किसी समूह की शक्ति को पूंजीभूत करता है; नेता ही राष्ट्रीय या धार्मिक मत को अभिव्यक्त करता है और नेता ही राष्ट्रीय, सामाजिक या धार्मिक शक्ति को गति देता है और उसमें क्षमता उत्पन्न करता है।

सच्चा नेता वह है जो धर्म, समाज और राष्ट्र का पथप्रदर्शक हो और उनके कार्यव्यापारों एवं विचारों का नियंत्रण करता है।

ठीक—ठीक नेतृत्व के अभाव में राष्ट्र में अव्यवस्था और अनियंत्रितता आती है और इनके फलस्वरूप असफलता मिलती है। संसार के किसी भी राष्ट्र के इतिहास पर नजर डालो, स्पष्ट ज्ञात होगा कि आन्दोलनों की चाहे वह धार्मिक हों, सामाजिक हों, राजनीतिक हों या सांस्कृतिक हों, सफलता सदैव उनके नेताओं के ऊपर निर्भर रही है— ऐसे नेताओं पर जो प्रजा का सहयोग प्राप्त करने में समर्थ थे। इस सच्चाई का सबूत खोजने के लिए हमें राजनीति विज्ञान या समाजशास्त्र के अर्थ में गहरे उतरने की आवश्यकता नही है। विभिन्न राष्ट्रों के वर्तमान नायक ही इस सत्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रजा का नेता प्रजा का सेवक है। सेवक को कुछ दान नहीं चाहिए। सेवक को पूजा नही चाहिए। दान और पूजा की अपेक्षा रखकर की गई सेवा, सेवा नही— व्यवस्था है।

धार्मिकवृत्ति वाला अपने आपको धर्मात्मा कहलाने का विचार तक नहीं करता। उसके चरित्र में दम्भ का नामनिशान तक नहीं मिल सकता।

जिसने अपनी इन्द्रियां पूरी तरह वशीभूत कर ली हैं और जिसका शरीरयात्रा के निर्वाह के लिए ही इन्द्रियों का व्यापार है, जिसने सब विकारों को जीत लिया है, जिसने आत्मा को पहचान लिया है, वही धर्मात्मा है–धर्मनायक है।

जो पुरुष साधु–जीवन व्यतीत करता है, जिसकी वृत्तियां सादी हैं, जो सत्य की साक्षात् मूर्ति है, नम्र है, जो अहंभाव को पास नहीं फटकने देता, वह पुरुष वास्तव में धर्मात्मा–धर्मपुरुष–धर्मनायक है। ऐसे धार्मिक पुरुष को शास्त्रकार 'स्थविर' कहते हैं। 'स्थविर' शब्द ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों से सम्पन्न वृद्ध के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। पूर्वोक्त दस धर्मों की सुव्यवस्था के लिए शास्त्रकारों ने दस स्थविरों की योजना की है।

जैन शास्त्रों में दस धर्मों का विधिवत् पालन कराने के लिए निम्नलिखित दस स्थविरों–धर्मनायकों का विधान किया गया है :–

(1) ग्रामस्थविर (2) नगरस्थविर
(3) राष्ट्रस्थविर (4) प्रशास्तारस्थविर
(5) कुलस्थविर (6) गणस्थविर
(7) संघस्थविर (8) जातिस्थविर
(9) सूत्रस्थविर (10) संघस्थविर (पर्यायस्थविर)

इन दस–विधि स्थविरों की अलग–अलग संक्षिप्त व्याख्या यहां की जायेगी।

1
ग्रामस्थविर–ग्रामनायक
(गामथेरो)

भारतवर्ष का उद्धार उसके साढ़े सात लाख गांवों को सजीव कराने

दुर्व्यवस्था क्या है और सुव्यवस्था क्या है। यह जान सकना साधारण मनुष्य के लिए सरल नहीं है। इसे ठीक–ठीक वही मनुष्य समझ सकता है जिसका इस सम्बन्ध का अच्छा अनुभव हो और जिसे पूर्वोक्त दस धर्मों की सांकल की प्रत्येक कड़ी का पूरा–पूरा ध्यान हो। दस धर्मों की शृंखला को ठीक तरह समझने वाला ही दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का वास्तविक अन्तर समझ सकता है, क्योंकि प्रकृति के नियमों की सुन्दर से सुन्दर व्यवस्था करने वाला धर्म ही है। जहां धर्म नहीं, वहां व्यवस्था नहीं और जहां व्यवस्था नहीं वहां सुख–शान्ति नहीं। इसलिए ग्राम, नगर या राष्ट्र में सुख–शान्ति स्थापित करने के लिए ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि धर्मों का यथावत् क्रमबद्ध ज्ञान धर्मनायक का होना चाहिये। जो मनुष्य एकांकी दृष्टि से धर्म का विचार करता है तो वह दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का भेद नहीं समझ सकता। अतएव धर्मनायक को ग्राम में सुव्यवस्था और सुख–शान्ति स्थापित करने के लिए विवेक दृष्टि अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

ग्राम में दुर्व्यवस्था उत्पन्न होने के कारण ग्राम पतन के पथ की ओर अग्रसर होता जाता है। गांव में अगर सुव्यवस्था न हुई तो वहां चोरी होती है, व्यभिचार होता है, भुखमरी फैलती है और इस प्रकार ग्राम्यजीवन का पतन हो जाता है। यह एक ध्रुव सत्य है। अव्यवस्थित ग्राम में सामान्यतया अनाचार का दौर होता ही है। जिस पर लोगों को अगर खाने के लिए अन्न और पहनने के लिये पर्याप्त वस्त्र न मिले तब तो अनाचार की सीमा नहीं रहती। अनाचार–अत्याचार रोकने के लिये और लोगों को सत्य और न्याय के पथ पर लाने के लिये एक ग्रामनायक–सुव्यवस्थापक की आवश्यकता रहती है जो सब प्रकार की अव्यवस्थाओं को दूर करके सुव्यवस्था स्थापित करे।

आज गांवों में स्थविर–ग्रामसेवक बहुत ही कम हैं। इस कारण ग्रामोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य व्यवस्थित नहीं हो रहा है। ग्रामनायक अगर ग्रामोद्धार के कार्य में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करें तो नगरोद्धार और राष्ट्रोद्धार होने में विलम्ब न लगे। ग्राम का उद्धार करने में ग्रामनायक का क्या स्थान है, यह बात बड़ी विस्तृत है। पर नीचे लिखे बौद्ध शास्त्रीय उदाहरण से उसका दिग्दर्शन अवश्य हो सकता है।

किसी गांव में मघा नामक एक ग्रामनायक रहता था। इस ग्रामनायक ने अपने चरित्रबल से, प्रजा के प्रेम से और अपने व्यक्तित्त्व के प्रभाव से गांव भर मे ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी कि गांव के सब लोग उसकी वाणी को शास्त्र का विधान मानकर अंगीकार करते थे। कोई उसकी बात का उल्लंघन न करता था।

मघा ने गांव के लोगों से प्रतिज्ञा करा ली थी। अपने गांव में रहने वाला कोई भी पुरुष मद्य–मांस का सेवन नहीं करेगा, चोरी डकैती नहीं करेगा, अनाचार अत्याचार नहीं करेगा,सव मिलजुल कर प्रेमपूर्वक रहेंगे, किसी के साथ कोई झगड़ा फसाद न करेगा।

मघा की यह आज्ञा ग्रामवासियों के लिए धार्मिक प्रतिज्ञा वन गई। सवने स्वेच्छा से उसे स्वीकार किया। मघा की इस सुव्यवस्था से उस गांव में एक भी शराबी, चोर, जुआरी या कर्जदार न रहा। उसने गांव को इस ढंग से सुव्यवस्थित बनाया कि सभी लोग आनन्दपूर्वक निर्भय होकर रहने लगे और ग्राम्यजीवन का सच्चा आनन्द लूटने लगे। किसी को किसी का भय न था। सभी एक वृहत् परिवार की भांति, एक दूसरे के सुख दुःख के साथी वनकर रहते थे। न चोरी का डर, न डकैती का डर। द्वार पर ताला लगाने की भी आवश्यकता न रही। उस जीवन में सभी नर–नारी पूरी तरह संतुष्ट थे।

मघा की यह करामात देखकर ग्रामनिवासी उसे देवता की भांति पूजने लगे। मगर मघा अपनी प्रतिष्ठा से फूलता न था। वह निंदा स्तुति के धरातल से ऊपर उठ गया था। उसकी एक ही धुन थी–ग्रामोद्धार। उसी में वह तन्मय रहता। ग्राम्य जीवन का अधिक से अधिक विकास करना उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य हो गया था।

मघा कभी–कभी, फुर्सत का समय देख ग्रामवासियों को इकट्ठा करता, उनके वालकों को पढ़ाने की सलाह देता, कभी वह मद्य मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण की वुराइयों का और उनसे जीवन पर होने वाले दुष्परिणामों का चित्र खींचता था। कभी बीड़ी–सिगरेट आदि मादक पदार्थो के सेवन की हानियां समझाता था। कभी वह अशिक्षा की भयंकरता का प्रतिपादन करता या स्वार्थी लोग अशिक्षा से लाभ उठाकर एक के बदले इक्कीस किस प्रकार वसूल करते हैं यह समझाता। कभी कभी खेती करने का तरीका, खेती की रक्षा का उपाय, धान्य संग्रह की विधि आदि के विपय में विवेचन करता। कभी गायभैंस आदि पशुओं के पालन पोपण आदि का प्रतिपादन करता था। इस प्रकार प्रत्येक संभव उपाय से वह ग्रामनिवासियों के अभ्युदय के लिए सचेष्ट रहता।

मघा कभी–कभी दोपहर में, जव स्त्रियों को विशेप कामकाज न होता, इकट्ठा करता और उन्हें 'स्त्रीधर्म समझाता था। शिशुओं के पालन पोपण के संबंध में अनेक वातें वतलाता था। घर की और पास पड़ौस की सफाई
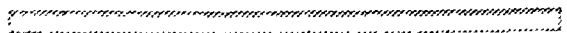
की ओर उनका ध्यान आकर्षित करता था। वह स्त्रियों को अवकाश के समय चर्खा चलाने, भरने-गूंथने आदि घरू धन्धों की भी शिक्षा देता था।

कभी-किसी दिन मघा गांव के नवयुवकों की सभा करता, उन्हें यौवन धन का मूल्य समझाता। जीवन में यौवन धन का स्थान क्या है और यह समय कितना नाजुक है? एक जरासा वासना का धक्का जीवन को किस प्रकार मिट्टी में मिला सकता है, और किस प्रकार यौवन धन को संभालना आवश्यक है-- इत्यादि प्रश्नों पर विवेचन करता। नवयुवक चाहें तो देश की, समाज की और धर्म की कितनी बहुमूल्य सेवा बजा सकते हैं, इस बात का हूबहू चित्र खींचता। उषा के अनुरक्त आंगन में खड़े हुए नवयुवकों को अपनी यौवन शक्ति का स्व-परविकास में किस प्रकार सदुपयोग करना चाहिए? इत्यादि बातें समझाते हुए युवकों में नूतन प्राणों का संचार करता हुआ और यौवन की प्राणप्रतिष्ठा का संरक्षण करने के लिए युवकों को चेतावनी देता हुआ मघा अपने कर्त्तव्यपालन में संलग्न था।

मघा को नन्हे-नन्हे बच्चों से बड़ा प्रेम था। कभी, अवसर पाकर वह बच्चों को इकट्ठा करता। उन्हें खिलाता, उनसे खेलता उनकी सफाई करता, अक्षरज्ञान कराता और उनके योग्य अच्छी-अच्छी बातें उन्हें बतलाता, कभी उनके साथ हंसता-कूदता और बालकों को इतना हंसाता कि उनका पेट दुखने लगता।

अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा से मघा बालकों का, स्त्रियों, युवकों और बूढ़ों का सभी का स्नेहभाजन बन गया। ग्रामनिवासी सभी उसे अपना मुखिया मानते और उसके इशारे पर नाचने को तैयार रहते थे।

कहने के बदले कर दिखाने पर मघा का विश्वास था। गली कूचों में कहीं कूड़ा-कचरा देखता तो चुपचाप उठाकर गांव-बाहर फैंक आता, गन्दगी वाली जगह साफ कर रखता। कई बार स्त्रियां साफ की हुई जगह पर कूड़ा बिखेर देती, पर मघा की भौहों पर बल न पड़ता। वह दोबारा सफाई करता। मघा का यह निस्वार्थ सेवाभाव देखकर उन्हें लज्जित होना पड़ता। फिर कभी वे ऐसा न करती और उल्टा मघा के काम में मददगार बन जाती।

मघा की इस सुव्यवस्था से सारा गांव साफ सुथरा और सुधड़ दिखाई देता था। गांव के लोग अपने गांव की स्वच्छता, सुधड़ता और सुव्यवस्था देखकर आनंदित होते थे। पर दुनियां में कौनसी अच्छाई है जो किसी के लिए बुराई न बन जाय? मघा की यह सत्यवृत्ति एक मदिरा विक्रेता-कलाल को और रौब गांठने की गुंजाइश कम होती देखकर कुछ

राजकर्मचारियों को कांटे की तरह चुभने लगी। गांव में न कोई शराबी बचा था, न फरियाद करने वाला। अतएव कलाल और राजकर्मचारी अपनी आजीविका की चिन्ता में पड़ गये। वे चाहते तो सीधा रास्ता पकड़ सकते थे, पर अन्तस्थल में उभरती हुई ईर्ष्या के प्रभाव से उन्होंने वह रास्ता न पकड़ा।

राज्य कर्मचारियों ने मघा पर मिथ्या दोषारोपण करके मगध नरेश के सामने फरियाद की। राजा कानों के कच्चे होते हैं। उन्हें सुझा दिया गया था कि मघा जनता में राज्यविरुद्ध उत्तेजना एवं विद्रोह की भावना भर रहा है। वह राज्यशासन में उथल-पुथल करना चाहता है। मघा राज्य का महान् शत्रु है और उसे सख्त शिक्षा मिलनी ही चाहिए, वर्ना राज्य खतरे में पड़ जायेगा।

मगध नरेश अपने कर्मचारियों के बहकावे में आ गये। उन्होंने मघा को और साथ ही उसके अनुयायियों को हाथी के पैर के नीचे कुचलवा डालने की भीषण व्यवस्था दे दी। मघा ने यह सुना, मगर उसका रोम भी न फड़का। मघा को सत्य और न्याय की अन्तिम विजय पर पूर्ण विश्वास था। वह सत्य का सहारा लिए निश्चल खड़ा रहा। मगध नरेश ने मघा का व्यवहार देखा तो उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा-'मघा' तू क्या चाहता है? तुझे अपने प्राण प्यारे नहीं हैं? तू राजद्रोह का त्यागकर सुख चैन से रहना नहीं चाहता?

मगधनरेश की इस बात से मघा जैसे नींद से जाग उठा। उसने अपने कार्यों पर निगाह डाली। उसे लगा-मैंने राजद्रोह की बात तो कभी सोची तक नहीं है, फिर मुझ पर यह आरोप क्यों? अन्त में मघा ने कहा-महाराज, मैं जो प्रवृत्ति कर रहा हूं, उसमें राजद्रोह की गंध तक नहीं है। मैं आपसे बिना वेतन मांगे अपका ही काम कर रहा हूं। अगर यह मेरा अपराध नहीं है तो मैं सर्वथा निरपराध हूं। फिर भी अगर आप मुझे राजदण्ड का अपराधी मानते हैं तो आपकी आज्ञा सिर माथे है।'

मगध नरेश मघा की बात से प्रभावित हुए। उसकी बात में एक प्रकार की निस्पृहता थी, उत्सर्ग था और औद्धत्य का अभाव था। नरेश फिर बोले-मघा, बताओ सारे दिन तुम क्या करते हो?

मघा ने अपनी दिनचर्या कह सुनाई। फिर उसके गांव वालों से पूछताछ की गई-प्रजाजनों, मघा की प्रवृत्ति से तुम्हें क्या हानि लाभ हुआ है? क्या तुम साफ साफ बता सकते हो?
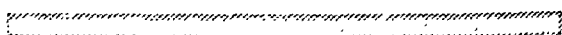
प्रजाजनों ने कहा—'अन्नदाता! मघा की सत्प्रवृत्तियों के कारण गांव में शराबी, जुआरी या दुराचारी कोई नहीं रहा। बालक, जवान, स्त्रियां और वृद्ध सभी अच्छे रास्ते पर आ गये हैं, गांव में सतजुग वर्त्त रहा है। मघा के व्यवहार से हम लोग खूब सुखी और संतुष्ट हैं। सचमुच मघा हमारा नायक है। वह हमारे लिए देवता है।'

मघा के विषय में प्रजाजनों की बात सुनकर मगध नरेश बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कलाल और फरियाद करने वाले राजकर्मचारी को बुलाया और पूछा—जिस मघा को तुम राजद्रोही कहते हो, उसी के विषय में प्रजाजनों का विचार एकदम दूसरा है। प्रजा उसे राज्य सुधारक और ग्राम नेता मानती है। कौन सच्चा है—तुम लोग या यह सब प्रजाजन?

असत्य के पांव उखड़ गये, प्रजा के सम्मिलित स्वर के आगे असत्य थर्राने लगा। अन्त में कलाल और राज्य कर्मचारी अपने स्वार्थ के लिए एक सच्चे ग्राम सेवक पर लगाये हुए मिथ्या आरोप के लिए क्षमायाचना करने लगे और मगध नरेश के समक्ष किए हुए अन्याय के लिए पश्चात्ताप करने लगे। मगध नरेश मघा की गंभीरता, सत्य प्रियता, सेवा भावना आदि गुणों को देख प्रसन्न हुए। अपने राज्य के ग्राम में ऐसे निस्पृह ग्रामसेवक का वास देख, गौरव अनुभव करने लगे। अन्त में महाराज ने 'ग्रामनायक' का पद देकर मघा का सम्मान किया।

सच्चे ग्राम सेवक कैसे होते है? उन पर ग्रामोद्धार की कितनी जबाबदारी रहती है? परीक्षा के प्रसंग पर कितनी अधिक निश्चलता एवं धैर्य तथा क्षमता का परिचय देना पड़ता है? इत्यादि अनेक बातें ग्रामनायक मघा के चरित्र से स्वयं प्रकट हो जाती हैं।

सच्चा ग्रामसेवक अन्याय से डरता नहीं है, सत्य और न्याय पर उसकी अविचल श्रद्धा होती है। आने वाली परेशानियों पर विजय पाना उसका कौतुक है। मघा की निश्चलता ने सजा के बदले सम्मान पाया। उसने भूले भटके लोगों को सुमार्ग दिखाया।

खेद है, आज गांवों में मघा—सा ग्रामनायक खोजने पर भी कहीं दिखाई नहीं देता। आज एक—एक मनुष्य अपने आप में व्यस्त है। आत्मीयता का भाव अत्यन्त ही क्षुद्र दायरे में सीमित हो गया है। इसी कारण ग्रामों की व्यवस्था बिगड़ी हुई है। ग्रामों में सच्चे सेवकों का अभाव होने से ही वहां दुर्व्यसनों का दौरा चल रहा है, घोर अज्ञान फैला है, जड़ता का वास है,

गन्दगी का राज्य है, दीनता और वेवसी का नाच हो रहा है, मुकदमेवाजों का वाजार गरम है और इस प्रकार सारा का सारा ग्राम्यजीवन अस्त व्यस्त हो रहा है।

जिस ग्राम का नायक वुद्धिमान होता है, वहां के लोगों को दुष्काल पड़ने पर भी कठिनाई नहीं भोगनी पड़ती, क्योंकि ग्राम नायक अपनी दीर्घ दृष्टि से भविष्य का विचार करके धान्य का संग्रह करा रखता है। दुष्काल के अवसर पर उसका उपयोग करके कठिनाई से वचा जा सकता है।

ग्रामनायकों के अभाव में, आज ग्रामीण जनता का जीवन–धन–गोवंश अज्ञान और दुर्व्यवस्था के कारण लुट रहा है। सच्चा ग्रामनायक गोवंश के पालन पोषण के वैज्ञानिक उपायों पर अमल करके उनके संरक्षण और संवर्द्धन की तमाम व्यवस्था करता है।

अगर आज कोई ग्रामनायक आगे आवे और ग्रामीण जनता उसकी कार्यप्रणाली में सहयोग दे तो भारतवर्ष का अस्तगत ज्ञानसूर्य फिर उदित हुए विना नहीं रह सकता।

जव तक मानव–समाज का जीवन अन्न और वस्त्र पर अवलंवित है तव तक ग्रामधर्म को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिये बिना छुटकारा नहीं। और यदि अन्न–वस्त्र के विना मानवजीवन कदापि नहीं टिक सकता तो ग्रामधर्म की उपेक्षा भी कदापि नहीं की जा सकती। ग्रामधर्म के प्रति उपेक्षा करने का अर्थ है मानव–जीवन के प्रति उपेक्षा करना।

भारतवर्ष में ऐसे ग्राम मौजूद हैं जो अपनी ही उपज में से उपर्युक्त दोनों आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकते हैं। ग्राम में उत्पन्न होने वाला अन्न ग्राम्यजनता की तमाम खाद्य वस्तुओं की आवश्यकता पूर्ण कर सकता है। रह जाती है सिर्फ वस्त्र की वात। सो प्राचीन काल में प्रत्येक गांव में वस्त्र बनाये जाते थे। कोई गांव ऐसा न था जहां वस्त्र न वनाये जाते हों। यह सव आज भी किया जा सकता है। इस प्रकार अगर प्रत्येक ग्राम अपने लिए खाने को अन्न और पहनने को कपड़ा तैयार कर ले तो दूसरों का मुंह ताकने की क्या आवश्यकता है? ग्राम्यजनता दीनतापूर्वक क्यों किसी चीज के लिए दूसरों के आगे हाथ पसारे? अपने लिए जो वास्तव में आवश्यक है वह आप ही उत्पन्न कर ले और जितना उत्पन्न कर ले उतने ही से काम चला ले। वाहर से मंगाने की अपेक्षा न रखे तो उसमें आत्मनिर्भरता का तेज उदित होगा। ग्रामनायक के विना, यह सव वातें ग्रामीण जनता को कौन समझाए?
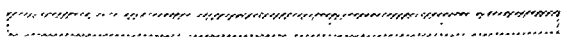
बहुत देर से ही सही, पर अब हम लोग गांवों की उपयोगिता समझने लगे हैं। शहरों की समृद्धि और चकाचौंध पैदा करने वाला वैभव देखकर घड़ी भर के लिए हम आश्चर्यचकित भले बन जावें पर दिनों दिन दरिद्र बनते जाने वाले गांवों की दर्दनाक कहानियां जब हमारे कानों से टकराती हैं तब हमारी सभ्यता का मोह कपूर की तरह उड़ जाता है, अभिमान गलने लग जाता है। हमें लगता है– अगर गांव नष्ट हुए– ग्रामधर्म और ग्रामनायक के अभाव में गांव वीरान बन गये तो समृद्धिशाली नगरों का प्राण और तेज दूसरी ही घड़ी उड़ जायेगा। इसमें सन्देह के लिए अवकाश ही नहीं है।

ग्राम मूल है और नगर उसके फूल पत्ते के समान हैं। जब मूल में सड़न आरम्भ होती है तब वह मूल में ही परिसमाप्त नहीं हो जाती। उसका प्रभाव फुनगी तक पहुंचे बिना नहीं रहता। इस सत्य को समझने के लिए अनुभव ने हमें बाध्य किया है, फिर भी हमारी मोहनिद्रा अब तक भी पूरी तरह भंग नहीं हुई। इसी कारण राष्ट्र के सूत्रधार ढोल बजा कर कहते हैं।

सच्चा हिन्दुस्तान गांवों में बसा है। नगर तो माया मात्र हैं। गांवों की सेवा ही हिन्दुस्तान के पुनरुद्धार की भूमिका है।

ग्रामोद्धार की यह बात भले ही समझ में आ गई हो फिर भी अभी तक हमारे हृदयों के तारों में सहानुभूति की झनझनाहट उत्पन्न नहीं हुई। इस अभागे सत्य को अस्वीकार करने से क्या लाभ है?

कोई सच्चा ग्रामनायक, ग्रामधर्म का अर्थ जब हमें समझाएगा और समझे हुए धर्म को जब हम जीवन में परिणत करेंगे तब भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर विराजमान होगा।

भारतवर्ष में जब सच्चे ग्रामनायक थे तब ग्रामधर्म समस्त धर्मों का संचालन करता था। अर्थात् ग्रामधर्म ही नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का पोषण और वर्धन करता था।

लगभग दो हजार वर्ष पहले की बात है। सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार मे ग्रीस देश का राजदूत मेगस्थिनीज आया था। उसने भारतवर्ष के धर्म के सम्बन्ध में अपने कुछ वर्ष के अनुभव बतलाते हुए लिखा है–

भारतवर्ष में धर्म की ऐसी सुन्दर व्यवस्था है कि भारतीय लोग अपने मकान में ताला भी नहीं लगाते। न वे असत्य भाषण करते हैं, न मायाचार का सेवन करते है।

भारतवर्ष, आज भी वह भूमि है, जिसका एक परदेशी ने मुक्तकंठ से गुणगान किया है!

इस पुण्यमयी भारतभूमि को ग्रामधर्म के पालन द्वारा फिर से उन्नत बनाने का उत्तरदायित्व उसकी सन्तान पर आ पड़ा है।

ऊपर जिस ग्राम्य व्यवस्था का उल्लेख किया गया है, वह जिस दिन भारत में, उसके ग्रामनायकों द्वारा प्रचलित की जायेगी उसी दिन भारत में फिर से आनन्द मंगल की हवा चारों ओर फैल जायेगी और शान्ति का साम्राज्य स्थापित होगा भारतवर्ष के शुभचिन्तकों का यही मन्तव्य है।

2
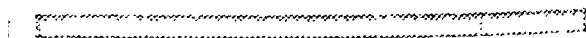
नगरस्थविर–नगरनायक

(नगरथेरा)

नगर स्थविर के नगरोद्धार के कार्य में नागरिक जन जन अगर सहृदय सहयोग प्रदान करें तो सच्ची नागरिकता का, जो मानव–जीवन को विकसित करने के लिए आवश्यक है, विकास हो सकता है, नागरिकता धर्मसंस्कृति का पोषण करती है।

जो विशिष्ट पुरुष नगर की आन्तरिक तथा बाह्य सुव्यवस्था करता है वह नगरस्थिविर या नगरनायक कहलाता है।

ग्रामस्थविर और नगर स्थविर में इतना अन्तर है कि ग्राम स्थविर ग्राम की अर्थात् छोटे–से जनसमूह की व्यवस्था करता है, जबकि नगरस्थविर नगर की अर्थात् बड़े जन समूह की व्यवस्था करता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी अधिकार मर्यादा के अनुसार कार्य आरम्भ करता है और उसे पार उतारता है। अधिकार मर्यादा का उल्लंघन करने वाला कार्य में सफलता नहीं पाता।

ग्राम स्थविर ग्राम की मर्यादा में रहता हुआ ग्राम के अभ्युदय के लिए कार्य करता है। ग्रामस्थविर अगर ग्राम के अभ्युदय का कार्य आरम्भ करके नगर का उद्धार करने चल पड़े तो वह दोनों में से एक भी कार्य सम्पन्न न कर सकेगा। अतएव यह आवश्यक है कि ग्रामस्थविर अपनी ही मर्यादा में रहकर ग्राम–सुधार का कार्य करे और नगर स्थविर नगर की सुव्यवस्था की ही ओर ध्यान दे। बड़े जन समूह की व्यवस्था नागरिक ही कर सकते हैं, ग्रामजनों द्वारा नागरिकों का नियंत्रण नहीं किया जा सकता।

नगरस्थविर राज्य और प्रजा के बीच का प्रधान पुरुष होता है। राज्य से प्रजा की और प्रजा से राज्य की किसी प्रकार की हानि न पहुंचने देने की

जिम्मेदारी नगर स्थविर की है। इस जिम्मेदारी को भलीभांति निभाने वाला पुरुष ही नगरस्थविर के पद की शोभा बढ़ा सकता है।

नगर–प्रजा की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति सुधारने में जो भी बाधक कारण हों, उन्हें दूर करके विकास के साधन पूरी तरह प्रस्तुत करना नगरनायक का प्रधान कर्त्तव्य है।

नगर–जनों की शारीरिक स्थिति सुधारने के लिए जगह–जगह व्यायामशालाएं स्थापित करना, स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों का पालन कराना, प्राकृतिक आवश्यकताओं के लिए योग्य व्यवस्था करना, घर–घर पानी पहुंचाने का समुचित प्रबन्ध करना, नहाने और धाने की अलग–अलग व्यवस्था करना इत्यादि शारीरिक स्थिति सुधार सम्बन्धी प्रबन्ध करना नगरनायक का कर्त्तव्य होता है।

नागरिकों की वाचनिक उन्नति के लिए सभागृह स्थापित करना, सभागृहों में विद्वान वक्ताओं के भाषणों की व्यवस्था करना। बालक, नवयुवक, बालिकाएं और कुमारिकाएं जिनमें स्वतंत्रता पूर्वक भाग ले सकें ऐसे समारम्भों की स्थापना करना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है।

नगरवासियों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिए बालशाला; कुमारशाला, किशोरशाला, प्राथमिकशाला, माध्यमिक शाला, महाविद्यालय, विद्यालय, विश्वविद्यालय आदि यथावश्यक शिक्षा संस्थाएं स्थापित करना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि इन संस्थाओं में केवल तोता रटन न हो। यहां जो भी शिक्षा दी जाय वह हृदयस्पर्शी हो, जीवन में ओत–प्रोत हो जाय। साथ ही संस्कृति के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य हो। वह परमुखापेक्षी न बनावे। मनुष्य को स्वावलम्बी बनाने वाली शिक्षा की ओर खूब ध्यान दिया जाय। इसके लिए उद्योग और कला कौशल सिखाने की व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रकार शिक्षण की समुचित व्यवस्था करके नागरिक जीवन को विकसित करने का प्रयत्न करना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है।

अगर कोई नागरिक अर्थसंकट के कारण दुःखमय जीवन व्यतीत करता है और उसकी सर्जन–शक्ति किसी भी कार्य में प्रयुक्त नहीं हो रही है तो नगरनायक का यह काम होगा कि वह उसकी सर्जनायोग्यता दूर कर दे। नगर में बेकारी की जरा भी गुंजाइश न रहने दे।

नगर के नागरिकों को व्यापार में जो दिक्कतें आती हों उन्हें दूर करना और नगर का व्यापार तथा नागरिको की समृद्धि बढ़ाने के लिए सतत प्रयत्न करना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है।
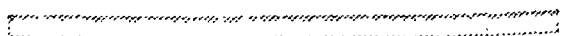
नागरिक प्रजा बेहूदे रीति–रिवाजों से उकता गई हो और वे रीति–रिवाज सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव डाल रहे हों तो उन्हें त्याग देने और समाजसुधार के पथ पर चलने के लिए उत्साहित करना, यथोचित सहयोग देना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है।

इन सब कर्त्तव्यों के अतिरिक्त प्रजा की धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रवृत्ति में समभाव पूर्वक सक्रिय भाग लेना और उसे सत्पथ की ओर ले जाने के लिए उसका नेतृत्त्व करना भी नगरनायक का ही कर्त्तव्य है।

जब नगरनायक इस प्रकार शुभ निष्ठा और प्रामाणिकता के साथ नगरोद्धार का कार्य करता है, तब नागरिक जनता पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इस प्रकार नगरनायक अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा द्वारा नगर–जनों का हृदय जीत लेता है और नगरजन नगरनायक का आदेश उठाने को सदा तत्पर रहते हैं।

नागरिक जनता का एकमात्र प्रतिनिधि नगरनायक हो सकता है। नगरनायक की आवाज सारे नगर की आवाज है। आजकल नगरनायक को 'मेयर' (या म्युनिसिपल कमिश्नर) कहते हैं। शास्त्रकारों ने उसे 'नगरस्थविर' कहा है। अगर नगरनायक नगरजनों को सुख शांति पहुंचाने का प्रयास करे और नगर के हित को ही प्रथम स्थान दे तो ही उसे वास्तव में मेयरपद या नगरस्थविर पद दिया जा सकता है। आज अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मेयर पद चाहने वालों की कमी नहीं है, पर सच्ची भावना से प्रेरित होकर उस पद को सुशोभित करने वाले कितने निकलेंगे? नगर स्थविर का उत्तरदायित्व कितना अधिक है, यह बात एक ऐतिहासिक उदाहरण से सहज ही समझी जा सकती है।

सं. 1905 की बात है। उस समय उदयपुर के महारणा स्वरूपसिंहजी थे। उन्होने एक बार नगर सेठ प्रेमचन्दजी को अपने पास बुलाया। उन्होंने अपने नगर के इस प्रतिष्ठित पुरुष का सम्मान करने के लिए पांच हजार रुपये की जागीर उन्हें देने की इच्छा प्रकट की। नगर सेठ ने महाराणा से निवेदन किया– 'महाराणा साहब, आपकी कद्रदानी के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूं, पर जागीर स्वीकार करते मन सकुचाता है। ऐसा करने से मेरे नगरधर्म को खतरा है। अगर मैं जागीर स्वीकार कर लूं तो प्रजा के विरुद्ध राज्य की प्रत्येक आज्ञा मुझे शिरोधार्य करनी होगी। उस अवस्था में प्रजा का दुःख दर्द दूर करके नगर के प्रति मैं अपना कर्त्तव्य भलीभांति अदा न कर सकूंगा। अतएव मैं अगर जागीर स्वीकार नहीं कर सकता तो मुझे क्षमा प्रदान कीजिए।

महाराणा स्वरूपसिंह नगरसेठ का प्रजाप्रेम देख अत्यन्त आनन्दित हुए। उस दिन से वे सेठजी को सच्चा नगर सेवक और राज्यभक्त पुरुष मानने लगे।

महाराणा स्वरूपसिंह के वाद सम्वत् 1910 में महाराणा शम्भूसिंहजी गद्दी पर बैठे। उनके समय में राज्य भार एजेन्ट के हाथ में था। राज्य व्यवस्था ठीक न होने के कारण प्रजा को वहुत सी तकलीफें सहनी पड़ती थीं। प्रजा दुःख सहते–सहते उकता गई थी। अन्त में प्रजा नगर सेठ चम्पालालजी के पास आई और तकलीफें दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाने की प्रेरणा करने लगी। नगर सेठ महाराणा के पास पहुंचे और प्रजा का कष्ट निवारण करने की प्रार्थना की। महाराणा ने उत्तर में एजेन्ट के पास जाकर सारी वात कहने का आदेश दिया। नगरसेठ पंचों को साथ लेकर एजेन्ट के वंगले पर जाने को तैयार हुए पर वहां कुछ स्वार्थी लोगों ने एजेन्ट के कान भर दिये, कहा– साहव, प्रजा संगठन करके आपके ऊपर हमला करने चढ़ी आ रही है।

एजेन्ट ने अपने कम्रचारियों की वात सुनी तो आग ववूला हो गया। उसने अपनी रक्षा के लिए तोपखाना तैयार करने का हुक्म दिया। इधर नगरजनों ने तोपखाना तैयार करने का समाचार सुना तो वे भी घवराहट में पड़ गये। उन्होंने नगर में सम्पूर्ण हड़ताल कर दी। नागरिक लोग उदयपुर की 'सहेलियों की वाड़ी'❁ में जमा हुए। नगरसेठ ने सवको शांत और संगठित रहकर स्थिति का मुकावला करने की सलाह दी। सभी ने एक स्वर में नगर सेठ की सलाह स्वीकार की।

उन्हीं दिनों उदयपुर नगर में एक वैल मर गया। मरे वैल को उठा ले जाने के लिए ढेढ़ लोगों को वुलाया। पर उन्होंने साफ उत्तर दिया कि नगरसेठ की आज्ञा विना हम लोग हर्गिज काम न करेंगे। राज्य कर्मचारी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे। कर्मचारी नगर सेठ के पास पहुंचे और मरे वैल को उठा ले जाने की, ढेढ़ लोगों को आज्ञा देने को कहा। नगरसेठ उदारचित थे। वे पिघल गये। उनकी आज्ञा पाकर मरे वैल को उठाया और वाहर ले गये।

❁ उदयपुर में 'सहेलियों की वाड़ी' नामक एक सुन्दर उद्यान है। उदयपुर का सौंदर्य वढ़ाने में इस उद्यान का भी वड़ा भाग है किसी समय महारानी अपनी सखी–सहेलियो के साथ वायु सेवन के लिए इस उद्यान में आया करती थी। इसीसे उसका उक्त नाम मशहूर हो गया है।

नगरसेठ का समस्त प्रजा पर पूरा-पूरा प्रभाव था। नगर जन खूब संगठित थे। उधर एजेन्ट साहब अपने निश्चय पर दृढ़ रहे, इधर नगरसेठ अपने निश्चय पर सुदृढ़ रहे। कोई किसी के सामने झुकने को तैयारन हुआ। एजेन्ट का दुराग्रह देख नगर सेठ मोटेगांव (गोगुन्दा) नामक गांव में चले गये। नगरसेठ का नगर छोड़ जाना साधारण बात न थी। एजेन्ट को यह मालूम हुआ। उसे यह भी मालूम हुआ कि नगरसेठ के पीछे और प्रतिष्ठित लोग भी हिजरत कर जायेंगे। अतएव एजेन्ट कुछ नम्र हुआ। नगररोठ को अपने पास बुलवाया और नगर छोड़ने का कारण पूछा। नगरसेठ ने नागरिका प्रजा की कष्ट कथा कह सुनाई। एजेन्ट साहब ने शांत चित्त से नगरसेठ की बातें सुनी। अन्त में उसने प्रजा का कष्ट निवारण करने का आश्वासन दिया और नगरसेठ को नगर न छोड़ने का आग्रह किया।

सेठ चम्पालालजी और सेठ प्रेमचन्दजी सच्चे दिल से प्रजा की भलाई चाहते थे। इसलिए प्रजा भी उन्हें अपना हितैषी प्रतिनिधि मानती थी। सच्चा नगरपति अपनी सुख सुविधाओं को लात मारकर प्रजा के कष्ट निवारण करने का उद्योग करता है। प्रजा का सुख-दुःख ही उसका सुख दुःख होता है। वह अपना अस्तित्व प्रजा के अस्तित्व में समाविष्ट कर लेता है। सेठ चम्पालालजी और प्रेमचन्दजी ऐसे ही नगरपति थे। इस कारण प्रजा उनके आदेश को मान्य समझती थी।

ऊपर हम देख चुके हैं कि नगरजनों के हित के लिए नगर-स्थविर को अपना कितना समय और कितनी शक्ति का त्याग करना पड़ता है।

जिस नगर में ऐसे प्रजावत्सल और सत्याग्रहशील नगरस्थविर बसते है उस नगर में अत्याचार, अनाचार, लूटमार, चोरी डकैती आदि बुराइयां नहीं घुस पातीं। वहां सदाचार, स्नेह, सद्भाव, संगठन आदि सद्गुणों की हवा चहुंओर बहती है।

नगरस्थविर का पद राजा की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व का है। राजा अपनी सत्ता के बल से प्रजा पर शासन करता है, पर नगरस्थविर शुद्ध प्रेमभाव से प्रजा पर पूरा काबू रखता है और यह कौन नहीं जानता कि प्रेम के अभाव के आगे सत्ता का उन्माद निरर्थक साबित होता है। राजा कितना ही बलवान क्यों न हो, नगरस्थविरों के प्रेमभाव के आगे उसे झुकना ही पड़ता है, क्योंकि उसमें प्रजा की संगठन शक्ति केन्द्रित होती है।

नगरस्थविर राजा और प्रजा के बीच का प्रतिनिध है। नगरपति राजा का गुलाम नहीं है और प्रजा का अंधभक्त भी नहीं है। वह सत्य और न्याय

का उपासक है। राजा अन्याय करता हो तो उसे रोकना और प्रजा निष्कारण राजद्रोह करती हो तो उसे समझाकर शांत करना, यह नगरस्थविर का कार्य है। राजा और प्रजा दोनों के प्रति नगरस्थविर का इतना अधिक सद्भाव होता है मानो वह इनका दास है, फिर भी वह सबका स्वामी है। इस प्रकार नगरनायक प्रजा का सेवक है और सच्चा सेवक होने के कारण सेव्य भी है।

कोई भी राज्य केवल अधिकार के बल से नहीं निभ सकता, राज्य की दृढ़ता प्रजा के सहयोग पर निर्भर करती है। ग्राम स्थविर और नगरस्थविर राजा और प्रजा के बीच स्नेह सम्बन्ध स्थापित करता है और इसलिए उसी पर नगर एवं ग्राम की सुख–शान्ति अवलम्बित है।

जिस नगर में पारस्परिक स्नेह–सद्भाव और सहकार, सहानुभूति नहीं होगी उस नगर का उद्धार होना बहुत कठिन है। जिस नगर के निवासी अपने पड़ोसियों के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं, हमें उनसे क्या प्रयोजन! जो करेगा सो भरेगा। हम क्यों किसी के बीच में कूदें? इस प्रकार सोचकर अपने पड़ोसियों को सहयोग नहीं देते व नगर के अधःपतन में कारण बनते हैं।

मानव हृदय ही ऐसा है जो किसी का दुःख–दर्द देखकर एकदम दुखित हो जाता है। यह हृदय की नैसर्गिक वृत्ति है। ऐसी अवस्था में अगर एक पुरुष अपने दूसरे नागरिक भाई को सहयोग नहीं देता– उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त नहीं करता तो समझना चाहिए, उसका हृदय गुम गया है– उसमें मानवीय हृदय नहीं है, वह मनुष्य की आकृति में पशुवत् आचरण कर रहा है।

एक अन्धा आदमी गढ्ढे में गिर रहा है। उसके पास तेज आंखों वाला दूसरा पुरुष खड़ा–खड़ा देखता है। वह अन्धा चाहे मरे चाहे जीये, यह सोचकर अन्धे को गिरने से रोकने की चेष्टा नहीं करता। तो इन दोनों में बड़ा और सच्चा अन्धा कौन है? इस प्रश्न का एक स्वर से यही उत्तर मिलेगा कि सूझता कहलाने वाला पर अन्धे को गड्ढे में गिरने से न बचाने वाला ही दरअसल बड़ा अन्धा है।

मित्रों! हम सब मनुष्य हैं। मनुष्य की विशिष्टता उसकी विवेक–बुद्धि पर निर्भर है। विवेक बुद्धि धारण करने वाले मनुष्य में इतनी निर्दयता कहां से आ गई है कि अन्धा आदमी गड्ढे में गिरता है और सूझता मनुष्य उसे बचाता नहीं! सच्चाई यह है कि आज अधिकांश मनुष्यों में मनुष्यता, रह ही नहीं गई है। 'हमें क्या?' इस प्रकार का उपेक्षा भाव सच्चे मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो नहीं सकता। परस्पर सहयोग करना, एक–दूसरे की सहायता

से भी नगर में रहने का अधिकारी नहीं है। फिर नगरस्थविर का गौरवमय पद तो प्राप्त ही कैसे कर सकता है? निम्नलिखित शास्त्रीय दृष्टान्त से यह बात भलीभांति समझी जा सकती है।

उपासक दशांक नामक सूत्र में एक सच्चे नगरस्थविर का वर्णन मिलता है। इसका नाम आनन्द गाथापति था। आनन्द गाथापति का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया गया है–

से णं आनंदे गाहाव णहूब ईराईसर जाव सत्थवाहाणं बहुसु वज्जेसु य करणेसु य मंतेसु य कुटुम्बेसु या गुज्झेसु य सहस्सेसु य निच्छएसु य यवहारेसु य आपुछणिज्जे, पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सावि य णं कुटुंवस्सा मेढी, पमाण, आहारे, आलम्बर्ण, चक्खू, मेढीभूए, जाव साव्कज्जबट्टवए याविहोत्था।

–उपासकदशांग सूत्र प्र. अ.

अर्थात्– आनन्द गाथापति बड़े–बड़े राजाओं से लेकर सामान्य सार्थवाहो के महत्वपूर्ण कार्यो में, कारणों में, सलाह करने में, मंत्रणा करने में तथा कुटुम्ब सम्बन्धी गुप्त कार्यो में विचार विनिमय करने में एक बार और बारम्बार पूछने योग्य था। आनन्द गाथापति अनेक कुटुम्बों का पोषक, आधार, अवलम्ब, चक्षु और कोल्हू के बीच के स्तम्भ के समान मुख्य था। आनन्द श्रावक नगर की प्रत्येक प्रवृत्ति में अग्रस्थान भोगता था।

यहां शास्त्रकार ने आनन्दगाथापति को जिन मेढीभूत, प्रमाणभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत, चक्षुभूत आदि विशेषणों से सराहा है वह विशेषण एक सच्चे नगरपति की शोभा बढ़ाने वाले हैं। नगरपति को किस प्रकार नागरिकों की रक्षा करनी चाहिए, किस प्रकार नागरिकों का विश्वास प्राप्त करना चाहिए, यह बात इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

मेढी उस स्तम्भ को कहते हैं जिसके आसपास–चारों ओर बैल चक्कर लगाते हैं। समस्त नगर निवासी आनन्द के सहारे ही अपनी प्रवृति करते थे। वह समस्त नगर का प्रधान पुरुष था। वह नगर निवासियों को अपना कुटुम्बी मानकर पालता और उनके सुख का सच्चा मार्ग बतलाता था।

आनन्द गाथापति 'प्रमाणभूत' था– अर्थात् वह अपने प्रामाणिक जीवन के आदर्श से दूसरो को प्रामाणिक बनाता था। जीवन अप्रामाणिक प्रवृति में किस प्रकार विशाक्त और प्रामाणिक प्रवृति से कितना सुखमय बन
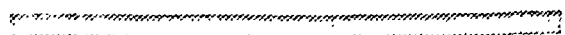
जाता है, यह बात नागरिको को समझाता था और सुख के मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता था। जो स्वयं प्रामाणिक है वही दूसरों को प्रामाणिक वना सकता है। अतएव आनन्द गाथापति सच्चा आदर्श एवं प्रामाणिक पुरुष था।

आनन्द गाथापति 'आधारभूत' था अर्थात् जैसे राजा नगर का मुख्य आधार होता है उसी प्रकार आनन्द गाथापति भी नगर–निवासियों का रक्षक होने के कारण आधारभूत था। अथवा आनन्द गाथापति आहारभूत था– गरीब नागरिको को अन्न दान देकर अपने भाइयों की सेवा बजाता था जैसे अन्न से प्राण की रक्षा होती है, उसी प्रकार आनन्द द्वारा प्रजा की रक्षा होती थी।

आनन्द गाथापति 'आलम्बन' था। अर्थात् वह अन्धे की लकड़ी था– क्या राजा, क्या प्रजा, सभी के लिए वह आलम्बन भूत था।

आनन्द 'चक्षुभूत' था। जैसे चक्षु समस्त अंगों में प्रधान अंग है उसी प्रकार आनन्द सारे नगर में प्रधान था। वह ज्ञानचक्षु से ही हीन पुरुषों को ज्ञान–चक्षु देता था, भूले–भटके पथभ्रष्ट जनों को सन्मार्ग प्रदर्शित करता था। इसी प्रकार वह चक्षु के समान था।

जब आनन्द गाथापति अपनी सत्यवृत्ति से राजा और प्रजा के लिए मेढीभूत, प्रमाणभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत और चक्षुभूत बना तभी वह बड़े–बड़े राजा, रईसों से लेकर साधारण जनता के अनेक कार्यों में, अनेक कारणों में अनेक गूढ़ समस्याएं हल करने में, निश्चय करने में, व्यवहारिक कार्य करने में एक बार पूछने योग्य ही नहीं वरन् अनेक बार पूछने योग्य बना। इस योग्य बना। इस उल्लेख से स्पष्ट जान पड़ता है कि आनन्द ने नगरपति की योग्यता प्राप्त करने के लिए कितने सद्‌गुण प्राप्त किये थे।

शास्त्रकार का कथन है कि आनन्द ने चौदह वर्ष तक श्रावक के व्रत पालन किये और इतने समय तक वह नगरस्थविर का उत्तरदायित्व संभाले रहा। इसके बाद वह जब वृद्ध हो गया, निर्बलता आ गई और नगरपति का कर्तव्य बजाने योग्य शरीर सम्पत्ति उसकी न रह गई तब उसने नागरिकों को आमंत्रित करके उनके समक्ष अपने पुत्र को वह भार सौंपा। यह कर्त्तव्यभार वहन करने के लिए उसने पुत्र को शिक्षा दी और नागरिकों से निवेदन किया– आज तक जिन–जिन बातों के लिए अव आप मेरे पुत्र से सलाह करना। आज से मै इस उत्तरदायित्व से मुक्त होता हूं। इस प्रकार नगर के और साथ

ही अपने घर के सब काम–काज छोड़कर आनन्द जीवन–शुद्धि के लिए आध्यात्मिक साधना में मग्न हो गया और आत्मकल्याण की प्रवृत्ति करने लगा।

आनन्द गाथापति सरीखे सच्चे नगरपति जिस नगर को प्राप्त होते हैं वह नगर धन्य है। उसका अभ्युदय हुए बिना नहीं रहता।

नगर, ग्राम की अपेक्षा काफी बड़ा होता है। अतएव अकेला नगरस्थविर पूरी तरह सारे नगर की सार–सम्भाल नहीं कर सकता। उसे सहायकों की आवश्यकता होती है। नगरस्थविर को सहायता देने के लिए नगर के विभिन्न भागों के नगर व्यवस्थापक अलग हों तो कार्य सरलता से और अच्छे प्रकार से हो सकता है। आजकल नगरों में भी स्थविर अर्थात् 'मेयर' या म्युनिसिपल कमिश्नर होते हैं। मगर सुना गया है कि उससे नगरवासियों को पर्याप्त लाभ नहीं पहुंचता। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि बड़े–बड़े नगरों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि वहां आये दिन तरह–तरह के अत्याचार, अनाचार, चोरी, व्याभिचार आदि दुष्कर्म प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं। इससे नगर निवासयों को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। यह 'मेयर' या म्युनिसिपल कमिश्नर इन कुप्रवृत्तियों को बन्द करने की कुछ भी चेष्टा नहीं करते और उनका कार्य–क्षेत्र प्रायः इतना संकुचित होता है कि वे ऐसी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए हस्तक्षेप भी नहीं कर सकते। इनका मुख्य कार्य नगर को स्वच्छ रखना है। मगर वह भी पूरी तरह उनसे नहीं होता और आजकल के नगरों में मलेरिया, प्लेग आदि भयंकर रोग घर बनाये रहते हैं।

आज के अधिकांश नगरस्थविर अपनी प्रतिष्ठा–वृद्धि के लिए ही इस पद पर चिपटे रहते हैं। उनमें सच्ची सेवा भावना का अभाव होता है। यही कारण है कि आज नगर–धर्म लुप्त प्राय हो रहा है और नागरिकों का जीवन विकृत बन गया है।

ग्राम नायक की अपेक्षा नगरनायक का उत्तरदायित्व अधिक है क्योंकि नगर राष्ट्रदेह का मस्तिष्क है। जबकि ग्राम हाथपैर के समान है। मस्तिष्क का प्रभाव समूचे शरीर पर पड़े बिना नहीं रहता।

किसी प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ में 'संथागार' में, जिसे आजकल अंग्रेजी भाषा में टाउन हॉल कहते हैं होने वाली संघ की सभाओं का स्वतंत्रता पूर्वक निर्भयता के साथ परन्तु संयम और विवेक से परिपूर्ण होने वाली चर्चाओं का और उसमें सम्मिलित होने वाले नागरिको के उल्लास का वृतांत पढ़ो तो विश्वास हुए बिना न रहेगा कि उस युग में, जिसे साधारणतया जैनयुग कहा

जाता है, नगर धर्म अपनी अंतिम कोटि तक पहुंच गया था। प्राचीन ग्रंथों में इस सम्बन्ध के बिखरे उल्लेख जहां तहां मिलते हैं।

धर्म या आत्महित के अर्थ सर्वस्व का उत्सर्ग करना अपने साहित्य और इतिहास का प्रधानस्वर है ही, मगर सच्चे नागरिक की हैसियत से अपने कर्त्तव्य का पालन करने में हमारे पूर्वजों ने जो बलिदान किये हैं उनकी किसी भी समुन्नत, सुसंस्कृत और स्वतंत्र देश के साथ साभिमान तुलना की जा सकती है। यह ग्रामधर्म और नगरधर्म कब शिथिल हुए और किस प्रकार अन्त में वे शास्त्रों के पृष्ठों पर ही सुशोभित रह गये, यह हमें नहीं मालूम, मगर सच्चा नगर धर्म क्या है और नगर धर्म की रक्षा के लिए नगर नायक को कितना त्याग करना पड़ता है, यह बात आज भी हम जानते हैं और नीचे लिखे उदाहरण से वह स्पष्ट हो जाती है।

वैशाली नगरी में महामाहन नामक नगरनायक था वह राजा और प्रजा दोनों का प्रेम पात्र था। महामाहन राजा और प्रजा के पारस्परिक स्नेह बन्धन को सदैव मजबूत रखने का प्रयत्न करता था। उसके नेतृत्व में वैशाली की प्रजा आनन्दपूर्वक रहती थी। उसकी कार्य प्रणाली से सभी को संतोष था। वह नगर नायक के उत्तरदायित्व को भलीभांति जानता था। नगर धर्म उसके लिए अपने प्राणों से भी अधिक मूल्यवान था। वह नगरधर्म की रक्षा में अपनी और प्रजा की रक्षा मानता और नगरधर्म के विनाश में अपना और प्रजा का विनाश समझता था। एक बार उनकी कसौटी का दिन आ पहुंचा। महामाहन के नगर पर किसी दुश्मन ने चढ़ाई की। उसने नगर की स्त्रियों को, बालकों को और बूढ़ों को क्रूरता के साथ सताना आरम्भ किया। महामाहन उस समय वृद्धावस्था में था। वृद्धावस्था के कारण उसका हाड पिंजर शरीर जीर्ण–शीर्ण हो गया था। पांच कदम चलने की भी शक्ति उसमें न रह गई थी। इस प्रकार वृद्ध महामाहन नगर स्थविर की हैसियत से अपने जीवन का कर्त्तव्य बजाने आगे आया। उसकी आत्मा तिलमिला उठी। वह बिस्तर पर पड़ा न रह सका। किसी प्रकार धीरे–धीरे चलकर वह दुश्मनों के बीच आया और ललकार कर बोला– सावधान, छल–कपट से तुम्हें यह सफलता मिल गई है। नगर में लूट मचाने से तुम्हें कोई रोक नहीं सकता, मगर इस नगर की एक भी स्त्री पर, बालक पर या वृद्ध पर अत्याचार न करने की व्यवस्था तुम्हें करनी होगी। लुटेरा राजा बूढ़े की बात अनसुनी कर देता है। बूढ़ा महामाहन जलते हुए हृदय से फिर–फिर नागरिकों की जीवनरक्षा के लिए आवेदन करता है। मगर दगाबाज दुश्मन पर उसका कुछ भी असर नहीं

होता। वह सिर्फ इतना स्वीकार करता है– 'तुम मेरी माता के पाठक हो, मैं तुम्हारा अधिकार स्वीकार करता हूं, मगर उसकी सीमा यही है कि तुम अपने कुटुम्ब सहित सही–सलामती रहो। विश्वास रखो, तुम्हारा बाल बांका न होगा।'

महामाहन अकेले अपनी सही–सलामती नहीं चाहता था। वह नगरस्थविर की हैसियत से अपना कर्त्तव्य अदा करना चाहता था। जब नगर के हजारों स्त्री–पुरुष आर्तनाद कर रहे हों, तब अकेले अपने कुटुम्बको बचाने की उसकी इच्छा न थी। प्राणों से भी अधिक प्यारा नगरधर्म उसके अन्तर में क्षोभ पैदा कर रहा था। आक्रमणकारी राजा को उसने खूब समझाया, खूब प्रार्थना की। अन्त में राजा ने एक छूट दी। कहा–

महामाहन! इतनी छूट मैं दे सकता हूं। तुम पानी में डुबकी मारो और तुम्हारे ऊपर आने से पहले जितने नागरिक जितनी सम्पत्ति लेकर भाग जाना चाहें उतने भाग सकते हैं।

राजा की यह कठोर शर्त वृद्ध महामाहन बिना आगा–पीछे सोचे स्वीकार करने के लिए उद्यत हो गया।

महामाहन अपना अशक्त शरीर लिये नदी के पानी में उतरा उसने डुबकी मारी और पानी के नीचे तल–भाग पर पहुंच कर किसी पेड़ की जड़ से चिपट गया। मिनिट पर मिनिट और फिर घंटे पर घंटे समाप्त हो गये, मगर महामाहन ऊपर न आया। नगर के स्त्री–पुरुषों को अभयदान मिला। अन्त में खोज करने पर महामाहन का अचेतन शरीर नदी के तल में मिल सका। वृक्ष की जड़ के साथ उसके हाथ–पैर नागपाश की भांति जकड़े हुए थे। नगर की रक्षा के लिए वृद्ध महामाहन ने अपना शरीर त्याग दिया था।

जैनयुग के नगरधर्म के सम्बन्ध में महामाहन का यह एक ही उदाहरण बस है। माहमाहन का जीवन ही नगरधर्म पर जीवित भाष्य है। जहां इतना मंहगा मोल चुकाकर धर्म और ग्राम धर्म का पालन किया जाता है, वहां समृद्धि और स्वतन्त्रता का देव–दुर्लभ दृश्य दिखाई पड़े तो इसमें अचरज की बात ही क्या है?

यहां इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन धर्मों को किसी ने पारलौकिक धर्म के अर्थ में प्ररूपित नहीं किया है। यह लौकिक धर्म हैं और लौकिक सुख तथा कल्याण के लिए ही इनका उपयोग किया जाता था। फिर भी यह स्पष्ट है और निर्विवाद है कि जहां ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, कुलधर्म, गणधर्म तथा संघधर्म विनष्ट हो जाता है, वहां सूत्रधर्म एवं चारित्रधर्म–जो पारलौकिक धर्म
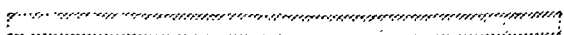
हैं, खतरे में पड़े बिना नहीं रहते। सामान्य बुद्धि से भी यह बात समझी जा सकती है।

आज अगर कोई यह समझता है कि–सच्चा जैन ग्राम, नगर, राष्ट्र से एकदम अलिप्त रहता है, उसके लिए धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु महत्त्व की नहीं है, तो मानना चाहिए कि यह नगर धर्म की निरी अवगणना है–धर्म के मूल पर कुठाराघात है।

ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म अपने ऐतिहासिक भण्डार की अमूल्य धर्मसम्पत्ति है। आज दरिद्रता के युग में उसका प्रदर्शन करना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है।

नगरनायक की योग्यता कैसी होनी चाहिए, इस बात को समझने के लिए आनन्द गाथापति और महामाहन गाथापति को आदर्श बनाया जा सकता है। इन आदर्शों पर चलते हुए, नगर–नायकों के नगरोद्धार के कार्यों में नागरिक अगर पूरा भाग लें तो नागरिकता का जो मानव जीवन को विकसित करने का एक महागुण है, विकास हो सकता है। नागरिकता से धर्म संस्कृति का पोषण होता है। नगरधर्म का पालन करके धर्मसंस्कृति को समुन्नत बनाना प्रत्येक नागरिक का परम कर्त्तव्य है।

नगरधर्म की महत्ता समझकर, जब नागरिकता का गुण प्रकट किया जायेगा तब ग्रामोद्धार, नगरोद्धार और राष्ट्रोद्धार के साथ ही साथ जैनधर्म का भी उद्धार होगा और जैनधर्म के उद्धार के साथ विश्वशन्ति का भी उदय होगा।

3

राष्ट्रस्थविर–राष्ट्रपति

(रट्ठथेरा)

जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का त्याग कर, अपने प्राण भी राष्ट्र के पुनीत चरणों में अर्पण कर देता है वही व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण करके राष्ट्र के उत्थान का यश प्राप्त कर सकता है।

ग्राम और नगर के उद्धार में राष्ट्र का उद्धार है और उसके विनाश में राष्ट्र का विनाश सन्निहित है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र नगर से कोई अलग वस्तु नहीं है। ग्राम और नगर मिलकर ही राष्ट्र कहलाते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि ग्रामों और नगरों की समृद्धि पर ही राष्ट्र की समृद्धि निर्भर है। ग्राम और नगर का उत्थान एवं पतन ग्रामनायक और नगरनायक के हाथ में है। ग्रामनायक और नगरनायक अगर बुद्धिमान, शक्तिशाली और प्रभावशाली हों और अपनी समूची शक्ति का उपयोग ग्रामोद्धार एवं नगरोद्धार के लिए करें तो राष्ट्रपति का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होने पर भी सुगम और प्रशस्त बन जाता है।

अनेक ग्रामों के सम्बन्ध से नगर बनता है और अनेक नगरों का समूह एक प्रांत कहलाता है। एक राष्ट्र में अनेक प्रान्त होते हैं। उन प्रांतों में वेशभूषा, बोलचाल, खानपान, रीतिरिवाज आदि की भिन्नता भले हो, पर वे सब एक राष्ट्रधर्म के बन्धन में बन्धे होते हैं। समस्त प्रांत एक ही धर्म–ध्वज की छत्र–छाया में बसे हुए हैं। इस प्रकार के राष्ट्रधर्म का मान राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिए। राष्ट्रपति के अनेक कर्त्तव्यों में से एक प्रधान कर्त्तव्य यह भी है कि राष्ट्रपति जनसमाज में एक राष्ट्रधर्म की भावना उत्पन्न करे। और राष्ट्रधर्म की रक्षा के लिए आत्मसमर्पण की शक्ति उत्पन्न करे। वही राष्ट्रपति राष्ट्रोद्धार के महत्वपूर्ण कार्य में सफलता प्राप्त करता है जो राष्ट्र के प्रत्येक निवासी में, अपने त्याग द्वारा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करता है

और राष्ट्रधर्म की मर्यादा का पालन करता है और दूसरों से कराता है और जो राष्ट्र के अभ्युदय के लिए तन–मन धन की परवाह किये बिना ही उसमें निरन्तर संलग्न रहता है। ऐसे महाशय व्यक्ति को शास्त्रकारों ने 'राष्ट्रस्थविर' शब्द से उल्लिखित किया है। उसके लिए आजकल 'राष्ट्रपति' शब्द व्यवहार किया जाता है। 'राष्ट्रपति' शब्द में स्वामित्व का भाव मौजूद है, जबकि 'राष्ट्रस्थविर' शब्द उसकी एक विशेषता को ही प्रकट करता है।

राष्ट्रस्थविर सम्पूर्ण राष्ट्र का एक मात्र प्रतिनिधि है। वह राष्ट्रदेह का हृदय है, राष्ट्र का सच्चा सेवक है, पाठक है, व्यवस्थापक है। राष्ट्रस्थविर के आदेश का पालन करना राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है। और प्रजा के सुख–दुख की चिंता करना प्रजा की सुख शांति के लिए, दुख निवारण के लिए फांसी पर चढ़ने तक की क्षमता होना, यह राष्ट्रस्थविर का कर्त्तव्य है। जिस देश की प्रजा राष्ट्रस्थविर की आज्ञा शिरोधार्य नहीं करती और जो राष्ट्रस्थविर प्रजा के राष्ट्रधर्म का अनादर करता है, उस राष्ट्र का उत्थान नहीं होता। इस प्रकार राष्ट्रोत्थान का कार्य राष्ट्रस्थविर और राष्ट्रीय प्रजा दोनों पर अवलम्बित है। जिस राष्ट्र में राष्ट्रस्थविर और प्रजा का सम्बन्ध स्नेहमयी आत्मीयता से युक्त होता है, समझना चाहिए वही राष्ट्र उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है।

राष्ट्रस्थविर कैसा होना चाहिए और उसका कर्त्तव्य क्या है? इस प्रश्न के समाधान के लिए इतिहास के पन्ने पलटने के बदले भारत हृदय के सम्राट महात्मा गांधी का प्रत्यक्ष उदाहरण अधिक सुगम होगा। गांधीजी के जीवन व्यवहार ने राष्ट्रस्थविर का स्वरूप समस्त संसार के समक्ष प्रकाशित कर दिया है। गांधीजी का जीवन–चरित्र बतलाता है कि राष्ट्रस्थविर को कितनी–कितनी मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं और उन मुसीबतों में से उसे किस प्रकार पार होना पड़ता है।

राष्ट्रस्थविर को राष्ट्र की पोशाक का, खानपान का और रीति–नीति का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता है। राष्ट्रस्थविर में अपने राष्ट्र के प्रति इतनी सद्भावना और इतनी ममता होती है कि वह स्वदेश के वातावरण के अनुसार ही भोजन पान आदि रखता है। विदेश की चमकीली–भड़कीली प्रतीत होने वाली पोशाक से या रीति रिवाजों से उसका मन लुभा नहीं जाता।

आज अनेक भारतीय लोगों ने राष्ट्रधर्म की उपेक्षा करके ऐसी रीति–नीति अपनाई है कि वे भारतवासी होते हुए भी आचार विचार से अंग्रेज बने रहते हैं। आश्चर्य है कि उन्हें राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय पोशाक और स्वदेशी

खान–पान तक पसन्द नहीं आता। ऐसे लोग अंग्रेजों का अन्ध अनुकरण करने में ही अपना गौरव और सौभाग्य समझते हैं। भले ही ऐसा करने में गौरव समझें और सौभाग्य मानें, पर वास्तविकता यह है कि उनका यह कृत्य राष्ट्र के लिए अपमान है, दुर्भाग्य है, शाप है, क्योंकि उससे भारतीय प्रजा में अपनी संस्कृति के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न होता है और उससे मानसिक गुलामी की श्रृंखला मजबूत होती है।

आज हमारे राष्ट्र में, राष्ट्रधर्म से विरुद्ध जो रीति–नीति उच्छृंखलता के साथ प्रचलित हो गई है उसका प्रधान कारण प्रजा के हृदय का दौर्बल्य है। अपने आपको समाज का नेता मानने वाले अनेक सज्जन परदेश जाते हैं और वहां राष्ट धर्म को भूलकर विदेशी रीति–रिवाजों को स्वीकार कर लौटते हैं और फिर उन्हें अपने देश में प्रचलित करते हैं। महात्मा गांधी की 'आत्मकथा' पढ़ने से समझा जा सकता है कि विदेश जाकर भी मनुष्य को अपने चरित्र की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए।

गांधीजी जब परदेश जाने लगे तो उनकी माताजी को भय हुआ कि मेरा लड़का मांस मदिरा का सेवन कर भ्रष्ट न हो जाय। इस भय से वे गांधीजी को बेचर स्वामी नामक एक काठियाबाड़ी साधुमार्गी जैन मुनि के पास ले गई। उन्होंने मुनि से कहा–'महाराज श्री! अगर यह परेदश में मांस मदिरा तथा परस्त्री का सेवन न करने की आपके समक्ष प्रतिज्ञा करे, तो मैं इसे परदेश जाने की आज्ञा दे सकती हूं। गांधीजी ने प्रतिज्ञाएं अंगीकार कीं और विलायत गये। वहां अनेक प्रलोभनों ने गांधीजी को अपनी प्रतिज्ञाओं से च्युत करना चाहा, परन्तु दृढ़–प्रतिज्ञ गांधीजी टस से मस न हुए । इसी दृढ़ता की बदौलत आज वे महात्मा बन सके हैं। अगर गांधी अपनी प्रतिज्ञाओं पर अटल न बने रहते तो, आज वे जिस कोटि पर पहुंच सके हैं, उस पर पहुंच पाते या नहीं, यह एक प्रश्न है।

जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का त्याग कर, अपने प्राण भी राष्ट्र के पुनीत चरणों में अर्पण कर देता है, वही व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण करके राष्ट्र के उत्थान का यश प्राप्त करता है। गांधीजी ने अपने आत्मभोग और त्यागभाव के द्वारा राष्ट्र का सुन्दर नेतृत्व किया है और 'राष्ट्रस्थविर' पद को सार्थक कर दिखाया है। उनका समग्र जीवन 'राष्ट्रस्थविर' पद की व्याख्या है।

कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि–'गांधीजी ने राष्ट्र का नेतृत्व स्वीकार कर हमारा क्या भला किया है? उन्होंने स्वराज्य के नाम पर लाखों
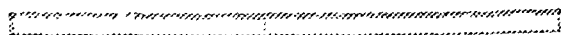
रुपये एकत्र किये, मगर उससे हमारी तनिक भी भलाई न हुई। इस दशा में उन्हें 'राष्ट्रस्थविर' कैसे कहा जा सकता है?'

ऐसा प्रश्न करने वाले से मैं पूछना चाहता हूं कि गांधी ने जो रकम इकट्ठी की, उसका उपयोग उन्होंने क्या व्यक्तिगत लाभ के लिए किया है? हर्गिज नहीं। इसी प्रकार गांधीजी पर व्यापार चौपट करने का अभियोग लगाना निराधार है। गांधीजी ने अपने जीवनमें, देश का व्यापार नष्ट करने के लिए, एक भी कदम नहीं बढ़ाया । उल्टे वे देश के व्यापार को समृद्ध बनाने का ही प्रयत्न करते आये हैं। उनका कथन किससे छिपा है कि अपने देश का माल ही उपभोग में लेना चाहिए। इसी में राष्ट्र का कल्याण है। अपने देश का कच्चा माल विदेश भेजकर, वहां उससे बना हुआ पक्का माल मंगाने का अर्थ है, अपनी एक रुपया की चीज विदेश भेजकर वही चीज अधिक कीमत चुकाकर खरीदना।

उदाहरणार्थ–एक रुपया की दो सेर रुई खरीद कर विदेश भेजना और विदेश में उस रुई में चर्बी लगाकर जो वस्त्र तैयार किये जाएं उन्हें दस रुपया देकर खरीदना। यह व्यापार नहीं लूट है। आज भारतवर्ष एक रुपया की चीज देकर फिर उसी को दस गुनी कीमत चुकाकर खरीद रहा है। इससे देश को आर्थिक हानि तो है ही, साथ ही धार्मिक हानि भी है।

स्वदेश अर्थात् अपना देश। अपने देश मे बनी हुई चीज स्वदेशी कहलाती है। कौन ऐसा देशद्रोही मनुष्य होगा जो अपने देश की बनी चीज न चाहता हो। स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना प्रत्येक स्वदेश प्रेमी का पवित्र कर्त्तव्य है। स्वदेश का उद्धार उसी दिन से आरम्भ होगा जिस दिन देशवासी स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना सीखेंगे।

अगर कोई मनुष्य खुद ही अपनी माता का अपमान करता है तो दूसरे लोग उसका अपमान करते क्यों हिचकेंगे? जब भारतवासी ही स्वदेशी वस्तुओं का तिरस्कार करके, विदेशी वस्तुओं को अपनाकर, भारत माता का अपमान करते है तो विदेशी लोग क्यों न उसका अपमान करें?

विदेशी लोगों में और चाहे जितने अवगुण हों, पर उन लोगों में स्वदेशप्रेम का जो सुन्दर गुण रहा हुआ है उसका प्रत्येक भारतीय को अनुकरण करना और अपने जीवन में उतारना चाहिए। स्वदेशप्रेम राष्ट्रीय जागृति का चिन्ह है। जिस देश के निवासियों में स्वदेशप्रेम नहीं है उस देश को जीवित नही, मुर्दा समझना चाहिए । अगर हमें राष्ट्र का हित करना है

तो स्वदेशी वस्तुओं को जल्दी से जल्दी अपनाना होगा। इसी में राष्ट्र का कल्याण है।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय वन्द हो जाये और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रचार हो जाये तो राष्ट्र के लाखों–करोड़ों गरीबों को, जिन्हें पहनने को वस्त्र और खाने को भरपेट अन्न नहीं मिलता, अन्न–वस्त्र मिल सकता है। इस प्रकार स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार से करोड़ों भारतीयों को सुख–शान्ति पहुंचाई जा सकती है। यह राष्ट्रस्थविरों का कथन है।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द होने से और स्वदेशी का प्रचार होने से बन्डल के बन्डल और गांठों की गांठें विदेशी माल मंगाने वाले कतिपय व्यापारियों को आर्थिक क्षति पहुंच सकती हैं, पर विचारशील राष्ट्रनायकों का कथन है कि एक ही साथ सभी को लाभ पहुंचे और हानि किसी को भी न हो यह दोनों राष्ट्रधर्म में शक्य हो सकती है। राष्ट्र–नेताओं के इस कथन पर विचार करने से यह बात बुद्धिगम्य और सत्य प्रतीत होती है। यही बात पहले भी कही जा चुकी है कि जो धर्म राष्ट्र के अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुंचाता है, वही राष्ट्रधर्म है। इस स्थिति में कोई भी स्वदेशी प्रेमी थोड़े से विदेशी वस्तुओं के व्यापारियों के लाभ के लिए करोड़ों आदमियों का अकल्याण कैसे सहन कर सकता है? विदेशी वस्तु के व्यापारी को स्वयं समझ लेना चाहिए कि–हमें अपने लाभ के लिए अपने करोड़ों देश–भाइयों की सुख–शान्ति लूटने का क्या अधिकार है? हम दूसरों के अन्न–वस्त्र को कैसे लात मार सकते हैं? व्यापारियों को भी अपने अन्य भाइयों के हित के लिए स्वार्थ त्याग करना चाहिए और गरीब भाइयों के दुःख में भागीदार बनना चाहिए। जो व्यक्ति सदा अपने ही स्वार्थ में तन्मय रहता है, राष्ट्रधर्म को भुला देता है और गांधीजी जैसे राष्ट्रहितैषी और सेवापरायण महात्मा पर अनुचित आक्षेप करता है। उसने अपने जीवन का ध्येय ही नहीं समझा है। हां, गांधीजी से किसी का किसी बात में मतभेद हो सकता है, पर राष्ट्रधर्म की दृष्टि से उनका राष्ट्रधर्म का आदर्श न मानना और उस आदर्श की उल्टी अवगणना करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। यह स्वदेशप्रेम भी नहीं है।

सुनते हैं, इसी भारतवर्ष में किसी समय एक रुपये के छः मन चावल और एक रुपये का तीस सेर घी मिलता था। तब कपड़े का क्या भाव होगा? दरअसल प्राचीन काल में भारतवर्ष धन सम्पदा से खूब भरपूर था।

प्राचीन काल में रुपये की खनखनाहट भले ही अधिक न सुनाई पड़ती हो, मगर उस समय देश धनसम्पन्न और धान्यसम्पन्न था। उस समय

आज की भांति भोजन मिलना कठिन न था। आज भारत न श्रीसम्पन्न है, न धान्यसम्पन्न ही। भारतवासियों ने अपने हाथों से आज विदेशी माल की कुल्हाड़ी से, भारत की जड़ काट डाली है। अगर हम उस कल्पवृक्ष के मधुर फल फिर चखना चाहते हैं तो विदेशी माल की कुल्हाड़ी हमें दूर फेंक देनी होगी और जिन हाथों से कल्पवृक्ष की जड़ काटी हैं उन्हीं हाथों द्वारा स्वदेशी माल के जल–सिंचन से उसे नवपल्लवित करना पड़ेगा। तब उस कल्पवृक्ष की शीतल छाया में अनेक श्रमजीवी अपने श्रम को हल्का कर सुख शान्ति का अनुभव करेंगे।

पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज का कथन था कि जिस समय अन्न–वस्त्र सस्ते और सोना–चांदी मँहगा हो वह पुण्यकाल और सोना–चांदी सस्ता तथा अन्नवस्त्र मँहगा हो वह पापकाल अर्थात् दुर्भाग्य का समय समझना चाहिए। क्योंकि सोने–चांदी से जीवन की कोई आवश्यकता पूर्ण नहीं होती, जबकि अन्न और वस्त्र जीवनधारण के लिये अनिवार्य हो गये हैं। समझना चाहिए कि जिस राष्ट्र में जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की, अन्न वस्त्र की पूर्ति हो रही है वह राष्ट्र प्रगति की ओर प्रयाण कर रहा है और जिस राष्ट्र में अन्न–वस्त्र की पूर्ति नहीं होती, वह अधः पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। राष्ट्र की उन्नति और अवनति को परखने के लिए यह कसौटी है। राष्ट्रोन्नति का द्वार खोलने की यह चाबी जब हमारे हाथ आ जाएगी तब समझ लीजिए–हमने भारत की उन्नति का मार्ग खोज निकाला है। इस समय राष्ट्रोन्नति का द्वार बन्द है। इस द्वार को खोलने के लिए अन्न–वस्त्र की आवश्यकता स्वयं पूर्ण करने के लिए चाबी की खोज करनी चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि ग्रामोद्धार और नगरोद्धार करने से ही राष्ट्र का उद्धार हो सकता है।

राष्ट्रनायकों के इस कथन में संशय की गुंजाइश नहीं है क्योंकि ग्राम ही अन्न और वस्त्र की उत्पत्ति का स्थान है और नगर अन्न–वस्त्र की व्यवस्था करने का स्थान है, जब ग्राम और नगर राष्ट्रदेह के हाथ पैर स्वस्थ एवं सबल हो जायेंगे तो राष्ट्रदेह उन्नतमस्तक होकर चल फिर सकेगा। हमें यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिये कि राष्ट्रोद्धार में अपने धर्म का उद्धार निहित है और राष्ट्र के अधःपतन का अपना और अपने धर्म का अधःपतन अवलंबित है इस सत्य को समझकर, इसके अनुसार बर्त्ताव करने से राष्ट्र का हित अवश्य होगा और साथ ही अपना तथा अपने धर्म का भी। अपना व्यक्तिगत स्वार्थ–भाव छोड़कर राष्ट्रोद्धार के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो राष्ट्र को सुखी बनाने का उपाय और उसके संबन्ध में अपना कर्त्तव्य स्वयं

तो स्वदेशी वस्तुओं को जल्दी से जल्दी अपनाना होगा। इसी में राष्ट्र का कल्याण है।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द हो जाये और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रचार हो जाये तो राष्ट्र के लाखों–करोड़ों गरीबों को, जिन्हें पहनने को वस्त्र और खाने को भरपेट अन्न नहीं मिलता, अन्न–वस्त्र मिल सकता है। इस प्रकार स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार से करोड़ों भारतीयों को सुख–शान्ति पहुंचाई जा सकती है। यह राष्ट्रस्थविरों का कथन है।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द होने से और स्वदेशी का प्रचार होने से वन्डल के बन्डल और गांठों की गांठें विदेशी माल मंगाने वाले कतिपय व्यापारियों को आर्थिक क्षति पहुंच सकती हैं, पर विचारशील राष्ट्रनायकों का कथन है कि एक ही साथ सभी को लाभ पहुंचे और हानि किसी को भी न हो यह दोनों राष्ट्रधर्म में शक्य हो सकती है। राष्ट्र–नेताओं के इस कथन पर विचार करने से यह बात बुद्धिगम्य और सत्य प्रतीत होती है। यही बात पहले भी कही जा चुकी है कि जो धर्म राष्ट्र के अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुंचाता है, वही राष्ट्रधर्म है। इस स्थिति में कोई भी स्वदेशी प्रेमी थोड़े से विदेशी वस्तुओं के व्यापारियों के लाभ के लिए करोड़ों आदमियों का अकल्याण कैसे सहन कर सकता है? विदेशी वस्तु के व्यापारी को स्वयं समझ लेना चाहिए कि–हमें अपने लाभ के लिए अपने करोड़ों देश–भाइयों की सुख–शान्ति लूटने का क्या अधिकार है? हम दूसरों के अन्न–वस्त्र को कैसे लात मार सकते हैं? व्यापारियों को भी अपने अन्य भाइयों के हित के लिए स्वार्थ त्याग करना चाहिए और गरीब भाइयों के दुःख में भागीदार बनना चाहिए। जो व्यक्ति सदा अपने ही स्वार्थ में तन्मय रहता है, राष्ट्रधर्म को भुला देता है और गांधीजी जैसे राष्ट्रहितैपी और सेवापरायण महात्मा पर अनुचित आक्षेप करता है। उसने अपने जीवन का ध्येय ही नहीं समझा है। हां, गांधीजी से किसी का किसी बात में मतभेद हो सकता है, पर राष्ट्रधर्म की दृष्टि से उनका राष्ट्रधर्म का आदर्श न मानना और उस आदर्श की उल्टी अवगणना करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। यह स्वदेशप्रेम भी नहीं है।

सुनते हैं, इसी भारतवर्ष में किसी समय एक रुपये के छः मन चावल और एक रुपये का तीस सेर घी मिलता था। तब कपड़े का क्या भाव होगा? दरअसल प्राचीन काल में भारतवर्ष धन सम्पदा से खूब भरपूर था।

प्राचीन काल में रुपये की खनखनाहट भले ही अधिक न सुनाई पड़ती हो, मगर उस समय देश धनसम्पन्न और धान्यसम्पन्न था। उस समय

आज की भांति भोजन मिलना कठिन न था। आज भारत न श्रीसम्पन्न है, न धान्यसम्पन्न ही। भारतवासियों ने अपने हाथों से आज विदेशी माल की कुल्हाड़ी से, भारत की जड़ काट डाली है। अगर हम उस कल्पवृक्ष के मधुर फल फिर चखना चाहते हैं तो विदेशी माल की कुल्हाड़ी हमें दूर फेंक देनी होगी और जिन हाथों से कल्पवृक्ष की जड़ काटी हैं उन्हीं हाथों द्वारा स्वदेशी माल के जल–सिंचन से उसे नवपल्लवित करना पड़ेगा। तब उस कल्पवृक्ष की शीतल छाया में अनेक श्रमजीवी अपने श्रम को हल्का कर सुख शान्ति का अनुभव करेंगे।

पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज का कथन था कि जिस समय अन्न–वस्त्र सस्ते और सोना–चांदी मँहगा हो वह पुण्यकाल और सोना–चांदी सस्ता तथा अन्नवस्त्र मँहगा हो वह पापकाल अर्थात् दुर्भाग्य का समय समझना चाहिए। क्योंकि सोने–चांदी से जीवन की कोई आवश्यकता पूर्ण नहीं होती, जबकि अन्न और वस्त्र जीवनधारण के लिये अनिवार्य हो गये हैं। समझना चाहिए कि जिस राष्ट्र में जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की, अन्न वस्त्र की पूर्ति हो रही है वह राष्ट्र प्रगति की ओर प्रयाण कर रहा है और जिस राष्ट्र में अन्न–वस्त्र की पूर्ति नहीं होती, वह अधः पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। राष्ट्र की उन्नति और अवनति को परखने के लिए यह कसौटी है। राष्ट्रोन्नति का द्वार खोलने की यह चाबी जब हमारे हाथ आ जाएगी तब समझ लीजिए–हमने भारत की उन्नति का मार्ग खोज निकाला है। इस समय राष्ट्रोन्नति का द्वार बन्द है। इस द्वार को खोलने के लिए अन्न–वस्त्र की आवश्यकता स्वयं पूर्ण करने के लिए चाबी की खोज करनी चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि ग्रामोद्धार और नगरोद्धार करने से ही राष्ट्र का उद्धार हो सकता है।

राष्ट्रनायकों के इस कथन में संशय की गुंजाइश नहीं है क्योंकि ग्राम ही अन्न और वस्त्र की उत्पत्ति का स्थान है और नगर अन्न–वस्त्र की व्यवस्था करने का स्थान है, जब ग्राम और नगर राष्ट्रदेह के हाथ पैर स्वस्थ एवं सबल हो जायेंगे तो राष्ट्रदेह उन्नतमस्तक होकर चल फिर सकेगा। हमें यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिये कि राष्ट्रोद्धार में अपने धर्म का उद्धार निहित है और राष्ट्र के अधःपतन का अपना और अपने धर्म का अधःपतन अवलंबित है इस सत्य को समझकर, इसके अनुसार बर्त्ताव करने से राष्ट्र का हित अवश्य होगा और साथ ही अपना तथा अपने धर्म का भी। अपना व्यक्तिगत स्वार्थ–भाव छोड़कर राष्ट्रोद्धार के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो राष्ट्र को सुखी बनाने का उपाय और उसके संबन्ध में अपना कर्त्तव्य स्वयं

जान पड़ने लगेगा। व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति क्या कर्त्तव्य है, यह बात निम्नलिखित दृष्टांत से समझी जा सकती है–

किसी भक्त पर देव प्रसन्न हुआ। देव ने कहा–'हे भक्त! तेरा भक्ति–भाव देखकर मैं तुझ पर प्रसन्न हूं। तू दो वस्तुओं में से कोई एक वस्तु मांग ले। तू चाहे तो बड़े–बड़े आम, नारंगी आदि के मधुर फल वाले वृक्ष दूं अथवा गेहूं बाजरा के छोटे–छोटे पौधे दे दूं। इच्छा हो सो मांग ले।'

भक्त ने कहा–'हे देव! आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे गेहूं बाजरा के छोटे–छोटे पौधे ही वरदान में दीजिए। मुझे उन्हीं की आवश्यकता है। मधुर फलों वाले विशालकाय वृक्ष मुझे न चाहिए।'

देव को आश्चर्य हुआ। पूछा–'हे भक्त! तू मधुर फल वाले वृक्ष को छोड़, गेहूं–बाजरे के छोटे पौधे क्यों मांगता है?

बुद्धिमान भक्त ने कहा–बड़े–बड़े वृक्षों के मीठे फलो से अमीरों उमरावों के नाश्ते का काम चल सकता है, उनसे जनसाधारण की भूख मिट नहीं सकती। मगर गेहूं बाजरे के पौधे गरीब और अमीर दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी हैं। अतएव मैंने अमीरों के मौज शौक का ख्याल न करके जनसाधारण के लिए अनिवार्य उपयोगी वस्तु–अन्न को पसंद किया है।'

देव अपने भक्त पर प्रसन्न हुआ और वरदान देकर चला गया इस प्रकार जब तक मनुष्य अपना स्वार्थ त्याग कर विश्व की सुख–सुविधा का विचार नहीं करता तब तक राष्ट्र के कल्याण की शुभ भावना उसके अन्तर मे उत्पन्न नहीं होती। राष्ट्र का कल्याण जनसाधारण के कल्याण में ही है। राष्ट्रधर्म इस बात का तीव्र विरोध करता है कि सम्पन्न लोगों को सब प्रकार की सुख–सुविधाएं मिलें और बेचारे गरीब किसान तथा मजदूर परिश्रम एवं उत्पीड़न के कोल्हू में पिसते रहें, फिर भी भर पेट अन्न न पावें। राष्ट्रधर्म जनसमाज के हित देखता है। जनसमाज के हित में ही अमीर गरीब सबका हित समाया है। राष्ट्रधर्म समभाव का पोषक है। उसे न अमीरों से अनुराग है, न गरीबों से विराग है। अन्याय अत्याचार का विरोध करके जनता में सुख शान्ति का संचार करना राष्ट्रधर्म का ध्येय है।

जहां स्वार्थ ने प्रवेश किया नहीं कि राष्ट्रधर्म का ध्येय नजरों से ओझल हो जाता है, अतएव राष्ट्रीयता की भावना का मूल निस्वार्थ भावना मे है, जहाँ निस्वार्थभाव, सहृदयता, सहानुभूति, देश प्रेम नहीं है, वहां राष्ट्रीय भावना जागृत नहीं होती।

जिस प्रवृत्ति के द्वारा संसार का कल्याण होता है वह धर्मप्रवृत्ति

कहलाती है और जिससे संसार का अकल्याण पतन होता है, वह पापप्रवृत्ति कही जाती है। इसी दृष्टिबिन्दु को सामने रखकर शास्त्रकारों ने ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि लौकिक धर्मों की तथा स्थविरों की व्याख्या की है।

यह खेद की बात है कि भारतवर्ष में आज राष्ट्रधर्म लुप्तप्रायः हो रहा है। राष्ट्र की दुर्गति का यही कारण है। लोग राष्ट्रधर्म से विलग रहने में ही अपना कल्याण माने बैठे हैं। विचार करने से मालूम होगा कि उनकी यह मान्यता भूल भरी है। राष्ट्रधर्म के प्रताप से, जिस देश में सघन स्नेहभाव था, द्वार पर ताला लगाने की भी आवश्यकता नहीं होती थी, उसी देश–भारतवर्ष में राष्ट्रधर्म के अभाव के कारण, घर–घर क्लेश की आग सुलग रही है, अविश्वास और वैर–विरोध की वृद्धि हो रही है, यहां तक कि पिता–पुत्र और पति–पत्नी में भी वह पारस्परिक विश्वास शेष नहीं रहा है। आज पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, पति पत्नी से अपना भेद छिपाने की चेष्टा करता है। खाद्य वस्तुओ पर भी, घर के भीतर ताला लगाया जाता है। जहां देखो तहां, राष्ट्रधर्म की ठीक व्यवस्था न होने से, चोरी, डकैती हत्या, व्यभिचार आदि अत्याचारों का दौर दिखाई देता है। मगर अन्धकार में आशा की एक किरण चमकती नजर आ रही है। राष्ट्र की चेतना, मानों अलसाकर जागना चाह रही है। उसकी चिरनिद्रा भंग होती जान पड़ती है। राष्ट्र की उन्नति के लिए विचार–विनिमय किया जा रहा है और जनसाधारण में राष्ट्रीयता के प्रति सहिष्णुता एवं सहानुभूति जागृत हो रही है। जान पड़ता है, वह मंगल–दिवस बहुत दूर नहीं है जब राष्ट्रधर्म की समुचित व्यवस्था होगी और राष्टधर्म के ध्येय–स्वतन्त्रता तथा विश्वशान्ति को प्राप्त करने के लिए राष्ट्र का बच्चा–बच्चा उद्योगशील बनेगा। उस दिन, जैनयुग का राष्ट्रधर्म विश्वशान्ति के साम्राज्य मे राजव्यवस्था करता दृष्टिगोचर होगा।

भारत कृषिप्रधान देश है। कृषि करके जगत् का पालन–पोषण करने वाले किसान ग्रामों में बसते हैं, 'इसलिए भारत देश ग्रामों में बसता है।

जिस बगीचे में आम के हजार वृक्ष होते हैं, वह 'आंबाबाड़ी' (आम्रवाटिका) कहलाती है। उसमें दस बीस पेड़ जामुन या नीम्बू के भले ही हो, पर उसे कोई 'जामुनबाड़ी' या 'नीम्बूबाड़ी' नहीं कहता। इसी प्रकार भारतवर्ष मे गरीब जनता अधिक है और अमीर तथा सेठ–साहूकार बहुत थोड़े है। इस स्थिति में भारतवर्ष गरीबों का देश है अमीरों और सेठ–साहूकारों का नही। अतएव भारत की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था गरीबों को लक्ष्य बनाकर ही की जा सकती है–अमीरों को लक्ष्य करके नहीं। बड़े–बड़े सेठ

साहूकारों का सुख गरीबों की कृपा पर निर्भर है। अतएव गरीबों की रक्षा न की जाय और सेठ–साहूकार अपने धनबल से अधिकाधिक धन संचित करते जाएं तो देश को सुखी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देश गरीबों का है, अमीरों का नहीं। अतएव जब तक गरीब दुःखी है, तब तक देश दुःखी है और जब गरीव सुखी होंगे तभी देश सुखी कहलाएगा। सच्चा राष्ट्रधर्म वही है, जो भारत के जीवनधन–गरीब भारतीयों की खोज खबर लेता है। अन्न और वस्त्र के लिये मरने वाले तथा परस्पर विद्रोह करके एक दूसरे के बैरी बनने वाले गरीबों के लिए जब तक पर्याप्त अन्न और वस्त्र का प्रबन्ध नहीं होगा तब तक राष्ट्र धर्म अपूर्ण है।

आज कितनेक स्वार्थी लोग, राष्ट्रधर्म की अवगणना करके, अपने आंखों पर स्वार्थ का चश्मा चढ़ाकर, बेचारे गरीबों का अन्न–वस्त्र छीन रहे हैं और उनके जीवन–मरण तक का विचार नहीं करते। वे अपनी तिजोरियां भरने में ही मशगूल हैं। ऐसे स्वार्थी लोगों को अब राष्ट्रधर्म का पहला पाठ पढाने की आवश्यकता है। जब उन्हें राष्ट्रधर्म का किंचित् बोध होगा तो उनके नेत्र खुलने लगेंगे और तब उनकी स्वार्थपरायणता भी कम हो सकेगी।

आज भारतवर्ष की स्थिति कितनी भंयकर है, यह खयाल ही बहुतों को नहीं है। बहुतों को ख्याल करने की चिन्ता भी प्रतीत नहीं होती। उन्हें दुनिया भर के बाजार के भाव–ताव जानने की जितनी चिन्ता रहती है, उतनी अपने देश की स्थिति जानने की नहीं रहती। पर उन्हें समझ रखनी चाहिए, जिस दिन भयंकर स्थिति की भयंकरता फूट पड़ेगी उस दिन दुनिया के बाजार भाव उन्हें पनाह नहीं दे सकेंगे, तिजोरियां उनकी रक्षा न कर सकेंगी। उस दिन उन्हीं गरीब की शरण में आश्रय लेना होगा, जिन्हें आज नफरत की निगाह से देखा जाता है, जिनका अपमान किया जा रहा है और जिन्हें मात्र हाड मांस का निर्जीव पुतला समझा जा रहा है। यह सत्य चाहे कटुक हो पर हितकारी है और अब विना अधिक विलम्ब किये उसे समझ लेना चाहिए। राष्ट्रधर्म के शरण में गये विना कोई चिरकाल तक सुखी नहीं रह सकता। राष्ट्रधर्म जनसमाज का रक्षक और पोषक धर्म है।

एक घर में एक मनुष्य पेट भर खाता है, भूख न होने पर भी ठूस–ठांस कर किसी प्रकार माल विगाड़ता है जबकि बाकी के दस मनुष्यों को भर पेट रूखी सूखी रोटी तक नसीब नहीं होती। क्या ऐसे आपा–पोखी मनुष्य को कोई सज्जन कह सकेगा? नहीं।

इस देश में आज यही अव्यवस्था चल रही है। इस सीधी सादी बात

सच्चा राष्ट्र प्रेमी वह है जो अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति समझता है। उसके मन में वह उस सम्पत्ति का 'ट्रस्टी मात्र होता है। अतएव राष्ट्र की आवश्यकता के समय वह अपनी तिजोरी बन्द नहीं रख सकता। राष्ट्रधर्म का रहस्य राष्ट्रोद्धार के कार्य में सन्निहित है। राष्ट्रधर्म सम्बन्धी प्रेम राष्ट्रीयता का भाव जगाता है। जिस राष्ट्र के निवासियों में अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धा नहीं है, अनुराग नहीं है, उस देश का जल्दी उद्धार होना कठिन ही समझिए।

यह कितने खेद की बात है कि आज अधिकांश भारतीयों में राष्ट्रधर्म के प्रति सद्भाव भी नहीं है। पाश्चात्य लोगों में राष्ट्र के प्रति कितना सद्भाव है, यह बात एक सत्य घटना के उल्लेख से ज्ञात हो जाती है।

सागर शहर में एक श्रावक थे। वह देशी और विदेशी–दोनों प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करते थे। एक बार किसी अंग्रेज ने उनकी दुकान से चावल खरीदने के लिए अपना नौकर भेजा। दुकानदार के पास दोनों तरह के चावल थे परन्तु देशी चावल अच्छे और सस्ते थे। साहब को अच्छे चावल देने के इरादे से उसने देशी चावल नौकर को दे दिये। नौकर चावल ले, चला गया। साहब ने चावल देखे तो लाल–पीला हो गया। नौकर को कुछ भला–बुरा कहा! अन्त में नौकर को हुक्म दिया इसी समय जाकर देशी चावल लौटा आओ और विदेशी खरीद लाओ।

भागा–भागा नौकर दुकान पर पहुंचा। सेठजी से सब हाल कहा। सेठजी ने चावल लौटा लिए और चौगुनी कीमत वसूल कर परदेशी चावल तोल दिये।

कुछ दिनों बाद सेठजी की उसी साहब से मुलाकात हुई। सेठजी ने चावलों की अदला बदली का कारण पूछा। साहब ने कहा–'विलायती चावल खरीदने से उसकी कीमत हमारे देशवासियों को मिलती है। हम ऐसे मूर्ख नहीं हैं, जो विदेश में आकर अपने देश भाइयों को भूल जाएं और अपने देश का माल न खरीदें। हमारे लिये स्वदेश प्रथम है–दूसरे देश फिर। हम देशद्रोह करके अपना जीवन कलंकित नहीं करना चाहते।'

सेठजी साहब का देश प्रेम देख चकित रह गये। उन्होंने तभी स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यापार करने की प्रतिज्ञा कर ली।

पश्चात्यों के देश प्रेम का एक और उदाहरण जानने योग्य है–

बम्बई में एक अंग्रेज ने अपने नौकर को बूट खरीदने भेजा। नौकर
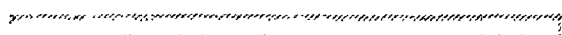
देशी दुकान से, एक सुन्दर बूट की जोड़ी पांच रुपये में खरीद ले गया। उस अंग्रेज ने बूट देखे। उसकी निगाह वहां गई जहां लिखा था Made in India. इन शब्दों को देखते ही अंग्रेज आग बबूला हो गया। बोला गधे कहीं के, यह देशी बूट क्यों लाया?'

नौकर ने कहा–साहब, आप पहन देखें। बूट सुन्दर है और टिकाऊ भी।

साहब देशी बूट कितने ही सुन्दर और टिकाऊ हों, मुझे नहीं चाहिए। तू यह वापस कर आ। मेरे लिए विलायती बूट, किसी अंग्रेज कम्पनी से खरीद ला उसके मोल की चिन्ता तुझे नहीं करनी है।

नौकर देशी व्यापारी के पास गया और बूट के विषय में आप बीती सुनाई। उस भले व्यापारी ने बूट लौटा लिए । फिर वह नौकर अंग्रेजी कम्पनी में गया और कई गुनी कीमत चुकाकर बूट–जोड़ा खरीद ले गया। साहब ने बूट देखे। Made in England देखकर बड़ा प्रसन हुआ। नौकर ने डरते–डरते पूछा हजूर, यह कीमत में भारी हैं, टिकाऊ भी वैसे नहीं हैं और खूबसूरत भी उतने नहीं हैं। फिर आपने पहले वाले बूट न लेकर यह क्यों पसन्द किये? साहब बोले–इंगलिश कम्पनी से खरीदे हुए बूट मेरे देश की बनी वस्तु है। वह कैसी भी क्यों न हो, मुझे प्रिय है। अपने देश की चीज खरीद कर मैं अपने देश के प्रति प्रेम प्रकट करता हूं। जिस देश में मेरा पालन–पोषण हुआ है, उसकी अवगणना मैं कैसे कर सकता हूं? सात समुद्र पार आकर भी, जब मैं अपने देश की बनी वस्तु देखता हूं तो देश की सुखद स्मृति मेरे दिल में हिलोरें मारने लगती है। मेरा मस्तक देश के लिए झुक जाता है। मेरा देश मेरे लिए देव है। मैं देवता की भांति अपने देश की पूजा करता हूं।

यह उदाहरण कल्पित नहीं है। यह घटी हुई सच्ची घटनाएं हैं। इन उदाहरणों से हमें राष्ट्र प्रेम और देशभक्ति की जो शिक्षा मिलती है, वह भारतवासियों को सीखना चाहिए। इसमें से अपने देश की स्वतंत्रता का मूल मंत्र मिल सकता है। पाश्चात्य 'लोगों ने देश हमारा देव है और स्वदेशी वस्तु उस देव का प्रसाद है' इस राष्ट्रीय भावना को अपने जीवन में मूर्त्त रूप दिया है। इसी मूर्त्त भावना के कारण वह स्वतंत्रता का सुख अनुभव कर रहे हैं। वे सात समुद्र लांघकर हजारों मील की दूरी तय कर, भारत में आये हैं, मगर क्षण भर के लिए अपना देश नहीं भूलते। उनकी राष्ट्रभक्ति का इसी से परिचय मिलता है। और भारतीय? उनकी हालत एकदम उलटी है। भारतीय अपने देश में रहते हुए भी, देश परतंत्र और पतन की अवस्था में है–इस बात

को जानते हुए भी, विदेशी वस्त्रों और अन्य वस्तुओं का व्यवहार करने में गौरव मानते हैं। देश के लिए यह बड़े से बड़ा कलंक है। इस कलंक को दूर करने पर ही भारत का मुख उज्ज्वल हो सकता है।

विदेशी वस्त्र एवं अन्य वस्तु का व्यवहार, राष्ट्रीय दृष्टि से घोर पाप है ही, साथ ही धार्मिक दृष्टि से भी निषिद्ध है। भला, जिस विदेशी वस्त्र में चर्बी का उपयोग करने के लिए लाखों–करोड़ों पशुओं का निर्दयतापूर्वक वध किया जाता है, उस वस्त्र का उपभोग भारतीय–जिनका आदर्श अहिंसा है–किस प्रकार कर सकते हैं? जैनधर्म की दृष्टि से, विदेशी और ऐसी ही अन्य वस्तुएं, जिनके लिए पंचेन्द्रिय प्राणियों का घात किया जाता है, अगर वे हेय हैं तो उसमें शंका की गुंजाइश ही नहीं है। विदेशी वस्त्र का व्यवहार स्पष्ट ही हिंसाजनक है, अतएव त्याज्य है। विदेशी वस्त्र का व्यवसाय धर्म भ्रष्ट करने वाला है।

जिस देश के मनुष्य अपने देश की तथा अपने देश की वस्तुओं की कद्र करना नहीं जानते, उस देश के मनुष्यों की कद्र दूसरे देश में नहीं होती। साधारण गांव में अगर कोई अंग्रेज फिरे भले ही वह बवर्ची ही क्यों न हो, पहुंच जाता है तो भारतीय लोग 'साहब आये' कहकर उसका अदब करते हैं, इससे विपरीत विदेशों में भारतीयों की कद्र कितनी होती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। कौन नहीं जानता, कि दक्षिण अफ्रीका में 'कुली बैरिस्टर' शब्द से महात्मा गांधी की कद्र की जाती थी। भारत के अग्रगण्य नेताओं को भी विदेश में अपमनित होना पड़ता है, इसके मूल कारण का पता लगाया जाय तो ज्ञात होगा कि अपनी भूल ही शूल की भांति दुःख दे रही है। जब भारतवर्ष का जन समाज अपना राष्ट्रधर्म भूलकर विदेशी वस्तुओं को अपनाता है, तब उसका दुष्परिणाम, भारतीय होने के नाते गांधीजी और रवीन्द्रनाथ जैसे आदर्श नेताओं को भी भोगना पड़ता है।

हृदय जब तक राष्ट्रधर्म से ओतप्रोत नहीं होता तब तक राष्ट्रप्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता और राष्ट्रप्रेम के अभाव में राष्ट्रोन्नति नहीं हो सकती। राष्ट्र के उद्धार के लिए त्यागभावना और सहिष्णुता की अपेक्षा रहती है। भारतीयों के पतन का मुख्य कारण राष्ट्रधर्म और उसके प्रचारक एवं व्यावस्थापक राष्ट्रस्थविरों का अभाव है। राष्ट्रोद्धार के पुनीत यज्ञ में, राष्ट्रस्थविरों को अपनी समस्त शक्तियां समर्पित कर देनी पड़ती हैं। प्रत्येक उन्नत राष्ट्र इस बात का जीता जागता प्रमाण है कि सर्वस्व समर्पण किये बिना किसी भी राष्ट्र का उद्धार नहीं हो सकता। गांव–गांव और नगर–नगर में राष्ट्रसेवकों के जो

स्मारक खड़े किये जाते हैं, वे स्मारक अपनी मौनमयी भाषा में राष्ट्रोद्धार के लिए जीवनोत्सर्ग–आत्मबलिदान–शहीदी–का पाठ पढ़ाते हैं।

महाराणा प्रताप राष्ट्र का सच्चा तेज पुंज था! वह स्वतंत्रता–देवी का सच्चा सपूत था। इस नरवीर ने स्वतंत्रता–देवी और भारतमाता की रक्षा के लिए राजपाट छोड़ा, वैभव विलास ठुकराया और स्वेच्छा से गरीबी गले लगाई। उसने अठारह वर्ष तक अरावली पहाड़ों में, तरह–तरह की मुसीबतें झेलीं। धूप, उसके मन धूप न थी, ठंड उसके मार्ग में बाधक न थी। खाने को अन्न न मिलता तो घास के बीज की रोटियां खाकर रह जाता, पर उसने विदेशियों द्वारा स्वदेश को अपमानित न होने दिया। महाराणा प्रताप की महारानी पद्मावती, जो राजमहलों में सुखपूर्वक रहती थी, अपने प्राणप्रिय पति की सेवा के लिए पहाड़ों में रहने लगी और पति के सुख दुख की भागीदार बनकर उसने अर्धांगिनी पद को सार्थक किया। राणा की संतान रोटी के एक–एक टुकड़े के लिए करुण रुदन करने लगी। तब प्रताप जैसा प्रतापी पुरुष भी एक बार अस्थिर हो उठा। पर वह नरवीर कष्टों और मुसीबतों से कहां डरने वाला था? वह तो पराधीनता से डरता था। स्वदेश की स्वतंत्रता के हेतु वह अपने प्राण भी हंसते हंसते त्याग सकता था। स्वदेश की स्वतंत्रता उसे इतनी प्रिय थी कि उसके लिए उस वीर श्रेष्ठ ने संसार के समस्त भोग विलास ठुकरा दिये और स्वेच्छा से कष्ट एवं दुःख अंगीकार किये।

किसी भी देश की प्रजा में जब तक स्वतंत्रता के लिए त्याग और साहस की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, तब तक राष्ट्रधर्म का भलीभांति पालन नहीं किया जा सकता और फल स्वरूप न तो राष्ट्र की उन्नति हो सकती है, न प्रतिष्ठा कायम हो सकती है।

जिस देश में प्रताप जैसे स्वतन्त्रता के पुजारी ने जन्म लिया, उसी देश की प्रजा आज राष्ट्र के प्रति अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा भूली हुई है कैसा आश्चर्य?

हम जिस देश का अन्न खाते हैं, उसे अगर भूल जाते हैं, तो इससे बड़ी कृतघ्नता ओर नहीं हो सकती। हमारे पास कौनसी चीज है जिसका देश के साथ संबंध नहीं है? तो जिस राष्ट्र के उपकार से जीवनव्यवहार चलाते हैं, उस उपकारी राष्ट्र का भी उपकार करना कितना अमानुषिकता है?

भारतवर्ष में ज्ञान–अंधकार इतना अधिक फैला हुआ है कि राष्ट्रीय–भावना की ज्योति कहीं दिखाई नहीं देती। इसी अज्ञान की बदौलत

भारत के पैरों में पराधीनता की बेड़ियां पड़ी हैं। संतोष की बात यही है कि राष्ट्र स्थविरों के सतत प्रयत्न से राष्ट्रीय भावना की चिनगारियां कहीं कहीं नजर आने लगी हैं।

मैं पूछता हूं कि समस्त संसार को अज्ञान अधंकार से तारने वाले तीर्थंकर भगवान् कहां जन्मे थे? इसी भारतभूमि में।

जिस भारतभूमि को तीर्थंकरों ने अपने चरणन्यास से पावन बनाई है, जिस भूमि पर विचरकर उन महात्माओं ने जन समाज को सत्य धर्म का उपदेश दिया है, उस भूमि का कितना माहात्म्य है? भारतभूमि वास्तव में पवित्र भूमि है, पुण्यभूमि है, धर्मभूमि है।

भूशास्त्रविशारदों ने भारतभूमि की प्रकृति का ठीक, ठीक अध्ययन कर बतलाया है कि भारतभूमि पारसभूमि है। इस भूमि में मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। यह देश आत्मनिर्भरता की दृष्टि से स्वतन्त्र है। किसी भी वस्तु के लिए उसे किसी से याचना करने की जरूरत नहीं है। इसके विपरीत, सुना जाता है कि इंग्लेण्ड आदि कई एक पाश्चात्य देशों में आलू वगैरह तो पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होते हैं मगर गेहूं आदि खाद्य पदार्थ, जिनके बिना जीवनव्यवहार चल नहीं सकता, बहुत कम होते हैं। अगर भारत या अन्य किसी उपजाऊ देश से वहां गेहूं का निर्यात न किया जाय तो उन देशों के निवासियों को खाने के लाले पड़ जाएं। यह बात हमारे यहां नहीं। अगर कोई भी चीज यहां बाहर से न आवे तो भी हमारा निर्वाह बखूबी हो सकता है। भारतवर्ष की यह विशेषता है। भारत अगर स्वतंत्र हो तो सम्पूर्ण विश्व को सुख शांति पहुंचाने का सामर्थ्य उसमें आज भी मौजूद है। पर दीर्घकालीन पराधीनता उस शक्ति को चूसती जा रही है।

भारतभूमि में गंगा यमुना जैसी अनेक विशाल और सुखदायक नदियां बहती हैं और हिमालय जैसा अद्वितीय ऊंचा पर्वत उसकी रक्षा करता है। प्रकृति देवी जिस भारतदेव की सेवा करती है, वहां अगर स्वाभाविक सुख शांति हो तो आश्चर्य की बात ही कौनसी है? किसी कवि ने ठीक ही कहा कि—जिस देश में जितने ऊंचे पर्वत होते हैं, उस देश के महापुरुष भी भावना की दृष्टि से उतने ही ऊंचे होते हैं।

भगवान् महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण जैसे महापुरुषों की भेंट भारत ने विश्व को अर्पित की है। भारत ऐसी रत्नगर्भा भूमि है! ऐसी पवित्र भूमि का अपमान हो, इस भूमि के पुत्र विदेशियों के बन्धन में बंधे हों, यह कितने संताप का विषय है? इस दयनीय दशा का प्रधान कारण, राष्ट्र के प्रति हृदय में

श्रद्धाभाव न होना और राष्ट्रस्थविर की आज्ञा को अन्तर से स्वीकार न करना है। युगधर्म के प्रताप से राष्ट्रधर्म के प्रति श्रद्धाभाव और राष्ट्रस्थविर के प्रति भक्तिभाव प्रकट होता जा रहा है, यह आनन्द की बात है।

देश के नायकों का कथन है कि जो मनुष्य अपने राष्ट्र के मानापमान का ध्यान नहीं रखता, उस मनुष्य का मान त्रिकाल में भी नहीं बढ़ पाता।

राष्ट्र के उद्धार में अपना, समाज का और धर्म का उद्धार है, इस सत्य को जो राष्ट्रसेवक स्वीकार करता है, उसे निश्चय कर लेना चाहिए कि स्वदेशी वस्त्र या स्वदेशी वस्तु का व्यवहार करने में स्वदेश का, समाज का और धर्म का उद्धार है और विदेशी वस्त्र एवं अन्य वस्तुओं के व्यवहार में स्वदेश, समाज और स्वधर्म का नाश समाया हुआ है। धार्मिक दृष्टिकोण से इस बात पर विचार करोगे तो तुम्हारा निश्चय अधिक दृढ़ हो जाएगा। राष्ट्र का गौरव बढ़ाना प्रत्येक राष्ट्र–प्रजा का पवित्र दायित्व है और इस दायित्व का भान प्रजा को, अपने त्याग द्वारा कराना तथा देश को गौरवान्वित करना राष्ट्रपति का दायित्व है।

राष्ट्रोद्धार के लिए आवश्यक है कि प्रजा राष्ट्रधर्म के आगे नतमस्तक हो और राष्ट्र नायक का आदेश शिरोधार्य करे।

4
प्रशास्तास्थविर–संरक्षक–स्थविर
(पसत्थाथेरा)
गुरुदेवोभव

प्रशास्ता–स्थविर मानवसमाज का संस्कर्त्ता है। वह जैसी शिक्षण–संस्कृति मानव हृदय में उतारेगा, मानव समाज की भावी घड़न वैसी ही होगी।

जनता के जीवन में धर्मभावना जागृत करने के लिए शिक्षा–प्रचार एक अमोघ साधन है। शिक्षा प्रचार द्वारा राष्ट्र, समाज और धर्म के बंधन शिथिल हो जाते हैं या छिन्न–भिन्न हो जाते हैं। शिक्षा का ध्येय भी बन्धन से मुक्त होना है–'सा विद्या या विमुक्तये।'

मानवसमाज पराधीनता, अज्ञान, निर्वलता, निस्तेजता, वासना आदि बन्धनों से बन्धा है। वह विपम परिस्थितियों से जकड़ा है। उसकी अन्तरात्मा जकड़ी रहती है। इन समस्त बन्धनों से छूटना विद्या है। यही शिक्षा है, यही तालीम है। जिसके द्वारा शरीर रोगों एवं दुर्वलताओं से छूटता है, वुद्धि अज्ञान और कुत्सित विचारों से छूटता है, हृदय कठोरता और कुसंस्कारों से छूटता है और आत्मा कर्म के आवरण से छूटती है, वह शिक्षा है, विद्या है, तालीम है।

सच्ची शिक्षा आत्मा की नैसर्गिक रस वृत्ति को लंपटता से मुक्त करती है। शक्ति को मद से मुक्त करती है। आत्मा को कृपणता एवं अहंकार के पंजे से मुक्त करती है।

वास्तविक शिक्षा आत्मा की नैसर्गिक विशेषताओं को, उनकी विरोधी शक्ति एवं विकृतियो से मुक्त करके, निखालिस विकसित स्वरुप प्रदान करती है। इसीसे मानवजीवन का संस्कार होता है और वह संस्कार मानव को परमोच्च पद पर प्रतिष्ठित करता है।
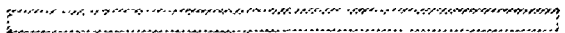
मानवसमाज को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शिक्षा–दीक्षा देने का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य प्रशास्ता–संरक्षक अर्थात् माता, पिता, शिक्षक, धर्मगुरु आदि स्थविरों के सुपुर्द है। प्रशास्ता–स्थविर मानवसमाज का संस्कर्त्ता है। वह जैसी शिक्षा संस्कृति मानव हृदय में उतारेगा, मानवसमाज की भावी घड़न वैसी ही होगी। इस प्रकार मानवसमाज का भविष्यनिर्माण प्रशास्ता–स्थविर के हाथ में है।

जिसके हाथ में विश्व का महत्तम कार्य है, वह प्रशास्तास्थविर कौन हो सकता है? उसमें कितनी और किस प्रकार की योग्यता होनी चाहिए? इस सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं–

'प्रशासति–शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारः धमोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविराः।'

अर्थात्–राष्ट्र की भावी प्रजा को जो शिक्षा–दीक्षा देता है, और जो धर्मोपदेशक या शिक्षक अपनी शिक्षा के प्रभाव से शिष्यों को कर्त्तव्यपरायण बनाता है, वह प्रशास्ता स्थविर कहलाता है। 'प्रशास्ता' की व्याख्या में जो गूढ़ अर्थ छिपा है वह विशेष रूप से विचार करने योग्य है।

राष्ट्र की भावी प्रजा, आज के नन्हे नन्हे बालक हैं। बालकों को छुटपन में, घर में, माता–पिता द्वारा शिक्षा–संस्कार मिलता है। घर के शिक्षण में, भले ही अक्षरज्ञान न हो, फिर भी बाल्यकाल में माता–पिता द्वारा जो शिक्षण दिया जाता है, वह बालक के जीवन का भविष्य–निर्माण करता है। इस कारण वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

बाल्यकाल में माता–पिता ही बालकों के सच्चे प्रशास्ताशिक्षक हैं, पाठ्यपुस्तकों द्वारा, शिक्षकों द्वारा या धर्मगुरुओं द्वारा जो भी शिक्षण दिया जाता है, वह बाल–मानस में इतना जीवनस्पर्शी नहीं होता, जितना माता–पिता द्वारा शैशवकाल में प्रदत्त संस्कार होता है। जिन्होंने बाल–मनोविज्ञान का अध्ययन किया है, वे सब इसी नतीजे पर पहुंचे हैं।

बाल–मानस इतना अधिक निर्मल होता है कि जैसे संस्कारों की छाप उन पर अंकित की जाय, वह बहुत शीघ्र, स्थायी रूप से अंकित हो जाती है।

बालजीवन को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने के लिए घर ही पाठ्यपुस्तक है। माता–पिता ही बालक के सच्चे शिक्षक हैं और सुन्दर आचार–विचार ही उनकी सच्ची शिक्षा है। जैसे नीति–नियम, बर्त्ताव, धार्मिक

विचार माता–पिता के होंगे, वैसे ही संस्कार उनके बालक में प्रतिविम्बित होंगे। स्पष्ट है कि भावी प्रजा के जीवन की संस्कारिता का उत्तरदायित्व माता–पिता पर अत्यधिक है।

माता–पिता सौ शिक्षकों का काम देते हैं, यह कथन जितना सत्य है, उतना ही आदरणीय और आचरणीय है। मगर माता–पिता अगर सुशिक्षित और सुसंस्कृत हों तभी उनकी प्रजा वैसी बन सकती है। अतएव माता या पिता का पद प्राप्त करने से पहले ही मनुष्य को शिक्षित और संस्कारी बनना आवश्यक है।

बालक का जीवन अनुकरणीय होता है। वह बोलते चालते, खाते पीते और कोई भी काम करते घर का और विशेषतः माता–पिता का ही अनुकरण करता है। क्या बोलचाल, क्या व्यवहार, क्या मनोवृत्तियां और क्या अन्य प्रवृत्तियां, उन्हीं लोगों की नकल होती हैं, जो सदा उसके आसपास रहते हैं और जिनके प्रति उसके हृदय में स्नेह का भाव उपज आता है। अतएव प्रत्येक संरक्षक को क्या यही नहीं सोचना चाहिए कि अगर हम बालकों को संस्कृत, सदाचारी, विनीत और धार्मिक बनाना चाहते हैं तो हमारे घर का वातावरण किस प्रकार का होना चाहिए?

जहां माता क्षण–पल में गालियां बड़बड़ाती हो, पिता माता पर चिढ़ता रहता हो और उद्धततापूर्ण व्यवहार करता हो, वहां बालक से क्या आशा की जाय? हजार यतन करो, बालक को डराओ, धमकाओ, मारो, पीटो, फिर भी वह सुसंस्कारी या विनयी नहीं बन सकता।

बालक को डरा–धमकाकर या मारपीट कर अथवा ऐसे ही किसी अन्य हिंसात्मक उपाय का अवलम्बन लेकर नहीं सुधारा जा सकता। इन उपायों से वह एक दुर्गुण–हिंसात्मक प्रवृत्ति करना और सीख लेगा।

बालकों को डराने धमकाने वाले माता–पिता पूछेंगे–इसमें हिंसा कहां है?

यद्यपि इस प्रवृत्ति में साफ हिंसा है–बालहत्या है, फिर भी विशेष स्पष्टीकरण के लिए भय की प्रणाली का जरा पृथक्–करण कीजिएः–

जब बालक रोता है, मचलता है या कहा नहीं मानता, तो सर्व प्रथम उसके हितेच्छुओं को उसके प्रति आवेश आता है। आवेश आते ही मुख से गालियों की वर्षा आरम्भ हो जाती है। फिर लात–घूंसे आदि से उस अनजान और बेचारे बालक पर हमला किया जाता है।

इस क्रिया में आवेशवृत्ति हिंसा है, गाली देना हिंसा है और मारपीट करना हिंसा है। यह क्रिया आदि से अन्त तक हिंसा के सिवा और क्या है?*

आवेश आते ही मनुष्य भले–बुरे का भान भूल जाता है। इस भाव के अभाव में भाषा का विवेक चूक जाता है। इतने से खैर नहीं होती। कभी–कभी तो इसका परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है– इतना भयंकर कि माता–पिता को आजीवन पछताना पड़ता है। वास्तव में यह प्रणाली बालकों के लिए लाभ के बदले हानि पहुंचाती है। इससे बालक गालियां देना सीखता है, मारपीट करना सीखता है और सदा के लिए ढीठ बन जाता है। ढिठाई में से और अनेक दुर्गुण फूट पड़ते हैं। इस प्रकार बालक का सारा जीवन बर्बाद हो जाता है। यह सब हिंसा नहीं है तो क्या अहिंसा है? इसमें द्रव्यहिंसा है, भावहिंसा है, आत्महिंसा है, परहिंसा है।

विवेकशील माता–पिता भय की प्रणाली का उपयोग नहीं करते। वे आवेश पर अंकुश रखते हैं। बालक की परिस्थिति समझने का यत्न करते हैं उसे सुधारने के लिये घर का वातावरण सुन्दर बनाते हैं। ऐसा करने से माता–पिता के जीवन का भी विकास होता है और बालक के जीवन का भी। वे भली–भांति जानते हैं कि बालक अगर रोता है तो उसका इलाज डराना नहीं है, रोने के कारण को खोजकर दूर करना है। इसी प्रकार बालक में अगर कोई दुर्गुण उत्पन्न हो गया है तो उसे वह अपनी ही किसी कमजोरी का फल समझते हैं–समझना चाहिए। संरक्षक की किसी दुर्बलता के बिना बालक में दुर्गण क्यों पैदा हो? इस अवस्था में उसके वास्तविक कारण को खोज निकालना और दूर करना ही उसका इलाज है। समझदार माता–पिता ऐसे प्रसंग पर धैर्य से काम लेते हैं।

भय–डराने वाले और डरने वाले के अन्तरंग या बहिरंग मर्म पर अनेक प्रकार से आघात करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि भय हिंसा रूप है। आत्मा के गुणों का घात करने वाली प्रवृत्ति करना हिंसा है और जो ऐसी प्रवृत्ति करता है वह हिंसक है, यह जैनागम का विधान है।

आजकल माता–पिता को सद्धर्म की उन्नत भावना की तालीम लेने की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन में देखा जाता है कि आज के

---

*प्रश्नव्याकरण सूत्र में, हिंसा के नाम गिनाते समय 'बीहनक' को भी हिंसा बतलाया गया है। बीहनक का अर्थ है–भय दिखाना, किसी को डराना हिंसा है।

माता–पिताओं के मन कामवासना से वासित हैं। दोनों के मन क्लेश के रंग में रंगे हुए हैं और बात बात में वे अश्लील वाक्प्रहार और अवसर मिले तो ताडनप्रहार करते भी संकोच नहीं करते। जहां यह स्थिति है वहां भला, शिक्षा और संस्कृति का संरक्षण किस प्रकार हो सकता है?

माता–पिता का जीवन जब तक शिक्षित, संस्कृत और आदर्श न बने तब तक भविष्य की प्रजा में सुसंस्कारों का सिंचन नहीं हो सकता। अतएव भविष्य–कालीन प्रजा की भलाई के लिए माता–पिता को अपना जीवन संस्कारमय अवश्य बनाना चाहिए।

माता–पिता को और समाज को यह न भूल जाना चाहिए कि आज का बालक ही भविष्य का भाग्यविधाता है।

बालक जैसे–जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे–वैसे वह व्यवहारिक एवं धार्मिक शिक्षा लेने के योग्य बनता जाता है। बालक घर की शाला छोड़कर पाठशाला जाता है और वहां अक्षर ज्ञान सीखता है। एक ओर अक्षरज्ञान सीखकर बालक व्यवहारिक शिक्षा ग्रहण करता है और दूसरी ओर धर्मस्थानकों में जाकर निस्पृह धर्मगुरुओं से नीति और धर्म की शिक्षा लेता है। इस प्रकार दोहरी शिक्षा रूपी दो पंखों से वह उन्नति के असीम व्योम में विचरण करने का सामर्थ्य प्राप्त करता है और जीवन की समग्रता साधता है।

पाठशाला में माता–पिता का स्थान शिक्षक को मिलता है। शिक्षक बालकों को अपना पुत्र समझकर शिक्षा दे, तो वह अपना शिक्षक धर्म निभाता है। बालक अपनी किशोर अवस्था में शिक्षा का संचय करता है। आजकल की शिक्षाप्रणाली उसे शिक्षा दान देकर ही कृतार्थ मान लेती है, मगर एक अत्यन्त आवश्यक बात की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। वह यह बात है–शिक्षा को जीवन में मूर्त्त रूप देना। शिक्षा को सिर्फ दिमाग में स्थान देने से, उसे जीवन व्यवहार में एक रस न बनाने से, शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। ऐसे लोग शिक्षित भले ही कहलावें, पर संस्कारी कहलाने का दावा नहीं कर सकते। शिक्षा उनके मस्तिष्क का बोझ मात्र होती है, जबकि वह जीवन का संस्कार बननी चाहिए। अतएव शिक्षक को इस ओर पूरा लक्ष्य देना चाहिए। इसी मे बालक के भावी जीवन का भाग्योदय है।

बालकों का भावी जीवन सुखी बनाने के लिए व्यवहारिक शिक्षा की जितनी आवश्यकता है उससे कहीं अधिक आवश्यकता धार्मिक शिक्षा की भी है। इसका कारण यह है– जीवन में प्रवृत्ति को जितना स्थान है, उससे

माता–पिता के, शिक्षक के और धर्म शिक्षक के जो संस्कार बाल्यावस्था में, बालक में दृढ़ हो जाते हैं, वे बड़ी उम्र में दृढ़ नहीं होते। बालक प्रतिक्षण किसी न किसी प्रकार के संस्कार अपनाता रहता है। उसका हृदय दर्पण के समान है, जिस पर सामने आने वाली प्रत्येक वस्तु प्रतिबिम्बित होती ही है। ऐसी अवस्था में हम अगर बालक का हृदय अभीष्ट संस्कारों से युक्त न बनाएंगे तो वह 'अनभीष्ट' संस्कारों को ग्रहण करेगा। बड़ी उम्र में अगर वे अनभीष्ट–अवांछनीय संस्कार दृढ़ हो गये तो उन्हें दूर करके, नये वांछनीय संस्कारों का आरोपण करना अत्यन्त कठिन होगा। उस हालत में दोहरा परिश्रम करना पड़ेगा–प्रथम तो पुराने संस्कारों का जो बद्धमूल हो चुके हैं, उन्मूलन करना, फिर नवीन संस्कारों का बीज बोकर उनका सिंचन करना, पनपाना और अंकुरित करना। अगर पुरातन अवांछनीय संस्कारों की जड़ गहरी चली गई हो तो उन्हें जड़ से उखाड़ फेंकना अशक्य हो जाता है। उस हालत में माता–पिता पश्चात्ताप करते हैं, झल्लाते हैं, अपने भाग्य को कोसते हैं और अन्त में हाथ मलते रह जाते हैं। अतएव दूरदर्शी मां–बाप और शिक्षक को उचित है कि वे बालक में, बचपन से ही धार्मिक संस्कारों का बीज बो दें। बचपन में बोये हुए संस्कार बड़ी उम्र में सुदृढ़ हो जाएंगे और फिर कुसंस्कारों को बालक के हृदय में स्थान न मिलेगा।

राष्ट्र की भावी प्रजा में बालक–बालिका, कुमार–कुमारिका, पुत्र–पुत्री दोनों का समावेश होता है। जैसे बालकों को व्यवहारिक एवं धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता है, उसी प्रकार बालिकाओं को भी व्यवहारिक एवं धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। शिक्षा के सम्बन्ध में पुत्र और पुत्री में भेदभाव रखना उचित नहीं है। बालिकाओं और कुमारिकाओं की शिक्षा का तौरतरीका कुछ भिन्न हो सकता है, शिक्षा के कुछ विषयों में भी विभिन्नता हो सकती है–होनी भी चाहिए, परन्तु उनकी शिक्षा को वही महत्व मिलना चाहिए जो बालकों और कुमारों की शिक्षा को प्राप्त है। जो शिक्षक पुत्र और पुत्री, बालक और बालिका में शिक्षा–दीक्षा के विषय में, भेदभाव रखता है, ऊँची

नीची दृष्टि से देखता है, वह प्रशास्ता की हैसियत से अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है।

शिष्य की योग्यता के अनुकूल शिक्षा का विभाजन करना और शिक्षा के विपर्यास से बचना स्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है। बालकों को बालोपयोगी, कुमारों को कुमारोपयोगी, युवकों को युवकोपयोगी, 'प्रौढ़ों को प्रौढ़ोपयोगी, वृद्धों को वृद्धोपयोगी, बालिकाओं को बालिकोपयोगी, कुमारिकाओं को कुमारिकोपयोगी, युवतियों को युवति–उपयोगी, प्रौढ़ाओं को प्रौढ़ा–उपयोगी और वृद्धाओं को उनके उपयोगी, शिक्षा–दीक्षा देना, शिक्षा की साधन–सामग्री जुटाना, उसकी समुचित व्यवस्था करना, इन सब बातों की ओर प्रशास्ता स्थविर को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इस प्रकार का विभाजन न करके, सब धान बाईस पसेरी तोला जायगा–ऐसी शिक्षा दी जायगी तो शिक्षा के विषय में बड़ा विसंवाद पैदा हो जायेगा। उस हालत में शिक्षा का स्वाभाविक सुन्दर परिणाम हासिल न होकर अनिष्ट परिणाम की ही संभावना होगी। अतएव सब प्रकार के विसंवाद से बचने के लिए योग्यतानुसार शिक्षा का विभाजन करना प्रशास्ताओं का मुख्य कर्त्तव्य है।

बालकों को जैसे मानसिक और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है, उसी प्रकार शारीरिक और वाचनिक शिक्षा की भी है। केवल मानसिक शिक्षा से शारीरिक एवं वाचनिक शक्तियों का विकास नहीं हो जाता और अकेली मानसिक शिक्षा फलीभूत भी नहीं होती। यह स्मरण रखने योग्य है कि जीवन का सर्वांगीण विकास, मनुष्य की विभिन्न शक्तियों के विकास पर निर्भर करता है। इस ओर ध्यान देना प्रशास्ताओं का दूसरा कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओं का तीसरा कर्त्तव्य है कुमार–कुमारिकाओं के लिए बौद्धिक शिक्षा के साथ औद्योगिका शिक्षा का प्रबन्ध करना। जब बौद्धिक एवं औद्योगिक शिक्षा का मेल होगा तभी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा होगा। उद्योगशिक्षा के बिना बौद्धिक शिक्षा पंगु है–एकांगी है।

प्रशास्ताओं का चौथा कर्त्तव्य है–धार्मिक–आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था करना। जीवन के व्यवहारिक कार्यो का श्रम हल्का करने के लिए आध्यात्मिक शांति की अपेक्षा होती है। और आध्यात्मिक शांति धर्मशिक्षा से मिलती है। अतएव बालक–बालिका में धार्मिक संस्कार दृढ़ करने के लिए धर्म शिक्षा की समुचित व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

प्रशास्ताओं का पांचवा कर्त्तव्य यह है कि शिक्षा–दीक्षा देने में किसी प्रकार का जातिभेद या वर्णभेद का सामाजिक अंतराय हो तो उसे दूर करने

की चेष्टा करें। जातिभेद और वर्णभेद यह सब शिक्षा के बाधक तत्त्व हैं।

प्रशास्ताओं का छठा कर्त्तव्य है—शिक्षा में भय, तर्जना या मारपीट को जरा भी स्थान न मिलने देना। क्योंकि भयभीत या हतोत्साह विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता, अगर कोई कर भी सकता है तो भय के भूत से डरकर भूल जाता है। अतएव विद्यार्थियों के हित के लिए, शिक्षा के क्षेत्र में से भय का सर्वथा बहिष्कार किया जाना चाहिए।

प्रशास्ताओं का सातवां कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थियों को पढ़ने, समझने, याद करने मे सुगम, सरल और बोधप्रद पाठ्य पुस्तकों द्वारा, जो राष्ट्रीय भाषा में लिखी हों, शिक्षा दें, जिससे विद्यार्थियों को थोड़े समय में अधिक लाभ हो सके और राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि हो।

प्रशास्ताओं का आठवां कर्त्तव्य—विद्यार्थियों के चरित्रगठन पर ध्यान देना। शिक्षा की साधना करने वाले विद्यार्थी कभी कभी कामोद्दीपन करने वाले साधनों का उपयोग करने लगते हैं और इस प्रकार उनकी साधना में महान् विघ्न उपस्थित हो जाता है। अतः कामोत्तेजक वातावरण उत्पन्न न होने देना और कामशामक वायुमण्डल पैदा करना प्रशास्ताओं का कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओं का नौवां कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा न दें जो केवल तोता रटन्त हो और दिमाग को खोखला बनाने वाली हो। विद्यार्थियों की तर्क शक्ति और अवलोकन शक्ति बढ़ाने वाली, साथ ही विषय का तलस्पर्शी ज्ञान कराने वाली शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए।

प्रशास्ताओं का दसवां कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा देना जिससे उनमें राष्ट्र, राष्ट्र धर्म, राष्ट्र नेता के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न हो। अपनी मातृ भूमि के प्रति, अपने समाज के प्रति, अपने धर्म के प्रति कर्त्तव्य भावना जागे और उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाय कि राष्ट्र, समाज एवं देश की रक्षा तथा सेवा के लिए कितनी सहिष्णुता और त्यागभावना सीखने की आवश्यकता है?

प्रशास्ताओं का ग्यारहवां कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों की मानसिक अभिरुचि का सूक्ष्म निरीक्षण करना। किस विद्यार्थी की किस विषय की ओर अधिक रुचि है उसका मानसिक झुकाव किस विषय की तरफ है, इस सम्बन्ध में भलीभांति जांच करके उसे वही विषय मुख्य रूप से देना चाहिए। उसी में पारंगत बनाना चाहिए। शेष उपयोगी विषय उसके लिए गौण हो जाने चाहिएं। इस तरह एक विषय में विद्यार्थी को विशारद बनाना और अन्य

नीची दृष्टि से देखता है, वह प्रशास्ता की हैसियत से अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है।

शिष्य की योग्यता के अनुकूल शिक्षा का विभाजन करना और शिक्षा के विपर्यास से बचना स्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है। बालकों को बालोपयोगी, कुमारों को कुमारोपयोगी, युवकों को युवकोपयोगी, 'प्रौढ़ों को प्रौढ़ोपयोगी, वृद्धों को वृद्धोपयोगी, बालिकाओं को बालिकोपयोगी, कुमारिकाओं को कुमारिकोपयोगी, युवतियों को युवति–उपयोगी, प्रौढ़ाओं को प्रौढ़ा–उपयोगी और वृद्धाओं को उनके उपयोगी, शिक्षा–दीक्षा देना, शिक्षा की साधन–सामग्री जुटाना, उसकी समुचित व्यवस्था करना, इन सब बातों की ओर प्रशास्ता स्थविर को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इस प्रकार का विभाजन न करके, सब धान बाईस पसेरी तोला जायगा–ऐसी शिक्षा दी जायगी तो शिक्षा के विषय में बड़ा विसंवाद पैदा हो जायेगा। उस हालत में शिक्षा का स्वाभाविक सुन्दर परिणाम हासिल न होकर अनिष्ट परिणाम की ही संभावना होगी। अतएव सब प्रकार के विसंवाद से बचने के लिए योग्यतानुसार शिक्षा का विभाजन करना प्रशास्ताओं का मुख्य कर्त्तव्य है।

बालकों को जैसे मानसिक और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है, उसी प्रकार शारीरिक और वाचनिक शिक्षा की भी है। केवल मानसिक शिक्षा से शारीरिक एवं वाचनिक शक्तियों का विकास नहीं हो जाता और अकेली मानसिक शिक्षा फलीभूत भी नहीं होती। यह स्मरण रखने योग्य है कि जीवन का सर्वांगीण विकास, मनुष्य की विभिन्न शक्तियों के विकास पर निर्भर करता है। इस ओर ध्यान देना प्रशास्ताओं का दूसरा कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओं का तीसरा कर्त्तव्य है कुमार–कुमारिकाओं के लिए बौद्धिक शिक्षा के साथ औद्योगिका शिक्षा का प्रबन्ध करना। जब बौद्धिक एवं औद्योगिक शिक्षा का मेल होगा तभी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा होगा। उद्योगशिक्षा के बिना बौद्धिक शिक्षा पंगु है–एकांगी है।

प्रशास्ताओं का चौथा कर्त्तव्य है–धार्मिक–आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था करना। जीवन के व्यवहारिक कार्यों का श्रम हल्का करने के लिए आध्यात्मिक शांति की अपेक्षा होती है। और आध्यात्मिक शांति धर्मशिक्षा से मिलती है। अतएव बालक–बालिका में धार्मिक संस्कार दृढ़ करने के लिए धर्म शिक्षा की समुचित व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

प्रशास्ताओं का पांचवा कर्त्तव्य यह है कि शिक्षा–दीक्षा देने में किसी प्रकार का जातिभेद या वर्णभेद का सामाजिक अंतराय हो तो उसे दूर करने

की चेष्टा करें। जातिभेद और वर्णभेद यह सब शिक्षा के बाधक तत्त्व हैं।

प्रशास्ताओं का छठा कर्त्तव्य है—शिक्षा में भय, तर्जना या मारपीट को जरा भी स्थान न मिलने देना। क्योंकि भयभीत या हतोत्साह विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता, अगर कोई कर भी सकता है तो भय के भूत से डरकर भूल जाता है। अतएव विद्यार्थियों के हित के लिए, शिक्षा के क्षेत्र में से भय का सर्वथा बहिष्कार किया जाना चाहिए।

प्रशास्ताओं का सातवां कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थियों को पढ़ने, समझने, याद करने मे सुगम, सरल और बोधप्रद पाठ्य पुस्तकों द्वारा, जो राष्ट्रीय भाषा में लिखी हों, शिक्षा दें, जिससे विद्यार्थियों को थोड़े समय में अधिक लाभ हो सके और राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि हो।

प्रशास्ताओं का आठवां कर्त्तव्य—विद्यार्थियों के चरित्रगठन पर ध्यान देना। शिक्षा की साधना करने वाले विद्यार्थी कभी कभी कामोद्दीपन करने वाले साधनों का उपयोग करने लगते हैं और इस प्रकार उनकी साधना में महान् विघ्न उपस्थित हो जाता है। अतः कामोत्तेजक वातावरण उत्पन्न न होने देना और कामशामक वायुमण्डल पैदा करना प्रशास्ताओं का कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओं का नौवां कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा न दें जो केवल तोता रटन्त हो और दिमाग को खोखला बनाने वाली हो। विद्यार्थियों की तर्क शक्ति और अवलोकन शक्ति बढ़ाने वाली, साथ ही विषय का तलस्पर्शी ज्ञान कराने वाली शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए।

प्रशास्ताओं का दसवां कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा देना जिससे उनमें राष्ट्र, राष्ट्र धर्म, राष्ट्र नेता के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न हो। अपनी मातृ भूमि के प्रति, अपने समाज के प्रति, अपने धर्म के प्रति कर्त्तव्य भावना जागे और उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाय कि राष्ट्र, समाज एवं देश की रक्षा तथा सेवा के लिए कितनी सहिष्णुता और त्यागभावना सीखने की आवश्यकता है?

प्रशास्ताओं का ग्यारहवां कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों की मानसिक अभिरुचि का सूक्ष्म निरीक्षण करना। किस विद्यार्थी की किस विषय की ओर अधिक रुचि है उसका मानसिक झुकाव किस विषय की तरफ है, इस सम्बन्ध में भलीभांति जांच करके उसे वही विषय मुख्य रूप से देना चाहिए। उसी में पारंगत बनाना चाहिए। शेष उपयोगी विषय उसके लिए गौण हो जाने चाहिए। इस तरह एक विषय में विद्यार्थी को विशारद बनाना और अन्य

विषयों में उसकी रुचि पैदा करना आवश्यक है। जान पड़ता है, इस प्रकार की शिक्षा योजना से विद्यार्थियों का पर्याप्त विकास होगा और उनका जीवनव्यवहार सुन्दर रूप से चलेगा।

सारांश यह है कि कुमार–कुमारिकाओं को कैसी शिक्षा, कब और किस प्रकार देनी चाहिए? इत्यादि शिक्षा सम्बन्धी सब प्रकार का विचार करना और तदनुकूल व्यवस्था करना प्रशास्ता का कर्त्तव्य है।

प्रशास्ता एक क्षण के लिए भी यह बात न भूले कि उसके ऊपर सम्पूर्ण राष्ट्र, समाज और धर्म की गम्भीर जवाबदारी है।

भावी प्रजा में स्वदेश के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न करने वाली शिक्षा प्रणाली ही ग्राह्य होनी चाहिए। देश–देशांतरों का इतिहास तो रटाया जाय पर अपने देश का और अपने गांव का ठीक–ठीक पता ही न हो, यह शिक्षा प्रणाली का दूषण है। सच्ची शिक्षा वही है जिससे राष्ट्रीय हित का साधन हो। शिक्षा के ऊपर ही राष्ट्र का उत्कर्ष निर्भर है। जिस शिक्षा से राष्ट्रीय हित में कोई सहायता नहीं मिलती, वह भी कोई शिक्षा है?

आज भारतवर्ष की शिक्षाप्रणाली ऐसी दोषपूर्ण है कि वह राष्ट्रीय भावना का विनाश कर देती है। शिक्षण–शालाओं के अधिकारियों की इच्छा भी यही रहती है कि देश की भावी प्रजा विदेशी जीवन व्यतीत करे और उसमें राष्ट्रीयभावना पनपने न पावे। अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए वे ऐसी शिक्षा प्रणाली की योजना करते हैं, जो राष्ट्रीयता का पोषण न करे वरन् परदेश के प्रति गौरव का भाव ही विद्यार्थियों के हृदय में उत्पन्न करे। सचमुच राष्ट्र के लिए यह दुर्भाग्य की बात है। जो लोग भविष्य में देश के भाग्यविधाता बनने वाले हैं, उन्हें राष्ट्रीयता की भावना से कोरा रखना देश के प्रति कितना बड़ा अन्याय है? ऐसी शिक्षा असल में शिक्षा ही नहीं है। वह तो भावी प्रजा को गुलामी की बेड़ी में जकड़ने के लिए फन्दा है। इस फन्दे को काट फैंकना प्रशास्ता का काम है। जो विदेशी इस देश को अपने पैरों तले दबाये रखना चाहते हैं वे भला, प्रजा को राष्ट्रीयता की शिक्षा क्यों देने लगे? ये लोग जिस ध्येय से भारत में आये हैं, इसकी पूर्ति के लिए गुलाम बनाने वाली शिक्षा पद्धति जारी करें यह स्वाभाविक है पर प्रशास्ताओं को सावचेत होना चाहिए।

एक जमाना था जब समग्र भारतवर्ष में अपनी प्रजा को राष्ट्रीय शिक्षा दी जाती थी। इसी कारण राष्ट्र का मस्तक ऊंचा रहता था। जनता भी सुखशान्ति में रहती थी।

पौर्वात्य शिक्षण–संस्कृति तन मन को सवल–स्वस्थ वनाने की सर्वप्रथम आवश्यकता अनुभव करती है। जव कि आज की पाश्चात्य शिक्षण संस्कृति तन मन को वेचकर भी धन कमाने का शिक्षण देती है। अगर तन मन सवल और स्वस्थ होगा तो धन दौड़ता चला आएगा। इसके विपरीत अगर तन और मन अस्वस्थ एवं निर्वल हुए तो मुट्ठी का धन भी तो नहीं टिक सकता। और अगर टिके भी तो उनका कोई उपयोग नहीं हो सकता। जिस राष्ट्र में तन मन को स्वस्थ और सवल बनाने की शिक्षा–दीक्षा नहीं दी जाती और केवल धनार्जन के लिए तन मन को निछावर करना सिखाया जाता है, उस देश का उत्थान नहीं, पतन होता है। भारतवर्ष को गुलाम वनाने की यह चावी कार्ल जैसे शासनकारों ने अपने हाथ में ली और भारत के सपूतों को गुलामी की शिक्षा देकर चिरकाल के लिए गुलाम बना डाला। भारत के कोने–कोने में, आज बेकारी का जो भूत भारतीयों को भयभीत करके त्रास पहुंचा रहा है, उसका मुख्य कारण आज की दोषपूर्ण शिक्षाप्रणाली ही है। आज भारत का जीवनधन–युवक पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली के फेर में पड़कर नेस्तनाबूद हो गया है। आज का नौजवान जिसमें गर्म खून, असीम उत्साह और स्फूर्ति होनी चाहिए–निर्वल, निस्तेज, साहसहीन, अकर्मण्य, हतोत्साह और निराश नजर आता है। इसका कारण आज की दूषित शिक्षा प्रणाली के अतिरिक्त और क्या है? आधुनिक शिक्षा प्रणाली में मानसिक शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा को तनिक भी स्थान नहीं है। जब कि प्राचीनकाल में, भारत में शारीरिक, मानसिक, औद्योगिक, संगीत, वाद्य आदि वहत्तर कलाओं की शिक्षा दी जाती थी और इन कलाओं में कुशल मनुष्य ही शिक्षित माना जाता था। जिसने वहत्तर कलाएं सीखी होंगी वह क्या कभी धन के लिए दूसरों का मुंह ताकेगा? क्या वह नौकरी के लिए दर–दर भटकता फिरेगा? वहत्तर कलाओं का पण्डित स्वतन्त्र व्यवसाय करता है। कला शिक्षण से उसका दिल दिमाग ही ऐसा वन जाता है कि वह किसी की नौकरी या गुलामी नहीं कर सकता। कलाविद् का मानस सदा स्वाधीन होता है। वह किसी का वशवर्ती होकर नहीं जी सकता। आज का एम.ए. (M.A.) भले ही समस्त कलाओं का अधिपति (Master of Arts) गिना जाता हो, पर वास्तव में वह एक भी कला का पूर्ण पण्डित नहीं होगा। हां, वह कला की विवेचना करने में एक बड़ा सा पोथा रच सकता है, पर उसके जीवन में, कला का स्पर्श तक नहीं होने पाता। यही

कारण है कि वह कलाओं का मास्टर पचास साठ रुपया मासिक की कमाई के लिए दर–दर भटकता है। सच तो यह है कि आजकल कला की शिक्षा दी ही नहीं जाती, केवल गुलामी की शिक्षा ही दी जाती है। 'गुलामी–शिक्षा' के बदले कला की शिक्षा का प्रबन्ध करना प्रशास्ता–स्थविर का प्राथमिक और आवश्यक कर्त्तव्य है। महात्मा गांधी के दिग्दर्शन में हमारे यहां राष्ट्रीय विद्यापीठों की जो व्यवस्था की गई थी, वह शिक्षा के क्षेत्र में एक बहुमूल्य कदम था। यद्यपि उसमें भी कई–एक सुधारों को अवकाश था। खेद है कि अब उस ओर उतना अधिक ध्यान नहीं दिया जा रहा है। स्वतन्त्र भारत शिक्षापद्धति में आमूल सुधार करेगा।

यह कौन नहीं जानता कि आज की प्रजा ही कल देश की भाग्यविधात्री होगी? पर साथ ही यह जानने की जरूरत है कि उसे उन्नत बनाकर भाग्यविधात्री बनाने में ही मानवजाति का कल्याण है।

स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में थोड़ा कहा जा चुका है। यहां इतना और कह देना आवश्यक है कि मनुष्य समाज के भाग्यचक्र की धुरी स्त्री जाति है। उसे शिक्षित बनाने में थोड़ी–सी भी उपेक्षा सह्य नहीं होनी चाहिए। यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता, अर्थात् जहां स्त्रीजाति की पूजा होती है, वहां देवता रहते हैं। इस ऋषिवचन में स्त्रीजाति को सन्मान देने की जो उदात्त भावना विद्यमान है, उसे मूर्त्त रूप देना प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी का पवित्र कर्त्तव्य है।

स्त्री और पुरुष दोनों जीवन–रथ के चक्र हैं। इन दोनों चक्रों में से अगर एक चक्र असमान, टूटा–फूटा हुआ तो जीवनरथ आगे नहीं बढ़ सकता। आज हमारे जीवन–व्यवहार में अनेक प्रकार के जो विसंवाद दिखाई पड़ते है, उनका एक महत्त्वपूर्ण कारण जीवनरथ के चक्रों की असमानता भी है।

जैसे पुरुष जाति को शिक्षा–दीक्षा देने की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है, उसी प्रकार स्त्री जाति के लिए भी शिक्षा–दीक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

आज की बालिका भविष्य की माता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रोद्धार मे माता का स्थान कितना महत्वपूर्ण है? भविष्य में जो माता के पद को गौरवान्वित करेगी, आज की उस बालिका को कैसी शिक्षा मिलनी चाहिए, यह विचार करना प्रशास्ता का काम है। बालिकाओं को सिलाई, गुंथाई, अक्षरज्ञान, भाषाज्ञान, व्यवहारिकज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता है

पर पाकविद्या, बालसंगोपन आदि का सक्रिय ज्ञान देने की उससे भी अधिक आवश्यकता है। स्त्री जाति में सहिष्णुता, कोमलता और सेवापरायणता का गुण प्राकृतिक है। प्रशास्ताओं को चाहिए कि वह ऐसी योजना करें जिससे उनके प्राकृतिक गुणों का विकास हो और उनका मानवजाति की भलाई में उपयोग हो।

स्त्री शक्ति एक प्रचण्ड शक्ति है। इस प्रचण्ड शक्ति के सदुपयोग से विश्व का कल्याण साधा जा सकता है। नारी--जागरण के बिना राष्ट्रोद्धार की कल्पना भी मूर्त्त रूप धारण नहीं कर सकती। जो महाशक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का उद्धार कर सकती है, उसे दबाये रखने से उद्धार के बदले कितना अधःपतन होता है– यह बात आज के स्त्रीजीवन पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायेगी। आज का स्त्री जीवन पुरुषों के फौलादी पंजे के नीचे पामर बन गया है। आज स्त्रीजीवन मानों पुरुषों की वासना तृप्त करने का ही एक जीवित पुतला सा बन रहा है। सामाजिक रूढ़ियों के अंधकार में उस जीवन का तेज विलीन हो गया है। वास्तव में, स्त्री जाति में भी पुरुष के समान बुद्धि, शक्ति और तेजस्विता है। भारतीय साहित्य में, स्त्रीजाति के त्याग और उनकी अनुपम सेवा के अनेक आदर्श दृष्टांत उपलब्ध होते हैं। स्त्रीजाति की उपेक्षा करके अब तक कोई भी राष्ट्र समुन्नत नहीं बन सका है और न ही बन सकता है। स्त्री जाति के सहयोग से ही पुरुष जाति स्वपर का कल्याण कर सकती है। अतएव स्त्रीजाति की शक्ति विकसित करने के साधन प्रस्तुत करना, इस सम्बन्ध में जनता का पथ प्रदर्शित करना और स्त्रीशक्ति का राष्ट्रोद्धार के महान् कार्य में उपयोग करना प्रशास्तास्थविर का कर्त्तव्य है।

आज स्त्रीजाति की हीनावस्था पर दृष्टिपात करने से प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी को दुःख हुए बिना न रहेगा। अगर इस हीनावस्था के कारणों की जांच की जाये तो मालूम होगा कि स्त्रीजाति को समुचित शिक्षा न देना ही इस हीनावस्था का प्रधान कारण है।

भले ही थोड़े शहरों में, बालिकाओं की शिक्षा का थोड़ाबहुत प्रबन्ध हो, परन्तु ग्रामों में, जहां नारीजाति का जीवन सेवा पर अवलम्बित है, जरा भी व्यवस्था नहीं होती। इस कारण वे एक गांव से दूसरे गांव तक अकेली नहीं जा सकती और छोटे से छोटे कार्य में भी उन्हें पुरुष की अपेक्षा रहती है। वह दूसरे का मुंह ताकती बैठी रहती है। इस निर्भरता का अन्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि उन्हें व्यवहारिक शिक्षा दी जाय।

जहां कहीं नगरों में कन्याओं को शिक्षा दी जाती है वह प्रायः जीवन

विकास की नहीं वरन् जीवन विनाश की शिक्षा होती है। आज स्त्रीशिक्षा में विलासिता ऐसी आ चुकी है कि उसने शिक्षा का हेतु ही नष्ट कर दिया है। अक्सर इस शिक्षा से शिक्षित कन्या सेवा और संयम की मूर्त्ति बनने के बदले विलासिता की मूर्त्ति बन जाती है। यह स्त्रीशिक्षा की प्रणाली का दोष है। प्राचीन काल में स्त्रीशिक्षा का अभाव था, यह बात नहीं है। उस समय स्त्रियां 'स्त्रीशिक्षा' प्राप्त कर, पण्डित बनकर सुन्दर जीवन–व्यवहार चलाती थीं और आदर्श दाम्पत्य–जीवन का उदाहरण सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करती थीं। इतना ही नहीं, बड़ेबड़े पण्डितों के शास्त्रार्थ में निर्णायिका बनने का गौरव भी उन्हें प्राप्त होता था। कहते हैं, मंडनमिश्र शंकराचार्य जैसे दिग्गज विद्वानों के शास्त्रार्थ में मंडनमिश्र की पत्नी 'भारती' निर्णायिका बनी थी। कई दिनों के शास्त्रार्थ के पश्चात् विदुषी भारती ने निर्णय दिया था–'शंकराचार्य जीते और मेरे पतिदेव पराजित हुए।' इस दृष्टान्त से उस समय की स्त्री जाति की प्रामाणिकता और विनीतता पर भी प्रकाश पड़े बिना नहीं रहता।

आज अगर कोई स्त्री साधारण पढ़ना–लिखना सीख लेती है तो क्या पूछना बात? उसके खान पान में, रहन सहन और पहनावें में एकदम परिवर्तन हो जाता है। वह अपने आपको पढ़ी–लिखी साबित करने के लिए विदेशी महिलाओं की भांति विलासिता और फैशन में डूब जाती है। अन्धानुकरण की वृत्ति रूप शिक्षा का कुफल है।

दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए स्त्रियों को स्नेह, सद्भाव, सादगी, नम्रता, संस्कारिता आदि सद्गुण अपनाने चाहिएं। अपनी प्राचीन संस्कृति स्त्रीजाति को संस्कार और शिक्षण द्वारा स्त्रीजीवन को सुखमय बनाने की सलाह देती है। आज पाश्चात्य शिक्षा ने अपनी प्राचीन संस्कृति का आदर्श विनष्ट कर दिया है। आज वह शिक्षा दी जा रही है जिससे स्त्रीधर्म के अभ्युदय के बदले स्त्रीधर्म के आदर्श का अधः पतन हो रहा है।

प्रचलित शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन करके जब तक राष्ट्रीय पद्धति द्वारा प्रजाको शिक्षित–दीक्षित न किया जायेगा तब तक राष्ट्र के कल्याण की क्या आशा की जा सकती है? मगर यह तब हो सकता है जब राष्ट्र का शिक्षाविभाग प्रशास्ता स्थविर के हाथों में सौंप दिया जाय और उसी की सूचनाओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाय। शिक्षा विभाग जब राष्ट्र

के सूत्रधारों के हाथ में आएगा तभी हमारी अगली पीढ़ी राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व और प्रचलित शिक्षापद्धति की बुराइयां समझ सकेगी। तव प्रशास्ता स्थविरों की प्रेरणा से भावी प्रजा राष्ट्रोद्धार के कार्य में जुटेगी और राष्ट्र का मुख उज्ज्वल होगा।

5
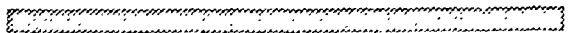
कुल–स्थविर
(कुल–थेरा)

भारतवर्ष विशाल देश है। इसी कारण सदा से यहां विभाजित शासन प्रणाली चली आई है। एक ही शासक सब कार्यों को भलीभांति सम्पन्न नहीं कर सकता इस दृष्टि से शास्त्र में कुलधर्म की और उसकी व्यवस्था करने वाले कुलस्थविर की व्याख्या की गई है।

कुलस्थविर दो प्रकार के होते हैं–(1) लौकिक कुलस्थविर (2) लोकोत्तर कुलस्थविर। कुलधर्म की समुचित व्यवस्था करने वाला अर्थात् किन कार्यों से कुल की उन्नति और किन से अवनति होगी, इस बात का विचार करके विधि निषेध करने वाला कुल–स्थविर कहलाता है। सच्चा कुलस्थविर कुलधर्म की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर देता है, मगर कुल को कलंक नहीं लगने देता। कुलस्थविर अपने कुल को प्रकाशित करने वाला सच्चा कुलदीपक होता है।

दीपक खुद जलता है, पर दूसरों को न जलाकर प्रकाशित करता है। इसी प्रकार जो स्वयं कष्ट सहता है पर कुल के किसी मनुष्य को कष्ट न पहुंचने देकर अपने जीवन–प्रकाश से सम्पूर्ण कुल को प्रकाशित करता है वह वास्तव में कुलदीपक कहलाता है। कुलदीपक बनना सरल नहीं है। कुलदीपक बनने के लिए अपने आपको तपाना होता है–जलाना पड़ता है और सारे कुल को उज्ज्वल बनाने के लिए आत्मज्ञान का प्रकाश प्रकट करना पड़ता है। जो व्यक्ति केवल बड़प्पन पाने के लिए कुलस्थविर का विरुद धारण करता है, कुलोद्धार के लिए कोई काम नहीं करता, वह कुलदीपक नहीं वरन् कुलांगार है। कुलांगार कुल को खाक कर डालता है। जब कि कुलदीपक कुल में उजाला करता है। सच्चा कुलदीपक ही कुल–स्थविर बन सकता है।

कुलस्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है–सारे कुल में कुटुम्बभावना का बीजारोपवस करना। जिस कुल में कुटुम्बभावना नहीं होती वह दीर्घजीवी नहीं होता। कुटुम्ब भावना कुलोद्धार का मूल है। कुल में कुटुम्ब भावना लाने के लिए कुलस्थविर को कुल के प्रत्येक सदस्य की सार–संभाल करनी पड़ती है। प्राचीन काल में, ओसवालों में कुलस्थविर पंच कहलाता था। ओसवालों को किस प्रकार रहना चाहिए, कैसा व्यवहार करना चाहिए और कुलधर्म की रक्षा के लिए किन–किन उपायों की योजना करनी चाहिए, आदि बातें वही पंच या कुलस्थविर तय करते थे। जिन्होंने यह कुल व्यवस्था भंग की है, उन्हें उसका दुष्परिणाम भी भोगना पड़ा है। कुलस्थविर की मौजूदगी में, कुल के सिद्धांतों के विरुद्ध मांस भक्षण और मदिरापान आदि दुर्व्यसनों का सेवन करने का तथा कुल की मर्यादा भंग करके बालविवाह, वृद्धविवाह, अनमेल विवाह आदि अनुचित कार्य करने का किसी को साहस नहीं होता था। अगर कोई कुल–मर्यादा भंग करता था तो उसे समुचित दण्ड दिया जाता था और उसका पूरी तरह अमल किया जाता था। कुलस्थविर इस बात का पूर्ण ध्यान रखते थे कि कुलमर्यादा का संरक्षण हो, कुल की उत्तम रीतियों का यथावत् पालन हो। कुलस्थविर पद का गुरुतर भार उठाना साधारण पुरुष के लिए सरल नहीं है। जिसने कुल की प्रतिष्ठा कायम रखने के योग्य अपना व्यक्तित्व बना लिया है वही व्यक्ति कुलस्थविर बन सकता है। वही कुलधर्म को दिपा सकता है।

पहले की तरह कुलस्थविर की व्यवस्था न होने से आज कन्याविक्रय, वरविक्रय, बालविवाह, वृद्धविवाह और अनमेलविवाह आदि अनाचार हो रहे हैं। इतना ही नहीं, वरन् इन कुलनाशक विवाहों मे बहुत–सा अंधाधुन्ध खर्च किया जाता है। आज समाज की जो अधोदशा दिखाई देती है उसका मूल कारण खोजा जायेगा तो ज्ञात होगा कि योग्य कुलस्थविर न होने से ही यह राक्षसी रिवाज अपना अस्तित्व रख रहे हैं और इनके साथ ही अनेक नवीन बुराइयां पैदा होती जा रही हैं, जिनके कारण कुलधर्म खतरे में पड़ता जाता है।

कुलस्थविर के अभाव में, प्रत्येक कुल में बेहूदे खर्च, बेहूदे व्यवहार और दिखावा बढ़ता जाता है। किसी समय दो–तीन सौ रुपये में विवाह का खर्च बखूबी चल जाता था, आज कुल धर्म की अव्यवस्था के कारण दो–तीन हजार खर्च करने पर भी कार्य नहीं चलता। कुल में निरर्थक खर्च बढ जाने से समाज में बेकारी बढ गई है। समाज का अधिकांश भाग गरीब है। वह

विवाह का भारी खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकता। नतीजा यह होता है कि उसे अविवाहित ही रहना पड़ता है। लाचारी से स्वीकार किया जाने वाला अविवाहित जीवन प्रायः भ्रष्ट हो जाता है और समाज में पापाचार की अभिवृद्धि होती चली जाती है और उसका कुफल समाज और कुल को भोगना पड़ता है।

कुल की व्यवस्था अगर ठीक हो तो कुल में बालविवाह आदि बुराइयां कैसे घुस सकती हैं? कुल को उज्ज्वल बनाने वाला कुलस्थविर हो तो हजारों पर पानी फेर कर विलासिता का बीजारोपण करने वाले और सदाचार के शत्रु वेश्यानृत्य आदि घृणित रीति रिवाज कैसे चालू कर या रह सकते हैं? जहां भावी प्रजा में इस प्रकार कुसंस्कारों का सिंचन किया जाता है वहां कुलोद्धार की क्या आशा की जा सकती है? भावीप्रजा में सत्संस्कार डालना कुलस्थविर का काम है।

सम्पूर्ण कुल की व्यवस्था करना और कुल को उन्नत बनाने वाले रीतिरिवाजों को प्रचलित करना कुलस्थविर का उत्तरदायित्व है। कुलस्थविर को इस बात की भी सावधानी रखनी पड़ती है कि कुल का खानपान, रीतिनीति और आचार–विचार शुद्ध रहे। आजकल कुलधर्म का ठीक ठीक पालन न करने के कारण ही विवाह के इच्छुक युवकों को मजबूर होकर अविवाहित जीवन बिताना पड़ता है और साठ–साठ वर्ष के जराजीर्ण बूढे, धन के बल पर आशाभरी कुमारिकाओं के साथ शादी कर लेते हैं। वृद्ध थोड़े ही दिन में जीवनलीला समाप्त करता है और वह बालिका, युवावस्था से पहले ही वैधव्य का भोग बन जाती है। इस प्रकार एक ओर बूढे के विवाह होते हैं और दूसरी ओर नन्हे–नन्हे बालक विवाह की फांसी पर लटका दिये जाते है। इन दोनों कारणों से समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ रही है। इन विधवाओं में कुछ तो इतनी अबोध होती हैं कि उन्हें अपनी स्थिति का भान ही नही होता ऐसी अबोध कुमारिकाओं को विधवा बनाने का कारण कुलमर्यादा का उल्लंघन और कुलस्थविर के संरक्षण का अभाव है।

आज बारात सजा कर, माल उड़ाने के लिए, बड़ी–बड़ी बड़ाई मारने वाले स्थविर बरसाती मेंढकों की तरह निकल पड़ते हैं, मगर यह कौन देखता है कि विवाह न्याययुक्त है या नहीं? प्रीतभोज तो पहले भी होते थे, वे प्रेम बढ़ाने के लिये। उस समय जबर्दस्ती प्रीतिभोज नहीं कराये जाते थे। आज जो जातीय भोज है वे जैसे जाति का दण्ड वसूल करने के लिए कराये जाते

हैं। लोक जातीय भोज करने के लिए अनुचित दवाव डालते हैं, पर इस वात का विचार ही नहीं करते कि बाद में उनकी क्या दशा होगी? जो स्थिति प्रीतिभोज की है, वही वल्कि उससे बदतर मृत्युभोज की है। मृत्युभोज से कुल की धनसम्पत्ति और शरीरसम्पत्ति का अत्यन्त ह्रास होता है। पर सच्चे कुलस्थविर के अभाव में यह समझावे कौन? कुलस्थविर न होने से जहां–तहां कुल की मर्यादाएं भंग हो रही हैं, खोटे रिवाज वढ़ रहे हैं, फिजूलखर्ची बढ़ती जाती है। कुल की ठीक व्यवस्था न होने से समाज टुकड़े–टुकड़े में बंटता जाता है और सामाजिक जीवन दुःखमय बनता जाता है। कुलधर्म की छीछालेदर हो रही है।

लौकिक कुल का उद्धार करने के लिए लौकिक कुलस्थविर की आवश्यकता है, उसी प्रकार लोकोत्तर कुलस्थविर की भी आवश्यकता रहती है। साधुसमाज लोकोत्तर कुल है। साधुसमाज के नियम–पालन की सारी जिम्मेदारी गुरु पर रहती है अतएव गुरु लोकोत्तर कुलस्थविर हैं। शिष्यवर्ग को आचारधर्म का शिक्षण देना, उनकी उचित आवश्यकताएं पूर्ण करने के लिए साधन जुटाना, यह गुरु का कर्त्तव्य है। शिष्यों को विशिष्ट शिक्षा देकर विद्वान बनाना भी गुरु का ही कर्त्तव्य गिना गया है। अगर कोई गुरु अपने दस–बीस शिष्यों को ही शिक्षण देता है और शेष शिष्यों को शिक्षा नहीं देता तो वह गुरु कुलस्थविर नहीं कहला सकता। जो कुलस्थविर बालकों को बालक के योग्य और वृद्धों को वृद्धों के योग्य शिक्षा देता है और उनकी योग्यतानुसार सम्भाल रखता है, उस कुलस्थविर का कुल सदा पवित्र रहता है।

जैसे लौकिक कुलस्थविर कुलधर्म के पालन करने–कराने की सम्पूर्ण व्यवस्था करता है, वैसे ही जो गुरु अपने कुल के सब साधुओं को कुलधर्म के पालन में दृढ़ बनाता है वह लोकोत्तर कुलस्थविर है। लोकोत्तर कुलस्थविर के बनाये नियमों को भंग करने वाले के लिए दण्डविधान की भी व्यवस्था है। उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। इनमें दसवां प्रायश्चित्त अन्तिम दण्ड है। यह दण्ड उसे दिया जाता है जो कुल में रहता हुआ कुल का नाश करता है, संघ में रहता हुआ संघ को मटियामेट करता है अथवा गण में रहकर गण का नाश करता है।

साधु अगर महाव्रतों का समूल भंग करे तो उसके लिए बड़ी से बड़ी सजा नवीन दीक्षा देना है। पर गण में भेद करने वाले के लिए दसवां प्रायश्चित्त है। इसका प्रधान कारण यह है कि व्यक्तिगत अपराध करने वाला

साधु अकेला आप ही भ्रष्ट होता है, मगर कुल, संघ या गण में भेद डालने वाला सारे कुल, संघ या गण को हानि पहुंचाता है। अतएव याद रखना चाहिए कि भूलचूक से भी कुल को छिन्न भिन्न करने वाला साधु–दुष्कर्म का बन्धन करता है और सम्पूर्ण कुल का अपराधी बनता है।

कुल में कुलीनता प्रकट करना और कुल को उज्ज्वल बनाना कुलस्थविर का धर्म है। कुलदीपक बनने के लिए कुलस्थविर को आत्मभोग देकर अपने ज्ञान के प्रकाश से दूसरों को आलोकित करना चाहिए। ऐसे व्यक्तित्व से विभूषित पुरुष ही कुलस्थविर के विरुद के योग्य होता है।

6
गणस्थविर—गणनायक
(गण—थेरा)

मानवकुल अनेक छोटे—छोटे कुटुम्बों में बंटा हुआ है। इन सब कुटुम्बों में परस्पर प्रेम सम्बन्ध तथा योग व्यवस्था कायम करने के लिए सब कुटुम्बों का एक केन्द्रीय मण्डल स्थापित किया जाता है। वह मण्डल 'गण' कहलाता है। उसे 'कुटुम्बसमूह' भी कह सकते हैं। गण का मुख्य काम कुलों की मर्यादा की रक्षा करना होता है। उन्हें संगठित कर एक विशाल शक्ति का निर्माण करना होता है। 'गण' में विभिन्न कुलों की विभक्त शक्ति संयुक्त हो जाती है। जो व्यक्ति इस गणतन्त्र का नियन्त्रण और संचालन करता है, वह गणस्थविर या गणनायक कहलाता है।

प्राचीन काल में गणतन्त्र की प्रणाली अच्छी खासी प्रचलित थी, भगवान् महावीर के समय अठारह गणराज्य थे और वे सब आपस में संगठित होकर रहते थे। इन अठारह गणराज्यों का स्थविर—गणनायक—राजा चेटक था।

जैन शास्त्रों में चेटक का जो परिचय मिलता है, उससे स्पष्ट आभास मिलता है कि गणस्थविर कैसा होना चाहिए और उसका कर्त्तव्य क्या है?

भारत देश के उत्तर में, जो आजकल बिहार प्रांत कहलाता है, वैशाली नामक प्रसिद्ध नगरी थी। यह नगरी गणराज्य के ही अन्तर्गत थी। इस गणराज्य का अधिनायक चेटक था। उस समय वैशाली गणराज्य के समान और भी अनेक गणराज्य थे, जिनमें कुसीनारा, पावा, कुण्डपुर आदि प्रधान थे। वह सब गणराज्य गणतन्त्र या प्रजातन्त्र (Republic) राज्य थे। उस समय इन गणराज्यों का नियंत्रण और संचालन चेटक के हाथ में था।

इन गणतन्त्रों का संचालन आधुनिक प्रजातन्त्र राज्यों की भांति होता था। इन सब गणराज्यों में क्षत्रिय कुल के मुखियों की सभा (कौंसिल) मुख्य काम करती थी। इस गणतन्त्र में जो—जो जातियां सम्मिलित थीं, वे अपनी ओर से एक प्रतिनिधि चुनकर कौंसिल में भेजती थीं।

गणतन्त्र की सभा की व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। इस सभा में एक शासन प्रज्ञापक नियुक्त होता था, जिसका काम था आये हुए सदस्यों को उनका स्थान बतलाना। सदस्यों की उपस्थिति पर्याप्त होने पर–कोरम पूरा होने पर ही कोई भी प्रस्ताव सभा के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यह क्रिया 'नत्ति' (ज्ञप्ति) कहलाती थी। विज्ञप्ति होने के अनन्तर प्रस्तुत प्रस्ताव पर विचार–विनिमय किया जाता था। तदनन्तर उसे स्वीकृत करने या अस्वीकृत करने के सम्बन्ध में, प्रत्येक सदस्य से तीन बार पूछा जाता था। सभी सदस्य सहमत होते तो प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाता था। मतभेद होने की हालत में मतगणना की जाती थी। गणतन्त्र की इस सभा में नियमोपनियम भी बनाये जाते थे और उनका बराबर पालन किया जाता था।

गणतन्त्र की सभा बहुमत से कार्य करती थी। सभा जिस प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेती, उसे कार्य रूप में परिणत करने वाला गणनायक (Chief Magistrate) कहलाता था। गणनायक को सहायता देने के लिए उपराजा, भण्डारी, सेनापति आदि भी नियत किये जाते थे। गणतन्त्र का न्यायालय आदर्श ढंग का था, जहां सस्ता, सच्चा और शीघ्र न्याय किया जाता था। गणतन्त्र के सदस्यों की जहां सभा होती थी वह स्थान (Town hall) कहलाता था।

गणनायक चेटक गणराज्यों की सुव्यवस्था करने में कुशल था। सभी गणराज्यों के अधिनायक उसका नेतृत्व स्वीकार करते और उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे। चेटक स्वयं आढ्य, दीप्त और अपराभूत था। वह न किसी से दबता था, न किसी से प्रभावित होता था। उसकी अप्रतिम प्रतिभा के सभी कायल थे उसके आगे सबको झुकना पड़ता था। प्रजा को सुखी बनाने के लिए वह कोई शक्य प्रयत्न बाकी नहीं रखता। अन्याय का वह प्रचण्ड विरोध करता था और न्याय के सामने सदा नम्र रहता था। इन्हीं सब गुणों के कारण दूसरे गणराज्यों के अधिनायक उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे।

एक बार महाराज चेटक को, गणनायक की हैसियत से एक अत्यन्त अप्रिय कर्त्तव्य अदा करना पड़ा था। उसे मगध के सम्राट के साथ युद्ध करना अनिवार्य हो गया था। बात यह थी कि महाराज चेटक के भानेज मगध सम्राट कोणिक ने अपने छोटे भाई विहल्लकुमार के हिस्से में आया हार और हाथी छीनने के लिए उसके साथ अन्याय किया। विहल्लकुमार घबरा कर चेटक की शरण आया। चेटक ने विहल्लकुमार की बात शान्तिपूर्वक सुनी और कहा कोणिक अन्याय के मार्ग पर है। हार–हाथी पर उसका किंचित् भी अधिकार नहीं है।

मगधाधिपति कोणिक और विहल्लकुमार दोनों राजा चेटक के भानेज थे। एक न्याय–पथ पर था, दूसरा अनीति की राह पर। अन्याय का प्रतिकार करना और न्याय का संरक्षण करना गणतन्त्र का उद्देश्य है। आज गणतन्त्र के उद्देश्य की रक्षा का प्रसंग उपस्थित था। चेटक ने सब गणराज्यों के अधिनायकों को एकत्र किया और गणधर्म के सामने उपस्थित कर्त्तव्य को अदा करने के लिए समझाया। सभी गणतन्त्रों के अधिनायकों ने, सब कुछ होम कर भी अन्याय का प्रतीकार और शरणागत के प्रति न्याय करने का निश्चय किया।

गणनायक चेटक के आगे आज दोहरा कर्त्तव्य था। एक ओर गणधर्म की रक्षा और दूसरी तरफ भानेज था। पर चेटक ने अन्याय के लिए कोणिक का पक्ष न लिया यद्यपि वह प्रचण्ड शक्तिका धनी था। उसने निःसहाय विहल्लकुमार का पक्ष लिया जिसमें बड़ा खतरा और बड़ी–मुसीबतें थीं। मगर वह वीर ही कैसा जो खतरे से डरता है और मुसीबतों से डरकर भाग खड़ा होता है? यह घटना स्पष्ट बतलाती है कि चेटक कितना निष्पक्ष अैर न्यायप्रिय था?

गणनायक चेटक ने दो तीन बार कोणिक को आपस में समझौता करने का सन्देश भेजा, पर सत्ता के उन्माद में भ्रातृ–प्रेम को भूल जाने वाले मगधपति कोणिक ने गणनायक चेटक की शांतियोजना को दुर–दुरा दिया और युद्ध के लिए तैयारी करने का सन्देश भेज दिया। अन्त में भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध का परिणाम भले ही कोणिक के पक्ष में रहा मगर गणतन्त्र ने अपने उद्देश्य के संरक्षण के लिए जूझकर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा की। चेटक ने भी गणनायक का कर्त्तव्य पालन किया।

उल्लिखित उदाहरण से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि गणतन्त्र कैसा होना चाहिए? उसका क्या कर्त्तव्य है और उत्तरदायित्व है?

गणनायक को गणतन्त्र की व्यवस्था के लिए और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए समय और शक्ति का भोग चढ़ा देना पड़ता है।

गणनायक को अपने साथी गणराज्यों के अधिनायकों का हृदय जीतने के लिए प्रेमभाव सीखना पड़ता है और व्यक्तित्व प्रकट करना पड़ता है।

गणनायकों के अन्याय का प्रतिकार और न्याय का प्रचलन करने के लिए सदा सक्रिय प्रयत्न करना पड़ता है।

गणनायक को गणधर्म की रक्षा के लिए प्राणों का भी उत्सर्ग करने योग्य आत्मबल प्राप्त करना पड़ता है।

गणनायक को गणधर्म की प्रष्ठिठा के सामने स्वजन का भी मोह त्यागना पड़ता है।

गणनायक को गणतन्त्र की शरण में आये हुए किसी भी आश्रित की तन, मन और धन से रक्षा करनी पड़ती है।

गणनायक को सब प्रकार के पक्षपात का त्यागकर निष्पक्ष और न्यायप्रिय होकर रहना पड़ता है।

गणनायक को प्रजा के सुख–दुख की रात–दिन चिन्ता करनी पड़ती है।

हम यह देख चुके हैं कि गणधर्म की प्रतिष्ठा के लिए गणनायक को कितना आत्मत्याग करना पड़ता है। पर इसके अतिरिक्त गणधर्म को अधिक व्यवस्थित और व्यवहार्य बनाने के लिए कई बार उसमें योग्य परिवर्तन भी गणनायक को करना पड़ता है। 'गण' के नियमों में परिवर्तन और परिवर्धन करने से बहुत वार गणतन्त्र के राजा अप्रसन्न भी हो जाते हैं। पर सच्चा गणनायक किसी की प्रसन्नता देखकर फूलता नहीं और किसी की अप्रसन्नता से घबराता भी नहीं है। गणनायक की चिन्ता का मुख्य विषय होता है–गणधर्म का व्यवस्थित संचालन और नियंत्रण। प्रजा के सुख चैन की चिन्ता गणनायक सदा किया करता है। जो गणनायक 'गणतन्त्र' में अमुक परिवर्तन करने से अमुक नाराज हो जायेगा, यह सोचकर योग्य परिवर्तन करते डरता है, वह 'गणस्थविर' पद को सुशोभित नहीं कर सकता। सच्चा गणनायक वही है, जो देश–काल के अनुसार नियमोपनियमों में योग्य परिवर्तन करके गणतन्त्र को व्यवस्थित बनाता है और ऐसा करके प्रजा की सुखशान्ति बढ़ाता है।

लोग गर्मी के मौसम में बारीक कपड़े पहनते हैं और सर्दी के दिनों मे मोटे तथा गर्म कपड़े पहनते हैं। ऋतु के अनुसार यह परिवर्तन कल्याणकारी माना जाता है। इसी प्रकार गणतन्त्र में भी देश–कालानुसार परिवर्तन करना आवश्यक है। जिस कुएं में पुराना पानी नहीं निकलता और जिसमें नवीन नहीं आता, उसका पानी सड़ जाता है। वृक्ष अपने पुराने पत्ते फैंक देते हैं। और नये धारण करते है। वृक्ष में अगर यह परिवर्तन न हो तो वह टिक नहीं सकता। जैन शास्त्रों में प्रत्येक वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक मानी गई है। सारांश यह है कि गणनायक को गणधर्म में योग्य परिवर्तन करना चाहिए।

गणनायक अगर समय को पहचानने वाला और विवेकवान् न हुआ तो गणधर्म में किया गया परिवर्तन व्यवस्था के बदले अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है। अतएव गणनायक को देश–काल का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। सच्चा गणस्थविर गणतन्त्र की बिखरी शक्ति को एकत्र करके गणधर्म की व्यवस्था में उसका उपयोग करता है। वही गणस्थविर पद को विभूषित करता है।

7

संघ–स्थविर

(संघ–थेरा)

जैन–शासन में संघ का महत्वपूर्ण स्थान है। संघ अर्थात् जैनशासन। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका यह चतुर्विध संघ है। चतुर्विध संघ की प्रतिष्ठा में धर्म की प्रतिष्ठा है क्योंकि चतुर्विध संघ पर ही धर्म टिका हुआ है। जिस संघ को आधार बनाकर धर्म टिका है, वह संघ ही अगर शिथिल होगा तो धर्म में शिथिलता कैसे न आएगी? इसलिए संघ की सुव्यवस्था कायम रखने के उद्देश्य से शास्त्रकारों ने संघस्थविर की आवश्यकता प्रकट की है।

सकल संघ का संचालन करना अर्थात् चतुर्विध संघ की समुचित व्यवस्था करना ही संघस्थविर का प्रधान कर्त्तव्य है।

संघ को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है लौकिक संघ और लोकोत्तर संघ। श्रावक और श्राविका लौकिक संघ के सभ्य हैं तथा साधु और साध्वी लोकोत्तर संघ हैं। लौकिक संघस्थविर लौकिक संघ की व्यवस्था करता है और लोकोत्तर संघस्थविर लोकोत्तर संघ की।

संघ में श्रावक और श्राविका का स्थान समान है। दोनों के पारस्परिक सहकार के बिना कोई भी कार्य व्यवस्थित नहीं हो सकता। लौकिक संघ के इन दोनों महत्व के अंगों में से कोई एक अंग लंगड़ा बन जाय या बना दिया जाय तो लौकिक संघ स्वयं लंगड़ा बन जायेगा। उसकी प्रगति रुक जायेगी।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र को जीवन में उतारने के लिए श्रावक और श्राविका दोनों सक्रिय प्रयत्न करें तो लौकिक संघ की उन्नति हुए बिना नहीं रह सकती। लौकिक संघ की व्यवस्था का मुख्य आदर्श लौकिक जीवन को व्यवस्थित और आदर्श बनाना है पर जीवन का आदर्श संघस्थविर के बिना समझावे कौन?

संघस्थविर अगर संघ के नियमोपनियम के अनुसार संघ की

व्यवस्था करे तो संघ उन्नत बनता है। पर संघ की ठीक व्यवस्था करने के लिए स्थविर को अपने निज के जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्थान देकर, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना पड़ता है। संघस्थविर जब प्रभावशाली और दूरदृष्टा बनता है, तब संघ प्रगति के पथ पर अवश्य प्रयाण करता है। आज सच्चे संघस्थविर के अभाव में जैसा चाहिए वैसा संघ का विधान दृष्टिगोचर नहीं होता । इस कारण संघजीवन भी अव्यवस्थित हो गया है। संघस्थविर के अभाव में श्रावक–श्राविका का जीवन क्षीण हो रहा है। इनका यथोचित विकास नहीं हो रहा है। अतएव संघस्थविर को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे श्रावक–श्राविका के जीवन का विकास हो सके। इसी लक्ष्य को समाने रखकर संघ के हित का दृष्टिबिन्दु ही होना चाहिए। संघस्थविर को द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार संघ के विधान में परिवर्तन करके संघ के नियमों को व्यवहार में लाना चाहिए और संघ के उत्कर्ष के लिए प्राणपण से उद्योग करना चाहिए।

संघ की उन्नति के लिए सुन्दर संगठन की सर्वप्रथम आवश्यकता है। संघ संगठित होगा तो उसका संचालन ठीक–ठीक होगा इसमें जरा भी सन्देह नहीं। संघस्थविर अगर समयज्ञ और धर्मज्ञ न हुआ तो संघ की यथोचित व्यवस्था न हो सकेगी और संघ को क्षति पहुंचेगी।

संघस्थविर को भूलना नहीं चाहिए कि उसका उत्तरदायित्व एक सेनापति से भी अधिक है। सेनापति अगर अवसर कुशल न हो तो सेना उसके काबू में नहीं रहती। इसी प्रकार अगर संघ स्थविर समयज्ञ और धर्मज्ञ न हो तो सारा संघ उल्टे रास्ते पर चला जा सकता है और इससे संघ को भारी धक्का लग सकता है। अतः संघस्थविर प्रभावशाली, दूरदर्शी और निस्वार्थ होना चाहिए।

जैसे लौकिक स्थविर का काम लौकिक संघ की व्यवस्था करना है उसी प्रकार लोकोत्तर संघ–स्थविर का काम लोकोत्तर संघ की सुव्यवस्था करना है। संघ में किसी प्रकार असन्तोष, विग्रह या मनोमालिन्य उत्पन्न न हो, इस बात की संघस्थविर को खूब सावधानी रखनी पड़ती है। अगर कोई संघ में भेद करने की या विग्रह पैदा करने की चेष्टा करता है तो उसे दण्ड देने का अधिकार स्थविर को है। संघ में शान्ति कायम करने का प्रयत्न करना स्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है। जो पुरुष त्याग और सेवाभाव के साथ सकल संघ का संचालन करता है और संघ की उन्नति के लिए दत्तचित्त रहता है, वह अपने संघस्थविर के पद को उज्ज्वल करता है।

8

जातिस्थविर—समाजस्थविर

(जाति—थेरा)

मनुष्य, पशु पक्षी आदि किसी भी जीवधारी का सूक्ष्म अवलोकन कीजिए, स्पष्ट प्रतीत होगा कि प्रत्येक प्राणी अपना सजातीय सहचर खोजता है। इसी सजातीय सहचर्य से समाज की उत्पत्ति होती है। समाज में रहकर ही प्राणी अपना जीवन सुखमय बनाते हैं। चूंकि मनुष्य सब प्राणियों में अधिक विवेकशील है अतएव मनुष्य समाज भी अधिक श्रेष्ठ है। पशुओं के समूह को 'समाज' कहते हैं और मनुष्यों का समूह समाज कहलाता है। भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से समाज का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

'मनुष्यजातिरेकैव' इस कथन के अनुसार मनुष्य जाति एक है। इसी प्रकार पशुजाति एक है, पक्षीजाति एक है। किन्तु पक्षी जाति में जैसे मोर, तोता, कौवा आदि का, पशुजाति में घोड़ा गाय, भैंस आदि अनेक उपजातियां हैं, इसी प्रकार मानवजाति एक होने पर वर्णभेद और जातिभेद के कारण अनेक उपजातियों में बंटी है। फिर भी यह न भूलना चाहिए कि पशुओं और पक्षियों में जो उपजातियां हैं, वह प्राकृतिक हैं, क्योंकि उनकी आकृति आदि में जन्मजात भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य जाति में ऐसा कोई भी प्राकृतिक भेद नहीं है। मनुष्यजाति की वर्णगत भिन्नता सामाजिक सुविधा के लिए कल्पित की गई है।

समाज, व्यक्ति नहीं है। समाज पारस्परिक सुविधा के लिए व्यक्तियों द्वारा निर्मित एक तन्त्र है। अपना और अपनी जाति का तन्त्र व्यवस्थित चलाने के लिए तथा अपने द्वारा खड़े किये हुए समाज को सुखी बनाने के लिये समाज की व्यवस्था की गई है।

व्यक्ति और समाज दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। व्यक्तियों के

आकार पर समाज टिका हुआ है या समाज के सहारे व्यक्ति जी रहा है, यह कहना कठिन है। फिर भी यह निश्चित है कि व्यक्ति के उत्थान में समाज का उत्थान है और व्यक्ति के विनाश में समाज का विनाश सन्निहित है।

सम्पूर्ण समाज का तन्त्र व्यक्ति के हाथ में है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक अंग है और समाज व्यक्तियों से वना है। प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मैं समाज का हूं और समाज मेरा है। जहां इस प्रकार की समाजभावना–जातिभावना विद्यमान रहती है, समझना चाहिये कि वह समाज या जाति, प्रगति के पथ पर है।

कुटुम्ब या जाति की सुचारु व्यवस्था करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति वर्ग की स्थापना करता है। पर वह वर्ग अगर कुटुम्ब, समाज या जाति में वर्गविग्रह या बाड़ाबन्दी खड़ा करते हैं तो मानना चाहिये कि वर्गों ने कुटुम्ब की, समाज की अथवा जाति की व्यवस्था करने के बदले उनमें अव्यवस्था उत्पन्न की है और वे रक्षण करने के बजाय भक्षण कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में समाज या जाति का विधान सुधारना या नया गढ़ना जातिस्थविर का कर्त्तव्य हो जाता है। जो मनुष्य समाजोत्थान के लिये तन–मन–धन से सतत प्रयत्न करता है और समाज का सुचारु रूप से नियन्त्रण और संचालन करता है, वह व्यक्ति समाजस्थविर कहलाता है। समाज–स्थविर को सदा स्मरण रखना चाहिये कि वह समाज का सेवक भी है और नायक भी है।

समाज और जाति में किस प्रकार के रीति–रिवाजों का प्रचलन करने से जाति या समाज का हित होगा और किन रिवाजों को बन्द करने से समाज का उत्कर्ष होगा, इस बात पर देश–काल के अनुसार विचार करना और उस विचार को क्रिया का रूप देना समाजस्थविर का कर्त्तव्य है।

समाज या जाति में कितने मनुष्य बेकार हैं, कितने दुःखी हैं, कितने अज्ञानी हैं और किस मार्ग का अवलम्बन करने से जाति में ज्ञान, उद्योग एवं रोजगार की व्यवस्था हो, आदि समाज के व्यवहार–विषयक एवं विवाह–विषयक विचारणीय प्रश्नों को सुलझाना जातिसेवक का खास कर्त्तव्य है।

परिपक्व बुद्धिवाला कर्त्तव्यपरायण और विचारशील पुरुष जाति की सेवा बजा सकता है। उतावला, बातूनी और झगड़ाखोर मनुष्य जाति की सच्ची सेवा नहीं कर सकता। समाज में बहुतेरे व्यक्ति ऐसे होते हैं जो जाति–सेवक को हतोत्साह करने का उद्योग करते हैं। ऐसे प्रसंग पर समता एवं धैर्य धारण कर कर्त्तव्य में जुटे रहने में जातिसेवक की शोभा है।

प्रत्येक जाति में अनुभवी जातिसेवकों की बहुत आवश्यकता है। अगर जाति में या समाज में अनुभवी और विचारक व्यक्ति न हो तो अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की आशंका रहती है। युवक-हृदय जोश में आकर कभी-कभी ऐसे काम को उठा लेते हैं जिसे समाज अपनाने को तैयार नहीं होता। अतएव साठ वर्ष तक समाज या जाति का अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् ही व्यक्ति समाजसेवक बनकर सफलता प्राप्त कर सकता है।

आज अनुभवहीन मनुष्य भी समाजसेवक का पद ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाते हैं। पर जब समाज व्यवस्था करने का दुःसाध्य कार्य सिर पर आ पड़ता है, तब दूर खिसक जाते हैं। अतएव आज अनुभवी जातिसेवक न होने के कारण ही समाज में अव्यवस्था दिखाई पड़ती है।

युवकवर्ग पर आज यह आरोप लगाया जाता है कि वे समाज की स्थिति सम्बन्धी अज्ञान के कारण समाजोद्धार के नाम पर समाज की हानि कर रहे हैं। पर वास्तव में यह बात एकान्त सत्य नहीं है। इसके विपरीत अनेक वृद्ध, युवकों की अपेक्षा अधिक विचारहीन और उच्छृंखल दिखाई देते हैं। वे कुरूढ़ियों को पकड़े बैठे रहते हैं और 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' की नीति का अनुसरण करके समाज का अहित करते हैं। जब युवक उन कुरूढ़ियों का उच्छेद करने की बात कहते हैं तो वे खफा हो जाते हैं। उन्हें इतना विचार नहीं कि खराब रूढियों के कारण जाति या समाज का अधःपतन हो रहा है। सच्चे समाजसेवक हों तो वे युवकों और वृद्धों को समाजोद्धार का मार्ग बता सकते हैं, पर जहां समाजसेवक का ही अभाव हो, वहां समाजसुधार की क्या कथा?

समाजसेवक के अभाव में जहां देखो वहीं युवक बेकार और आदर्शहीन होकर इधर-उधर भटकते फिरते हैं। सचमुच समाज में बड़ी दुर्व्यवस्था है। जब तक समाज की यह दुर्व्यवस्था दूर न की जाय और सुव्यवस्था स्थापित न की जाय, तब तक समाजसुधार की आशा नहीं रखी जा सकती।

लौकिक जातिस्थविर के समान लोकोत्तर जातिस्थविर भी होता है। लोकोत्तर जाति के नियमोपनियम पढ़ना और उनका पालन कराना, तथा देश-काल के अनुसार लोकोत्तर जाति में संशोधन करके साधुसमाज को

प्रगति के पथ पर ले जाना और इस प्रकार जनसमाज का हित साधन करना लोकोत्तर जातिस्थविर का कर्त्तव्य है।

सारांश यह है कि जाति का सुधार करने के लिए प्रत्येक संभव उपाय काम में लाकर समाज का उद्धार करना समाजसेवक का कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य पालन में समाज, जाति और धर्म का कल्याण है।

9

सूत्र–स्थविर

(सुत्त–थेरा)

न हि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमिह विद्यते।

जगत् में ज्ञान के समान कोई भी दूसरी वस्तु पवित्र नहीं है। जल से शरीरशुद्धि की जा सकती है, पर जीवनशुद्धि–आत्मशुद्धि के लिए तो ज्ञान ही चाहिए। ज्ञान अन्तर–चक्षु है। आन्तरिक चक्षु के प्रकाश से अज्ञानान्धकार दूर भागता है और आत्मा की ज्योति प्रकट होती है। जो व्यक्ति अपने ज्ञान–चक्षु का प्रकाश, अज्ञान अंधकार में भटकने वाले प्राणियों को दान करता है और उन्हें सन्मार्ग बतलाता है, वह ज्ञानमार्ग का दाता कहलाता है। वह शास्त्र के शब्दों में 'सूत्रस्थविर' कहा गया है। 'सूत्र' का अर्थ सिर्फ सूत्र को बांच जाना या पढ लेना मात्र नहीं है। 'सूत्र' का अर्थ है वस्तुस्वरूप को अपने अनुभव में उतार कर उसका विवेक करना। जो व्यक्ति सूत्रप्ररूपित वस्तु को अनुभव में उतार कर उसे आत्मसात् कर लेता है और अपने अनुभव का जनसमाज में प्रचार करता है वह 'सूत्रस्थविर' कहलाता है। 'सूत्र' का पाठ कर लेना और सूत्रज्ञान को अनुभव में उतारना दोनों भिन्न–भिन्न वस्तु हैं।

सूत्र के शब्दों का पारायण कर लेना सरल है, पर उसे अनुभव में उतारना कठिन है। बर्षो के बर्ष लगाकर अनुभवों का प्रयोग करते करते अन्त मे सूत्र ज्ञानों का विवेक प्रगट होता है तभी सूत्र की आत्मा समझ में आती है। जन समाज को सूत्र की आत्मा रहस्य सार समझाना और उसके प्रखर के लिए यथा शक्ति उद्योग करना सूत्र स्थविरों का कर्त्तव्य है। सूत्र ज्ञान का प्रचार करने के लिए सूत्रस्थविर सर्वप्रथम जनता को श्रद्धा, आत्मविश्वास की उपयोगिता समझाता है। श्रद्धा, ज्ञान की भूमिका है। सूत्रस्थविर जब समझता है कि जनसमाज में ज्ञान की भूमिका श्रद्धा मजबूत हो गई है, तब वह ज्ञान

की महत्ता समझाता है। तदनन्तर वह ज्ञान को क्रिया के रूप में अवतरित करने की प्रेरणा करता है। सूत्रस्थविर बराबर समझता है– **श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्'** अर्थात् श्रद्धावान् व्यक्ति ही सूत्रज्ञान का अधिकारी है। जिस व्यक्ति की जिज्ञासावृत्ति जागी नहीं है, जो सुनने के लिए उत्सुक नहीं हुआ है, जो सचमुच 'श्रावक' नहीं बना है, वह व्यक्ति ज्ञानोपार्जन किस प्रकार कर सकता है? अतएव सूत्र स्थविर सर्वप्रथम, ज्ञान–प्रचार के लिए जनसमाज में श्रद्धाबुद्धि और जिज्ञासावृत्ति जागृत करता है और फिर ज्ञान का उपदेश करता है। अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयात्मा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

अनुभववृद्ध और ज्ञानवृद्ध सूत्रस्थविर, सूत्रधर्म के यथावत् प्रचार और पालन करने कराने की सदैव चिन्ता रखता है। सूत्रज्ञान का विशेष प्रचार करने के लिए वह जगह–जगह घूम कर उपदेश देता है। अगर कोई जिज्ञासु पुरुष, सूत्रधर्म के सम्बन्ध में श्रद्धाबुद्धि से किसी प्रकार की शंका करता है तो वह शंका का समाधान करता है। यह सब सूत्रस्थविर के कर्त्तव्य हैं।

आज कल अज्ञानांधकार इतना अधिक फैल गया है कि जैनसमाज में धर्म के प्रति उदासीनता बढ़ती नजर आ रही है। धर्मोद्योत करने के लिए अज्ञान को दूर करने और ज्ञान का प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। ज्ञान की ज्योति जहां प्रकट होगी, वहां अज्ञान, अश्रद्धा पल भर न टिक सकेंगे। पर प्रश्न तो यह है कि सूत्रस्थविर के बिना ज्ञान की ज्योति जगावे कौन?

सूत्रस्थविर ज्ञानज्योतिर्धर है, ठाणांग और समवायांग सूत्रों का विशिष्ट ज्ञाता ही सूत्रस्थविर कहला सकता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार क्षण भर भी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार ज्ञानसूर्य का उदय होने पर अज्ञान और अश्रद्धा का आंतरिक तम क्षण भर में विलीन हो जाता है।

10

पर्यायस्थविर–संयमस्थविर

(परियाय–थेरा)

ज्ञानस्य फलं विरतिः।

सूत्रज्ञान जब आचार में उतरता है तब जीवन में संयम प्रकट होता है और बीस वर्ष पर्यन्त शास्त्र की मर्यादा के अनुसार संयम की साधना करने के पश्चात्, जो व्यक्ति संयमात्मा बनता है–अर्थात् जो अपने शरीर, मन और बुद्धि को ज्ञानपूर्वक आत्मा के वशीभूत बना लेता है, जितेन्द्रिय बन जाता है, वह महात्मा पुरुष संयमस्थविर कहलाता है।

संयमस्थविर के बनने के लिए कितने ही वर्षों तक संतत ज्ञानोपासना के साथ आत्मदमन की विद्या सीखनी पड़ती है। साधक पुरुष जब वर्षों के वर्ष ज्ञान की उपासना में व्यतीत करता है तब उसे ज्ञानसिद्धि प्राप्त होती है और वह साधक स्वयं सशरीर शास्त्र रूप (ज्ञानमूर्ति) बन जाता है तो इसमें क्या आश्चर्य है? मगर अकेली ज्ञानसिद्धि से ही तो जीवनसिद्धि हो नहीं जाती। जीवनसिद्धि के लिए ज्ञानसिद्धि के साथ–साथ संयमसिद्धि की भी आवश्यकता रहती है और संयम की सिद्धि के लिए साधक पुरुष को शास्त्रोक्त यम नियमों को जीवन में मूर्त्तिमान् बनाना पड़ता है। इस प्रकार जब ज्ञान और संयम का, विचार एवं आचार का मेल होता है तब जीवन–शुद्धि का सौरभ चहुं ओर से फैले और अनेक पुण्यात्माओं का जीवन संयम–सौरभ से सुवासित हो यह स्वाभाविक ही है। पर ज्ञान और संयम का या विचार और आचार का मेल करना हंसी–खेल नहीं है। संयमस्थविर बनना साधारण जन के लिए तो क्या, सब मुनियों के लिए भी कठिन है।

'संयम नो मारग छे शूरां नो' यह गुजराती भाषा को धर्मोक्ति संयम मार्ग के पालन की कठिनाई की चेतावनी देती है। संयम का मार्ग कायर पुरुषों का नहीं है। जो व्यक्ति दुश्वार संयमधर्म को जीवन में स्थान देते हैं और

ज्ञान–चारित्र का समन्वय करते हैं, वे अपने आपको सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनाते हैं।

पहले जिन दस धर्मों का विवेचन किया गया है उन सब का पर्यवसान संयमधर्म में होता है। संयम धर्म साध्य है, शेष धर्म साधन हैं। संयमधर्म सब धर्मों का सार है। जो पुरुष संयमधर्म को, धर्मों का सार समझकर अपने जीवन में उतारेंगे वे धर्म का अमृत पान करेंगे और अजर–अमर बनेंगे।

धम्मो मंगलं, धम्मो शरणं।

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

– एक परिचय –

स्थानकवासी जैन परम्परा में आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. एक महान् क्रांतिकारी संत हुए हैं। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी, संवत् 2000 को भीनासर में सेठ हमीरमलजी बांठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला में उन्होंने संथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध संघ की एक श्रद्धांजलि सभा आयोजित की गई, जिसमें उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया ने उनकी स्मृति में भीनासर में ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदनन्तर दिनांक 29.4.1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप में इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा, ज्ञान एवं सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए संस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए हैं। आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. के व्याख्यानों के संकलित, सम्पादित ग्रंथों को 'श्री जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान में इसकी 32 किरणों का प्रकाशन संस्था द्वारा किया जा रहा है। इनमें गुंफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुंचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य है। आज गौरवान्वित है गंगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि, जिसे दादागुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला और ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुंच सकी।

संस्था द्वारा एक पुस्तकालय का संचालन किया जाता है जिसमें लगभग 5000 पुस्तकें एवं लगभग 400 हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इसी से सम्बद्ध वाचनालय में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक–कुल 30 पत्र–पत्रिकाएं उपलब्ध करवाई जाती हैं। प्रतिदिन करीब 50–60 पाठक इनसे लाभान्वित होते हैं। ज्ञान–प्रसार के क्षेत्र में पुस्तकालय–वाचनालय की सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और क्षेत्र में अद्वितीय है।

महिलाओं को स्वावलम्बी बनाने हेतु संस्था द्वारा सिलाई, बुनाई, कढाई–प्रशिक्षण–केन्द्र का संचालन किया जाता है, जिसमें योग्य अध्यापिकाओं द्वारा महिलाओं व छात्राओं को सिलाई, बुनाई, कढ़ाई व पेन्टिंग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यों में योगदान दे सकती हैं और आवश्यकता पड़ने पर इस कार्य के सहारे जीवन में स्वावलम्बी भी बन सकती हैं।

संस्था के संस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति में एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमें उच्च कोटि के विद्वानों को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयों पर प्रवचन आयोजित किए जाते हैं।

उपरोक्त के अलावा प्रदीपकुमारजी रामपुरिया–स्मृति–पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एवं वाणिज्य संकाय में बीकानेर विश्वविद्यालय में प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है एवं स्नातकोत्तर शिक्षा में बीकानेर विश्वविद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप में प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे, मीठे जल की प्याऊ का संचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यों से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर है।